श्रीआत्मतिलक ग्रंथ सोसायटीकी पुस्तकें.

" गृहस्थजीवन "

यह पुस्तक मनुष्यको गृहस्थजीवनमें किस तरह जीना चाहिये इस बातका सच्चा उपदेश करती है। सचमुच ही यह ग्रन्थ सामाजिक जीवन जीनेकी अद्वितीय कूची है। माता पिताओं द्वारा बच्चोंका जीवन निर्माण किस प्रकार किया जाना चाहिये. गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये उनमें किस प्रकारकी योग्यता आनी चाहिये और योग्यता आयेबाद उनके जीवनका साथी किस तरहका होना चाहिये इत्यादि महत्वपूर्ण विषयों पर पहले ही प्रकरणमें बडी योग्य रीतिसे विवेचन किया गया है। अन्य प्रकरणोंमें मनुष्य कुसंगतिके कारण अपने जीवनमें पडी हुई खराब आदतोंको किस रीतिसे निकाल कर अच्छी आदतों द्वारा अपनी जिन्दगी सुखी बना सकता है, तथा स्त्रीसंस्कार, सासु और बहूके बीचमें किस तरह सुशान्ति रह सकती है इसके उपाय, विधवाओंकी सोचनीय दशा, और मानव जीवनको दिव्यजीवन बनाने वाला चारित्रबल इत्यादि कीमती विषयों पर इस ग्रन्थमें बडी मार्मिकतासे सयुक्तिक विवेचन किया गया है। यदि सच पूछो तो स्त्री पुरुषोंको अपना कौटुम्बिक जीवन सुधारनेके लिये सच्चे शुभचिन्तक सलाहकारके समान आजतक ऐसी पुस्तक हिन्दीभाषामें हमारे देखनेमें ही नहीं आई। आदर्श गृहस्थजीवन बितानेकी इच्छा रखनेवाले हरएक स्त्री पुरुषको यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये। छपाई काम कीमती होने पर भी मूल्य मात्र १).

" जैन साहित्यमां विकार थवाथी थयेली हानि "

यह सुप्रसिद्ध पंडित बेचरदास जीवराज लिखित वही पुस्तक है कि चार वर्ष पहिले जिसके कारण पुराणप्रिय जैन समाजमें खलबली मच गई थी। इस ग्रंथमें लेखकने इतिहासकी दृष्टिसे और सूत्रसिद्धान्तके प्रमाणोंसे महावीर प्रभुके बाद जैन समाजके आचार विचारोंमें, जैन साहित्यमें आज पर्यन्त जिस जिस समय जिस प्रकारका विकार—परिवर्तन हुआ है और उससे जो जैन समाज मार्गच्युत होकर अशास्त्रीय रूढियोंके सांचेमें डल कर अवनतिको प्राप्त हुआ इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण विषय प्रौढ गुजराती भाषामें लिखे हैं। विचारशील नवयुवकों को यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये. मूल्य—मात्र १)

" स्नेहपूर्णा "

यह एक हिन्दी भाषाका सामाजिक उपन्यास है, इसके पढनेसे यह अनुभव ज्ञान होता है कि कुसंस्कारोंसे घरमें किस प्रकार अशान्ति और सुसंस्कारोंसे सारे कुटुम्बमें सुशान्ति तथा सुखकी भावना निवास करती है।

लगभग सवा दोसो पृष्ठकी दलदार इस पुस्तककी सरस सुन्दर सफाईदार छपाई और पक्की जिल्द होने पर भी मूल्य मात्र ॥). जल्दी मंगवा लीजिये इसकी भी हमारे पास अब बहुत ही कम प्रतियां रही हैं ।

" रत्नेन्दु "

यह एक बडा ही अनोखा अपूर्व उपन्यास है । इसके पढनेसे संसारके वैभवोंकी असारता मालूम होकर वैराग्यकी प्राप्ति होती है । इसमें एक महापुषका पवित्र जीवन लिखा गया है । मूल्य फक्त ।)

बाकी की पुस्तकोंका नाम हम नीचे लिखे देते हैं, पाठको को पुस्तकोंके नामसे ही उनका विषय मालूम हो जायगा ।

संयम साम्राज्य, (गुजराती और हिन्दी उपदेश पूर्ण) ...	०–५–०
महावीर शासन	०–६–०
साधु शिक्षा, साधु सध्वियों को टपाल खर्च दो आनेकी टिकट भेजने पर भेट)	०–८–०
सीमंधरस्वामीने खुल्ला पत्रो	०–४–०
उच्चजीवनके सात सोपान	०–२–०
शिशु शिक्षा	०–२–०
चारित्रमंदिर	०–२–०
जैनधर्म	०–४–०
आरामनंदन	०–२–०
यशोभद्र	०–२–०
हिन्दीका संदेश	०–१–०
जातीय शिक्षा	०–१–०
राष्ट्रीयगीतावलि	०–२–०

पूर्वोक्त तमाम पुस्तकें एक साथ मंगवानेवाले महाशयको पोष्ट खर्च माफ किया जायगा ॥

मिलनेका पत्ता—शाह चीमनलाल लक्ष्मीचंद
९५ रविवार पेठ पुणे शहर,

पोपटलाल रामचंद शाह,
खादी भंडार बुधवार चोक, पुणे सीटी.

तथाः–हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग गिरगांव, बम्बई.

प्राक्कथन

मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि जो महाशय जैन दर्शन सम्बन्धी अनभिज्ञतवाके कारण उस पर आक्रमण करनेके लिये उत्सुक हो जाते हैं उन्हें इस दार्शनिक ग्रन्थके पढनेसे विशेष लाभ होगा। मूल ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ताकी उत्तम योग्यताके विषयमें उपोद्घातमें विनीत श्रीयुत लक्ष्मण रघुनाथ भिडेजीने अच्छी तरह उल्लेख किया है अतः उस विषयमें मुझे कुछ लिखनेकीआ आवश्यकता नहीं रही।

इस ग्रन्थका हिन्दि अनुवाद मैंने पंडित श्रीयुत बेचरदासजी जीवराजकृत गौर्जर भाषान्तर परसे पंडित श्रीयुत सुखलालजीकी प्रेरणासे किया है। अतः जिनकी प्रेरणासे यह कार्य निर्विघ्नतया परिपूर्ण हुआ है उन्हें मैं अन्तःकरणपूर्वक धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता।

इस ग्रन्थकी सवासो सवासो प्रतियां छपानेकी आर्थिक सहायता कालंद्री निवासी श्रीयुत हीराचंदजी रघुनाथमलजी बाफणा परमार तथा श्रीयुत मूलचंदजी वेलाजीकी तरफसे एवं ढाईसो प्रतियां छपानेकी सहाय कोल्हापुर निवासी श्रीयुत शेठ चेलाजी वनाजी की ओरसे मिली है, अतः इस शुभ कार्यमें द्रव्य खर्चनेके कारण उन महानुभावोंको भी धन्यवाद दिया जाता है

विनीत तिलक विजय.

मुनि श्री· तिलक विजयजी (पंजाबी)

"सहायकका संक्षिप्त जीवनचरित"

इस ग्रंथकी छपाईमें कलन्द्रीवाले श्रीयुत शेट फूलचन्दजी संघवी की ओरसे आर्थिक सहायता मिली है, अतः आपके द्वारा हुये सत्कृत्योंका संक्षिप्त उल्लेख करना यहाँपर अनुचित न गिना जायगा।

श्रीमान् शेट फूलचन्दजी संघवीका जन्म संवत् १९२१ में राजपूताना सिरोही स्टेट कालन्द्री गांवमें ओसवाल कुलमें हुवा था। आपके पिता उमाजी एक साधारण स्थितिके गृहस्थ थे। यद्यपि आप विलकुल साधारण परिस्थितिमें जन्मे थे तथापि आपने अपने उद्योगी स्वभावके अनुसार व्यापार द्वारा लाखो रुपया कमाकर अपनी पूर्व परिस्थितिको सर्वथा वदल दिया। जव आपने अपनी आर्थिक स्थिति सुधारनेके लिये स्वस्थान छोड़ कर परदेश गमन किया तव आपकी मात्र चौदह वर्षकी उमर थी, प्रथम वेलगांव जिलेमें आपने एक साधारण नौकरी की थी। वस वह साधारण नौकरी ही आपकी उन्नतिकी नींव थी। नौकरीसे चढ़ते चढ़ते कुच्छ दिनोंके वाद आपने व्यापारमें हाथ डाला। पूर्व पुण्यके योगसे लक्ष्मीका पदार्पण होने लगा। आपका वचपनसे ही धर्मपर प्रेम होनेके कारण आप अन्य कितने एक धनाढ्य मारवाडी भाइयोंके समान जीनव पर्यन्त धन वटोरमें ही न लगे रह कर उसका सदुपयोग भी करते रहे।

मनुष्यके पास दो प्रकारकी धनसंपत्ति होती है। एक तो दौलत—दोलत और दूसरी लक्ष्मी। दौलत पापानुबन्धी पुण्यसे प्राप्त होती है और वह आत्मकल्याणके सत्कार्योंमें या परोपकारमें न लगकर मात्र पिंड पोषण एवं असत्कृत्योंमें ही उसका व्यय होता है; और अन्तमें उसकी दो लातोंसे मनुष्यको दुःखानुभव ही करना पड़ता है। लक्ष्मी पुण्यानुवन्धी पुण्यके प्रतापसे प्राप्त होती है और उसका उपयोग भी सत्कृत्यमें ही होता है; एवं अन्तमें

+

उससे इस लोकमें यश, कीर्ति और परलोकमें सुखशान्ति प्राप्त होती है; पुण्यानुवन्धी पुण्यसे प्राप्त होनेके कारण आपकी लक्ष्मीका सत्कृत्योंमें अच्छा उपयोग हुआ।

आपने उन्नीसौ छपन्नके दुष्कालमें दुष्काल पीड़ित मारवाड़ी भाइयोंकी खूब ही सेवा की। आपकी दो शादी हुई थीं जिसमें दूसरी धर्मपत्नीसे आपको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई तीन सालकी उमरवाले अपने पुत्रके बराबर आपने श्री केशरीयाजीमें उन्नीस रतल केशर चढ़ाया और १००० रु. भंडारमें डाला। सम्वत् १८४६ में आपने उजमना कराया था जिसमें अपने पिताका टाणा और परातोंकी लाणी मिलाकर कुल खर्च सात हजार किया था। सम्वत् १८६३ स्वामी वात्सल्य किया। सम्वत् १८१२ तीर्थ सम्मेदशिखरमें नवकारसी की जिसमें ८०० रु. खर्च किये।

चारणेश्वरजीमें आपने सार्वजनिक धर्मशाला बनवाई और उसमें सर्वसाधारण जनताके उपयोगमें आनेके लिये एक हजार थाली वगैरह बरतन भी समर्पण किये।

संवत् १८८० में आपने उपधान कराया था जिसमें ३८१ स्त्री पुरुषोंने लाभ लिया था और उसमें आपने उदारतापूर्वक १६ हजारकी रकम खर्च की थी,। संघ निकालनेके प्रसंग पर सादड़ी गांवमें जो बहुत वर्षोंसे संघमें सात तड पड़े हुये थे उन सबको मिलाकर आपने वहां नवकारसी की। १९५९ में आपने कालन्द्रीके मन्दीरमें चार देरियाँ बंधवाई, जिसमें ग्यारहसौ रुपये खर्च किये। कालन्द्रीके मन्दिरमें चांदिका रथ बनवा कर समर्पण किया उसमें आपकी गोकाककी कंपनीकी तरफसे तीन हजार रुपये खर्च किये। आपने मारवाड़ देशमें करीब एक लाख रुपया सत्कार्योंमें खर्च किया। १९६२ में आप यात्रार्थ सिद्ध क्षेत्र, पालिताणा पधारे थे वहाँ पर आपने नवकारसीमें पांच हजारकी रकम खर्च की। १९६४ में आपने बड़ी धामधूमसे श्रीकेशरियाजीका संघ निकाला जिसमें उदारता पूर्वक लगभग ३८ हजार रुपये खर्च किये।

अन्तमें आप अपने हाथसे कमाई हुई लक्ष्मीका सत्कार्योंमें सदुपयोग करते हुये १९६७ में भाद्रव कृष्ण चतुर्थीके रोज

अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर स्वर्ग सिधारे। स्वर्गवासके समय भी आपने अपने स्वर्गवास निमित्त छह हजार रुपये धर्मकृत्यमें खर्चने की अपने विनीत पुत्र हीराचंदजीको आज्ञा दी। जो कि वैसा ही किया गया।

आपके बाद आपके सुपुत्र शेठ हीराचन्दजीने भी आपके समान ही उदारताबुद्धि धारण करके हजारों रुपया धर्मकार्योंमें खर्च किया है और करते हैं। हम भी अन्तमें यही आशा रखते हैं कि, आपके सुपुत्र शेठ हीराचन्दजी भी आपके ही समान अपनी लक्ष्मीका सदुपयोग करते रहें.

भवदीय–अभयार्थी।

उपोद्घात.

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

मैंने श्री हरिभद्रसूरिरचित षड्दर्शनसमुच्चय संस्कृतमें पढ़ा है लेकिन श्रीगुणरत्नसूरि की टीका का मूलभाग मेरे देखनेमें नहीं आया। टीकाके वारे में जो कुछ पढ़ा है सो पूज्य मुनि श्री तिलक-विजयजीका हिन्दी भाषान्तर ही पढ़ा है और प्रूफ सुधारते समय उसका पारायण भी हुआ है। इतने ही से श्रीहरिभद्रसूरि-रचित 'जैनदर्शन' की श्री गुणरत्नसूरिकृत टीका पर कुछ लिखने की योग्यता नहीं आ सकती। इसके सिवाय उस टीकाके इस हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना लिखना एक तरहका धाष्टर्य और अविनय भी है। क्यों कि पूज्य श्रीतिलकविजयजी महाराजके साथ मेरा नाता गुरुशिष्यका है। जब मुझे जैनधर्मके बारेमें कुछ भी मालूम नहीं था तब प्रथम आपसे ही अप्रत्यक्षरूपसे मुझे जैनधर्मका श्रद्धान हुआ। जब मैं निपाणी (बेलगाम) की राष्ट्रीय-पाठशालामें १९२२ में अध्यापक था तब सुभाग्यवशात् आपका दर्शन हुआ और आपही मुझे जैनधर्म के प्रतीकरूप मालूम पड़े। प्रतीक प्रत्यक्षरूपसे कुछ देता लेता नहीं है बल्कि प्रतिमा-राधनासेभी ऐसे बहुत लाभ होते हैं कि जो दूसरे किसी साधन-के द्वारा नहीं मिल सकते। द्रोणाचार्य और एकलव्यकी कथा तो सुप्रसिद्ध ही है। मेरे बारेमेंभी वैसा ही हुआ। फर्क इतना ही है कि द्रोणाचार्य की अनुदारताके कारण एकलव्यको अप्रत्यक्ष-तया विद्या सीखनी पड़ी थी लेकिन मुझे तो मेरे संकोच (shyness) के कारण ही वैसा करना पड़ा। पूज्य श्री तिलकविजयजी महा-राज की उदारता और समभाव प्रसिद्ध भी है और उसका लाभही मुझे होता था। तथापि प्रत्यक्षरूपमें आपसे धर्मकी संथा लेना नहीं बना। प्रसङ्गवशात् मैंने कुछ जैनग्रन्थोंका अध्ययन किया और कुछ दिगम्बर मुनिओंका दर्शनलाभ होनेसे मेरे अन्तःकरण पर जैन-धर्मका रहस्य जम गया। दिन प्रति दिन जैनधर्मके प्रति मेरी श्रद्धा

बढ़ती जायगी और अध्ययन भी विस्तृत होता जायगा एवं दूसरे जैन महानुभावोंके परिचयसे मेरा अनुभव भी बढ़ता जायगा. परन्तु आपके ही कारण मुझे प्रथम सम्यक्त्व लाभ होनेसे मेरे आप ही आद्यगुरु हैं। दुनियामें बहुतसे विद्वान् होनेपर भी शिष्यको अपना गुरु ही सर्व श्रेष्ठ होता है। इस लिये आपही मुझे जैन-धर्मके प्रतीकरूप हैं और अन्ततक वैसेही रहेंगे। मतलब यह कि गुरुजीके ग्रन्थकी प्रस्तावना लिखना शिष्यके लिये अविनय ही है। पूज्य मुनि महाराजने मुझे प्रस्तावना लिखनेको कहा उसमें उनकी निर्गर्वता, उदारता, सम-भाव और मनःशुद्धि प्रतीत होती है। मैंने भी प्रस्तावनाके बदले उपोद्घात लिखना मञ्जूर किया और इसी लिये किया कि पूज्य मुनिश्रीने समझाया कि यह काम धर्मप्रभावनाका है इसमें छोटे बड़ेका सवाल नहीं। यह दलील सुनते ही मैंने उपोद्घात लिखना मञ्जूर किया। सिरोभागमें दिए हुए श्लोकके द्वारा सद्गुरुको वन्दन करके अब कुछ उपोद्घातके बारेमें लिखता हूँ।

पूज्य मुनि श्रीतिलक विजयजीके अनुवादके सम्बन्ध में अभिप्राय देनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है 'आत्मतिलक ग्रन्थसोसायटी' और 'हिन्दी साहित्य ग्रन्थमाला' के द्वारा हिन्दी जगत आपसे सुपरिचित है। हिन्दी पाठकोंके सामने आप आजतक अच्छेमें अच्छा वाङ्मय रखते आये हैं और अच्छे रूपमें। ग्रन्थकी भाषा और बाह्य स्वरूप शुद्ध तथा मनोहारी बनानेमें आप कोई भी कष्ट उठाना बाकी नहीं रखते। ग्रन्थोंके विषयके सम्बन्धमें भी आपने परिस्थिति पर ध्यान दे कर रूढियोंको तोड़ डालनेमें धैर्य बताया। आपका लिखा हुआ 'गृहस्थ जीवन' बड़ा मनोरञ्जक है और सप्रमाण उदाहरणोंसे परिपूर्ण होनेके कारण वह सामाजिक स्थिति सुधारने में बड़ा उपयोगी निकला है। 'जैनदर्शन' ने तो आपकी कीर्तिमें और भी वृद्धि की है। हिन्दी भाषामें न्याय-ग्रन्थोंकी त्रुटि है और इस ग्रन्थसे वह कुछ पूर्णसी हुई है। इस ग्रन्थका प्रकाशनकार्य तो प्रत्यक्ष मैंने देखाही है। कागज पसन्द करना, टाइप चुन कर लेना अनुवादमें योग्य शब्दोंकी योजना

करना, प्रूफ सुधारना आदि सभी कार्योंमें आप स्वयं दिलचस्पी लेते हैं और इसीसे ग्रन्थ अच्छे निकलते हैं। अस्तु,

अब मैं पाठकोंका ग्रन्थकर्ताकी ओर ध्यान खींचता हूँ। 'षड्-दर्शन समुच्चय' ग्रन्थ श्रीहरिभद्रसूरिजीका लिखा हुवा है यह बात उनके पीछे होनेवाले ग्रन्थकारोंके उल्लेख सिवाय खास ग्रन्थ परसे कुछ प्रमाणित नहीं होती। हरिभद्रनामके आचार्य भी चार हुए हैं। पाटणके सिद्धराजके कालमें जो दो हरिभद्रसूरि हुए हैं उनमेंसे एक श्री उमास्वातिकृत 'प्रशमरति' का विवरण करनेवाले हैं और दूसरे 'कलिकाल गौतम' हरिभद्रसूरि। सिद्धराजका काल ११८५ सम्वत् है। तीसरे हरिभद्रसूरि १२९३ सम्वत् में हुए हैं। उन्होंनें जयवल्लभकृत 'वज्जालय' की छाया लिखी है। हमारे ग्रन्थकर्ता हरिभद्रसूरि इन तीनोंसे पुराने जमानेके हैं। इस बारेमें गुजरात पुरातत्वमंदिरके आचार्य मुनिश्री जिनविजयजी महाराज लिखते हैं "यह अन्तिम निर्णय हो जाता है कि महान तत्वज्ञ आचार्य हरिभद्रसूरि और 'कुवलयमाला' कथाके कर्ता उद्योतन-सूरि उर्फ दाक्षिण्यचिन्ह दोनों (कुछ समय तक तो अवश्य ही) समकालीन थे। इतनी विशाल ग्रन्थराशि लिखनेवाले महापुरुष-की कमसे कम ६०-७० वर्ष जितनी आयु तो अवश्य होगी। इस कारणसे लगभग इस्वीकी आठवीं शताब्दिके प्रथम दशकमें हरिभद्रका जन्म और अष्टम दशकमें मृत्यु मान लिया जाय तो वह कोई असंगत नहीं मालूम देता। इसलिये हम इ. सन् ७०० से ७७० (वि. सं. ७५७ से ८२७) तक हरिद्रसूरिका सत्तासमय स्थिर करते हैं।" (देखो 'जैनसाहित्यसंशोधक' का प्रथम अङ्क 'हरिभद्रसूरिका समयनिर्णय.') हरिभद्रसूरि महाज्ञानी ब्राम्हण थे। याकिनी महत्तरा नामकी एक जैन साध्वी उपाश्रयमें कोई श्लोक पढ़ती थी जिसका अर्थ हरिभद्रजीको बिलकुल मालूम नहीं पड़ा। साध्वीके कहने मुजब वे जिनदत्तजी महाराजके पास गये और अर्थ सुनकर सन्तुष्ट हुए। उन्ही आचार्यके पास उन्होंने जैनदीक्षा अंगीकार की। हरिभद्रसूरिने चौदहसौ चवालीस ग्रन्थ लिखे हैं ऐसा उल्लेख उनके बाद हुए ग्रन्थकारोंने अपने ग्रन्थोंमें

किया है। हरिभद्रसूरिके कालमें बौद्धोंका बहुत ही प्रावल्य था। हरिभद्रसूरिके भानजे और शिष्य हंसजीका खून बौद्धोंने अपने विहारमें किया। इससे हरिभद्रसूरिजी इतने व्यथित हुए कि इस खूनके बाद अपने ग्रन्थोंमें अपना नाम 'विरह' नामसे ही सूचित करते रहे। इसके पहिले वे 'याकिनी महत्तरासूनु' नामसे अपने ग्रन्थ अङ्कित करते थे। हरिभद्रसूरि बहुत ही सहिष्णु थे। प्रतिवादियोंका उल्लेख करते समय भी वे बहुत ही आदरवाले शब्दोंका उपयोग करते हैं। उनका मत उनके कथनानुसार ही लिखते हैं न कि विकृत स्वरूपमें, जैसे कि आद्य शंकराचार्य जैसे वेदानुयायियोंने भी किया है। हरिभद्रसूरिजी की सहिष्णुताके बारेमें पूज्यश्री जिनविजयजी लिखते हैं "भिन्न भिन्न मतोंके सिद्धान्तों की विवेचना करते समय, अपने विरोधी मतवाले विचारकों का भी गौरवपूर्वक नामोल्लेख करनेवाले और समभावपूर्वक मृदु और मधुर शब्दों द्वारा विचार मीमांसा करनेवाले ऐसे जो कोई विद्वान भारतीय साहित्यके इतिहासमें उल्लेख किये जाने योग्य हों तो उनमें हरिभद्रका नाम सबसे पहिले लिखने योग्य है।" (देखो जैन साहित्यसंशोधक अंक १ पृष्ठ २१)

अस्तु। श्रीमद् हरिभद्रसूरिजीके बारेमें जितना लिखा जाय उतना थोड़ा ही है। लेकिन इस प्रस्तावनामें ज्यादह लिखना मुस्किल है। जिन वाचकोंको विशेष जिज्ञासा हो वे इस पुस्तकके मूल गुजराती ग्रन्थमेंसे पंडित श्रीयुत बेचरदासजीकी प्रस्तावना देख लें। अब हम कुछ टीकाकारके बारेमें लिखते हैं।

'षड्दर्शन समुच्चय' पर चार टीकाएँ हैं। एक श्रीमणिभद्र-सूरि की लघुटीका और दूसरी गुणरत्नसूरिकी बृहट्टीका। आज ए दोनों टीकाएँ उपलब्ध हैं। तीसरी टीका श्रीविद्यातिलकसूरि उर्फ सोमतिलकसूरि की है और चौथी टीकाके कर्ताका नाम अज्ञात है। जिस टीकाका अनुवाद इस पुस्तकमें किया हुआ है वह गुणरत्नसूरिकी है। यह टीकाकार वि· सम्वत् पंद्रहवीं शताब्दि में हुये हैं। उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं और पुराने ग्रन्थों पर उससे भी बढ़ीबढ़ी टीकाएँ लिखी हैं। गुणरत्नसूरिने

सब मिलाकर लगभग तेरह ग्रन्थ लिखे हैं जो आज मौजूद हैं।

बृहट्टीकामें छह अधिकारों द्वारा छह दर्शनोंका स्पष्टीकरण किया गया है। प्रत्येक अधिकारके अन्तमें गुणरत्नसूरिने अपने और अपने गुरुके नाम सिवाय और कुछ विशेष नहीं लिखा। उन छह अधिकारोंमेंसे इस ग्रन्थमें मात्र जैनदर्शनका अनुवाद किया गया है।

इस ग्रन्थमें जैनदर्शनके सिद्धान्तोंका मण्डन सम्पूर्णतया और सम्यक् रीतिसे किया हुआ है। प्रारम्भमें श्वेताम्बर और दिगम्बर मुनियोंके वेष और आचारके सम्बन्धमें कुछ लिखा है, वल्कि वह काफी नहीं कहा जा सकता। बाद देवके बारेमें जो वर्णन किया है वह स्पष्ट और पूर्ण है। इस भागमें अवतारकी मान्यताका खण्डन भी अच्छी तरहसे किया गया है। कर्तृवादी और अकर्तृवादी इन दोनोंके प्रश्नोत्तर रूपमें 'ईश्वरवाद' का जो विवेचन साधक वाधक दलीलोंके द्वारा किया हुआ है वह शायद ही कहीं देखनेमें आयगा। सर्वज्ञवाद और कवलाहार वाद जैन और जैमिनी तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनोंमें होनेसे उन मतवालों को मात्र इस वर्णनमें रस आवेगा। आत्मवाद नामके प्रकरणमें षड्दर्शनकारोंके मतके अनुसार आत्मतत्त्वका अस्तित्व सिद्ध किया गया है। वैसे ही पुद्गलादि पञ्चास्तिकायोंका वर्णन भी उत्तम शैलीमें किया हुआ है। पृथ्वी काय, अप् काय, तेज काय और वायुकाय तथा वनस्पतिमें जीवका अस्तित्व इस बातका विवेचन इतना सुगम और सप्रमाण किया हुआ है कि मानो इस सुधारके युगमें किसी सायन्सवेत्ताने ही वह बिलकुल आधुनिक शैलीसे लिखा है। आगे पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वोंका विवेचन भी षड्दर्शनकारोंके मतके अनुसार किया गया है। बाद स्त्रीमोक्षवादकी चर्चा की है। आगे जो प्रमाणवादका वर्णन है यद्यपि वह सामान्य वाचकोंके लिये बड़ा क्लिष्ट है, तथापि न्यायके अभ्यासियोंके लिये वह अवश्य ही पढ़ने योग्य है। सभी दर्शनकारोंको अनेकान्तवादका सहारा लेना पड़ता है यह बात

इस प्रमाणमें भली प्रकार दिखला दी गई है। स्याद्वादको टीकाकारने 'परहेतुतमोभास्कर' नामसे पुकारा है। ग्रन्थका यही अन्तिम विषय है। इस ग्रन्थकी विषयविवेचनशैली कैसी उमदा है यह बात समग्र ग्रन्थ पढ़नेसे पाठकोंको स्वयं मालूम होगी।

अन्तमें शिरोभागमें दिये हुए श्लोकके द्वारा सम्यक्त्व प्राप्ति करा देनेमें कारण हुए सद्गुरुको वन्दन करके और जिन शासनमें विद्वानोंका अनुराग हो यह सदिच्छा प्रगट करके मैं यह उपोद्धात पूर्ण करता हूँ।

शुक्रवार ता. १० जून १९२७
जेष्ठ शु. १० वीर सम्वत् २४५३

लक्ष्मण रघुनाथ भिडे.
शनवार २९७ पूना सिटी.

जैन दर्शन

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर मुनियोंका वेष और आचार—जैन दर्शनको माननेवाले दो सम्प्रदाय हैं. । जिसमें एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर है । श्वेताम्बर मुनिओंका वेष और आचार इस प्रकार है । श्वेताम्बर मुनि अपने पास सदैव रजोहरण और मुख-पट्टी रखते हैं । केशापनयनके लिये हजामत न कराकर वे अपने आप या दूसरे मुनिके हाथसे मूछ दाढ़ी तथा मस्तकके केश उखेड़ डालते हैं, यह उनका मुख्य लक्षण है । वे कटिमें-(कमरमें) चोलपट्टक नामक वस्त्र पहनते हैं और शरीर आच्छादन करने के लिये एक चद्दर रखते हैं। मस्तक पर किसी प्रकारका वस्त्र नहीं रखते । इस प्रकारका उनका वेष होता है ।

मार्ग चलते या उठते बैठते किसी भी जीवको किसी प्रकारका दुःख न हो इस बातका वे सदैव ध्यान रखते हैं। वे मार्ग चलते समय एक जुये प्रमाण (चार हाथ प्रमाण) मार्गमें आगे दृष्टि रखकर चलते हैं । बोलते समय, आहार पानी ग्रहण करने में, उपयोगी वस्तुओंके लेने और रखनेमें तथा शौच वगैरह जानेमें किसी स्थूल या सूक्ष्म जीवको किसी प्रकारकी जरा भी तकलीफ न पहुंचे इस बातके लिये वे बड़े ही सावधान रहते हैं । वे मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक वृत्तियों, प्रवृत्तियों पर सदैव संयम रखते हैं । शरीरसे हिंसा करते नहीं कराते नहीं और न ही करनेवालेको अनुमति देते ।

वे सब जगह हमेशह ही सत्य वचन बोलते हैं । आवश्यकता पड़ने पर भी वे कभी किसीकी कुछ वस्तु मालिकके दिये विना ग्रहण नहीं करते । जीवन पर्यंत मन वचन और शरीरसे नित्य ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । किसी प्रकारकी धर्म सामग्रीमें भी

मुर्छा-ममत्व बुद्धि नहीं रखते ये उनके पाँच याम या महाव्रत हैं।

वे क्रोध, मान, माया-कपट वृत्ति और लोभका परित्याग करनेमें हमेशाह दत्तचित्त रहते हैं। इन्द्रियोंको दमन करते हैं। पासमें कुछ भी द्रव्य नहीं रखते। भ्रमरके समान भ्रमण कर घरोंमेंसे दोष रहित आहार माँग लाते हैं और (जिस स्थानपर ठहरे हों वहाँ पर भोजन करते हैं) शुद्ध संयम पल सके सिर्फ इसी एक उच्च आशयसे वे आवश्यकतानुसार आहार ग्रहण करते हैं। तथा इसी हेतुसे वस्त्र और पात्र ग्रहण करते हैं।

जब उन्हें कोई मनुष्य नमस्कार करता है तब वे आर्शीवादके रूपमें 'धर्मलाभ' शब्द बोलते हैं। इस प्रकारका श्वेताम्बर मुनियोंका वेष और आचार है।

दिगम्बर सम्प्रदायके चार प्रकार हैं; काष्ठासंघ, मूलसंघ, माथुरसंघ तथा गोप्यसंघ। ये चारों ही दिगम्बर याने नग्न रहते हैं। दिगम्बर मुनि खाने पीनेके लिये पात्र भी नहीं रखते। अर्थात् करपात्रपन ही उनका मुख्य चिन्ह है। इन चारोंमें जो भिन्नत्व है सो इस प्रकार है-काष्ठासंघमें रजोहरणके बदले चमरी गायके बालोंकी पीछी रक्खी जाती है। मूल और गोप्यसंघमें मयूर पुच्छकी पीछी रखते हैं और माथुरसंघमें किसी प्रकारकी पीछी नहीं रक्खी जाती। यह उनके अनेक वेष सम्बन्धी हकीकत है। वे चारों ही भिक्षा करते समय तथा आहार करते समय बत्तीस अन्तरायों और चौदह मलोंका परित्याग करते हैं। इनमेंसे प्रथमके तीन नमस्कार करने पर आर्शीवादके रूपमें धर्मवृद्धि, शब्द उच्चारण करते हैं और गोप्यसंघवाले मुनि श्वेताम्बर मुनिके समान धर्मलाभ, कहते हैं। प्रथमके तीनों ही स्त्री शरीर धारी आत्माओंकी मुक्ति नहीं मानते, केवल् ज्ञानधारी महर्षिओंको आहारकी आवश्यकता नहीं स्वीकारते और वस्त्रधारी मुनिकी मुक्तिका निषेध करते हैं। गोप्यसंघवाला समुदाय स्त्रीशरीरधारक आत्माकी मुक्ति स्वीकारता है। इस गोप्यसंघका दूसरा नाम यापनीय, भी है।

इस फेरफारके सिवा दिगम्बरोंका आचार, गुरुत्व और देवत्व

यह सब कुछ श्वेताम्बरोंके समान ही है । उनके शास्त्रों और तर्कग्रन्थोंमें अन्य कुछ भी विशेष भेद मालूम नहीं देता ।

देव.

जैन दर्शनमें देवका स्वरूप निम्न लिखे मुजब माना गया है, राग द्वेष रहित, महामोहको नाश करनेवाला, केवल ज्ञान और केवल दर्शनवाला, देव और दानवोंके इंद्रोंसे पूजित, सत्य प्रकाश करनेवाला और सर्व कर्मोको नष्ट करके परम पदको पाने वाला, इस प्रकारका जिनेन्द्र जैन दर्शनमें देव माना गया है ।

पूर्वोक्त प्रत्येक विशेषणका पृथक् अर्थ इस प्रकार है—

रागद्वेषरहित—राग याने लोभ और दम्भ, द्वेष याने क्रोध और अभिमान, इन दोनों दोषोंसे रहित । अर्थात् सर्वथा वीतराग ।

महामोहका नाश करनेवाला—महामोह याने मोहनीय कर्मके उदयसे पैदा होनेवाला जो आत्मविकार है कि जिसके द्वारा (तमाम धर्मोमें दूषणरूप) हिंसाको भी धर्मस्वरूप प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको सुशास्त्र मान कर उसमें कथन की हुई रीतिसे मुक्ति और शान्ति प्राप्त करनेका व्यामोह पैदा होता है उसे नष्ट करनेवाला । पूर्वोक्त राग द्वेष और मोह इस दूषण त्रयको जीतना संसारमें लोहेके चने चावने समान महा विषम और दुष्कर है । यह दूषणत्रय ही जीवात्माको संसारमें परिभ्रमण कराता है । इसी कारण शास्त्रमें इसे मुक्ति मार्गमें अर्गला-रुकावट करनेवाला कहा है । "परन्तु यदि ये तीनों दूषण विद्यमान ही न होते तो किसीको दुःख ही क्यों होता? सुखका इतना महत्व कैसे बढ़ता? और मुक्ति प्राप्त कौन न कर सकता?" जिनेन्द्र देवमें राग द्वेष तथा मोह इनमेंसे एक भी दूषण नहीं । क्योंकि रागका चिन्ह स्त्रीसंग है, द्वेषका चिन्ह शस्त्र है और मोहका लक्षण कुचरित्र तथा कुशास्त्रका विधान है । जिनेन्द्र देवमें इन पूर्वोक्त चिन्होंमेंसे एक भी चिन्ह देख नहीं पड़ता, अतः जिनेन्द्र देव ही राग द्वेष और मोह रहित हैं । इन विशेषणों द्वारा जिनेन्द्र देवका

अपायापगम (जीवात्मा को अनेक प्रकारके दुःखोंका पात्र बनानेवाले राग द्वेष और मोहका दूर होना) नामक अतिशय (प्रभाव विशेष) प्रगटतया देख पड़ता है और इससे वीतरागत्व भी जिनेन्द्रका ही सिद्ध होता है।

केवल ज्ञान और केवल दर्शनवाला—केवल याने अन्य किसी अपेक्षाको न रखनेवाला, अथवा संपूर्ण ज्ञेय पदार्थोंको एक समय मात्रमें जाननेवाले और दिखानेवाले ज्ञान दर्शन, इस प्रकारके केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन द्वारा जिनेन्द्र देव हथेली पर रक्खे हुये आमलक फलके समान द्रव्य पर्यायरूप सारे संसारकी स्थितिको जानते और देखते हैं। इस विशेषणमें जो ज्ञान पद प्रथम रक्खा गया है उसका कारण यह है कि छद्मस्थ मनुष्यको (अपूर्ण ज्ञानधारी या अप्राप्त केवल ज्ञान मनुष्यको) प्रथम दर्शन और पीछे ज्ञान पैदा होता है, परन्तु केवल ज्ञानीको प्रथम ज्ञान और फिर दर्शन होता है। इसी कारण यहाँ पर प्रथम ज्ञान और फिर दर्शन पद नियोजित किया गया है। संसारमें वस्तु-मात्रके दो स्वरूप होते हैं, एक तो विलकुल सामान्य और दूसरा विशेष। जिस बोधमें वस्तुका सामान्य ज्ञान गौणतया देख पड़े और विशेष समझ मुख्य तौरसे देख पड़े उसे ज्ञान कहते हैं और जिस बोधमें वस्तुकी विशेष समझ गौणतया देख पड़ती हो और सामान्य समझ मुख्यतया देख पड़ती हो उसे कहते हैं दर्शन।

इस दूसरे विशेषण द्वारा जिनेन्द्र देवका ज्ञानातिशय-ज्ञानका प्रभाव प्रगट किया गया है।

देव और दानवोंके इंद्रोंसे पूजित—जैन संप्रदायमें, सुर, या देव, शब्दसे ही सुर या असुर अथवा देव और दानव इन दोनोंका बोध हो सकता है तथापि लोकरूढ़ीका अनुसरण करके इस विशेषणमें इन दोनों शब्दोंका जुदा जुदा निर्देश किया गया है। क्योंकि देव और दानवको लोग जुदा जुदा गिनते हैं। जिनेन्द्रदेव देव और दानवों तथा उनके अधिपति-इन्द्रोंसे पूजित होनेके

कारण मनुष्य, तिर्यंच, खेचर और किन्नरोंके तो सुतराम् ही पूज्य हैं यह तो कहना ही न पड़ेगा। इस तीसरे विशेषणसे जिनेन्द्र देवका पूजातिशय सूचित किया गया है।

सत्य तत्त्वका प्रकाश करनेवाला—जीव, अजीव आदि तत्वों-का जिस प्रकारका नैसर्गिक यथार्थ स्वरूप है उसी प्रकारका यथातथ्य स्वरूप कथन करने, समझानेवाला। इस चौथे विशे-षणसे जिनेन्द्र देवका वाचातिशय प्रगट किया गया है।

सर्व कर्मोंको नष्ट करके परम पदको पानेवाला— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय ये चार घाती कर्म और वेदनीय, नाम, गोत्र तथा आयुष्य ये चार अघाती कर्म एवं इन आठों ही कर्मोंको नाश करके परम-अमर-अजर-स्थितिको प्राप्त करनेवाले। इस विशेषण द्वारा सिद्धात्माकी अवस्थाको कर्ममल-रहित और जन्म जरा मृत्यु विनाकी सूचित की है।

सुगत याने बुद्ध वगैरह अन्य देव तो सिद्ध दशा प्राप्त किये वाद भी अपने धर्मके नष्ट होने पर पुनः संसारमें अवतार धारण करते हैं। वे कहते हैं कि "धर्मरूप घाटको (तीर्थको) निर्माण करने-वाले-स्थापन करनेवाले और परम पदको प्राप्त हुये ज्ञानी अपने तीर्थकी अवनति देख फिरसे संसारमें अवतार लेते हैं।"

वास्तवमें विचार किया जाय तो इस प्रकारके ज्ञानी कर्म सहित होनेके कारण वे परम पद तक पहुंचे हुये ही नहीं होते। यदि वे कर्ममल रहित होकर मुक्तिपद प्राप्त कर जन्म मरणसे मुक्त हुये होते तो उन्हें निष्कारण पुनः संसारमें अवतार लेना सम्भ-वित ही किस तरह हो सकता है? क्योंकि जिस प्रकार वीज भस्म होजाने पर पुनः अंकूरका ऊगना नहीं होता उसी प्रकार कर्मरूप बीज (कारण) नष्ट होजाने पर फिर संसारमें अवताररूप अंकूरका उद्गम होना असंभव है। परमपद तक पहुंची हुई सिद्धा-त्माओंको भी कारणवश पुनः संसारमें अवतार लेना मानना इस प्रकारका कथन प्रवल मोहमय है। इस विषयमें श्री सिद्धसेन दिवाकरजीने भी इस तरह फरमाया है—"हे भगवन्! आपके

शासनसे बाहर रहे हुओंमें इस प्रकारके मोहका राज्य प्रवर्तता है कि कर्मरहित हुये बाद भी और निर्वाण प्राप्त करने पर भी मुक्तिको प्राप्त करनेवाली आत्मा, संसारमें अवतार ले और स्वयं शरीर धारण कर दूसरोंके लिये शूरवीर बनती है।"

यह तो संसारके अन्य देवोंकी हकीकत है परन्तु जिनेन्द्र देव ऐसे नहीं हैं। क्यों कि वे निर्वाण प्राप्त किये बाद पुनः कदापि जन्म धारण नहीं करते। इस बातका स्पष्टीकरण करनेके लिये ही यह पाँचवाँ विशेषण दिया गया है।

इस प्रकार पूर्णावस्थाको प्राप्त करनेवाला आत्मा, पूर्वोक्त चारों अतिशयोंसे युक्त हो और एकदफा मुक्त होकर पुनः जन्म धारण न कर सकता हो बस वही देवतया माना जाता है। उसीमें देवत्व सिद्ध हो सकता है। वही दूसरे प्राणियोंको सिद्धिदायक हो सकता है। परन्तु अन्य कोई रागद्वेष सहित और स्वयं निर्वाण प्राप्त करने पर भी पुनः संसारके सरकलमें अवतार लेनेवाला देव कदापि दूसरोंका श्रेय सिद्ध नहीं कर सकता। पाँचवें विशेषणका प्रधान आशय यही समझना चाहिये

जैन दर्शनमें ईश्वर या देवका स्वरूप ऊपर कथन किये मुजब है। यद्यपि नैयायिक वगैरह भी इसी प्रकारके ईश्वरको देवस्वरूप स्वीकारते हैं, परन्तु वे इससे उपरान्त ईश्वरको कर्त्ता हर्त्ता भी मानते हैं और जैन ईश्वरको उसका एक भी कार्य बाकी न रहनेसे सर्वथा रागद्वेष रहित और अकर्ता मानते हैं।

'ईश्वरवाद'

कर्तृवादी और अकर्तृवादी ये दोनों ही ईश्वरके स्वरूपके विषयमें इस प्रकार चर्चा करते हैं।

कर्तृवादी—आपने जो पूर्वोक्त ईश्वरका स्वरूप प्रतिपादन किया है सो यथार्थ है। परन्तु उसमें ईश्वरको कर्त्ता और पालक नहीं कहा सिर्फ इतनी ही त्रुटि मालूम होती है। आपके कहे मुजब जो देव मोक्ष प्राप्त करने पर भी पुनः अवतार धारण करते हैं

उन्हें देवतया न मानना चाहिये यह बात स्वीकार करने योग्य है, किन्तु जो ईश्वर कदापि अवतार धारण नहीं करता और सृष्टि का निर्माण तथा उसका पालन किया करता है उसे आप देवतया नहीं मानते इसका क्या कारण? अर्थात् देवका स्वरूप कथन करते हुये उसे कर्त्ता और पालक आदि क्यों नहीं स्वीकारते?

अकर्तृवादी—ईश्वर कदापि जन्म धारण नहीं करता तो फिर मोक्षसे आकर जगतको निर्माण करने एवं उसके पालनेकी झंझट में वह किस तरह पड़ सकता है? वास्तवमें विचार किया जाय तो ईश्वरत्व प्राप्त किये बाद उसे कोई भी कार्य करनेका बाकी ही नहीं रहता, इस लिये उस पर जगतकर्त्ता एवं पालकपनका आरोप अघटित और अनुचित मालूम होता है। दूसरे यह भी बात है कि ईश्वरी प्रवृत्ति साक्षात् दृष्टिगोचर न होनेके कारण उसे कर्त्ता या पालक माननेकी बात किसी भी प्रबल प्रमाण विना नहीं मानी जा सकती। इसी कारण हम जगतको निर्माण करने-वाले या जगतका पालन करनेवाले ईश्वरको देवतया मानते हुये हिचकिचाते हैं।

कर्तृवादी—हम ईश्वरके कर्तृत्व और पालकपनको साबित करनेवाला प्रमाण देते हैं, आप लक्षपूर्वक सुनें—हम हमेशह अनेक वस्तुओंको देखते हैं और उनका उपयोग भी करते हैं। जैसे कि कागज, लेखनी, दवात, छत्री, जूते, कपड़े और मकान वगैरह। यद्यपि इन पूर्वोक्त वस्तुओंके बनानेवालेको हमने अपनी आंखोंसे नहीं देखा तथापि उसकी बनावट देखते ही बनानेवालेका ज्ञान होजाता है। अर्थात् उन वस्तुओंके देखते ही हृदयमें यह कल्पना होती है कि इनका बनानेवाला कोई न कोई अवश्य होना चाहिये और साथ ही हमें यह ज्ञान होजाता है कि बनानेवालेके सिवाय कोई भी वस्तु बन नहीं सकती। जब एक लेखनी जैसी तुच्छ वस्तू भी किसी बनानेवाले विना नहीं बन सकती तो फिर यह अद्भुत विचित्र और सुन्दरता पूर्ण पृथवी, पानी, पवन, वन, पर्वत तथा अग्नि वगैरह विना किसीके बनाये किस तरह बन सकते हैं? यद्यपि इन तमाम वस्तुओंके बनाने वालेको हम चर्म-

चक्षुओंसे देख नहीं सकते तथापि लेखनी वगैरह के समान इन तमाम वस्तुओंकी रचना एवं सूक्ष्मता परसे ही इनके बनाने वालेका अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। संसारमें जो वस्तुवें आकारवाली बनती हैं, बनी हुई हैं और जो बननेवाली हैं वे तमाम किसी बनानेवालेके सिवाय कदापि बन ही नहीं सकतीं, यह बात सर्व साधारण मनुष्योंकी समझमें आवे ऐसी सरल और प्रत्यक्ष जैसी है। इस प्रकारके एक सत्य सिद्धान्त द्वारा पृथ्वी पानी वगैरहका भी कोई न कोई बनानेवाला होना ही चाहिये। कोई सामान्य मनुष्य या देव इस प्रकारकी प्रवृत्ति करे यह तो संभवित ही नहीं, परन्तु जिसमें पूर्णतया ईश्वरत्व (ऐश्वर्य) समस्त संसारका और संसारके कार्य कारणोंका जानपन, महान् इच्छा-शक्ति और सब जगह पहुंच सके इस प्रकारका महान् प्रयत्न—पुरुषार्थ हो वही सृष्टिके तमाम पदार्थोंको निर्माण कर सकता है और वही एक सबको जाननेवाला, सबका संचालक, सबका पालक और सब जगह पहुँच कर सर्व कार्य करनेवाला ईश्वरपद पर सुशोभित हो सकता है।

इस प्रकारका निर्माता और पालक पुरुष सिर्फ एकही है और वह नित्य है। अर्थात् विकार रहित है, तथा सर्व जाननेवाला, (सर्वज्ञ) और सब जगह रहनेवाला-सर्व व्यापक भी वह है।

ऊपर कथन किये मुजब अर्थात् बनानेवालेके सिवाय एक भी वस्तु निर्माण नहीं हो सकती इस निर्बाध सिद्धान्तके अनुसार हम जिस प्रकार अपनी आंखोंसे नहीं देखे हुये किसी भी एक कर्त्ताको फक्त उसके किये हुये कार्य परसे ही जान सकते हैं उसी तरह इस जगत कर्त्ताको भी सर्वज्ञ सर्वव्यापक, नित्य-विकार रहित और एक सिद्ध कर सकते हैं, उसकी युक्ति इस प्रकार समझिये।

कोई भी कार्य करनेवाला मनुष्य जितने कार्यका एवं उसके कारणोंका ज्ञान धारण करता होगा उतना ही वह कर सकता है। जिस कार्यका ज्ञान ही न हो वह कार्य बन ही नहीं सकता। जो जितने कार्य करता है उन सबको भली प्रकार जाननेवाला तो वह

अवश्य ही होता है। एवं जो पुरुष इस जगतकी एक एक वस्तुकी रचना करता है वह उन तमाम वस्तुओंका तथा उनके कारणोंका जाननेवाला हो तब ही उन वस्तुओंकी रचना कर सकता है। इससे उसे संसारके समस्त पदार्थोंका ज्ञान है। अर्थात् वह सर्वज्ञ है यह बात स्वयंही सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार जो मनुष्य जितनी जगह जितने स्थानोंमें पहुँच सकता है उतने ही स्थानोंमें वह कार्य कर सकता है। अर्थात् जहाँ पर काम कर सकता है वहाँ पर उसका अस्तित्व तो सिद्ध ही है। क्योंकि जहाँ पर उसका अस्तित्व ही नहीं वहाँ पर उससे कुछ हो भी नहीं सकता। जगतको बनानेवाला पुरुष भी जगतके इस सिरेसे लेकर उस सिरे तक अनेक रचनायें रच रहा है इस बातको सिद्ध करने के लिये वे रचनायें चंद्र सूरज, और तारे ही काफी हैं। यदि वह पुरुष सब जगह न रहता हो तो ये सर्व प्रकारकी रचनायें किस तरह होसकें? अतः अपने आसपासकी, दूरकी, ऊपरकी और नीचेकी ये तमाम रचनायें हा उसे सब जगह रहा हुआ साबित करती हैं। अर्थात् उस परम पुरुषकी व्यापकतामें कोई आश्चर्य या क्षति उपस्थित नहीं होती।

वह नित्य है, यह संसार, विस्तीर्ण आकाश, असंख्य तारे और पाताल ये तमाम वस्तुयें नित्य रहनेके कारण इनके रचनेवाला भी नित्य होना चाहिये। अर्थात् वह सर्व प्रकारके विकारसे रहित-नित्य हो तब ही घट सकता है। बस यह एक ही युक्ति ईश्वरको नित्य किंवा निर्विकार सिद्ध करने में काफी होगी।

वह एक है, जंगलमें सिंह एक ही होता है, राजाओंमें चक्रवर्ती एक ही होता है इसी प्रकार इस तरहका सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और निर्विकारी वह एक ही है। उसके समान अन्य कोई होसके यह संभवित ही नहीं।

इस प्रकार क्षति रहित युक्तियों द्वारा जन्म मरणसे मुक्त कोई एक पुरुष जगतका कर्त्ता, जगतका पालक, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, नित्य-निर्विकार और एक सिद्ध होता है और वही

प्रभु-ईश्वर ठहरता है । हम उस एकको ही देवतया मानते हैं । वही एक पुरुष हम सबोंका निर्माता हो सकता है और पालक होनेके कारण हमारा पूजनीय और वन्दनीय हो सकता है । हमें उसीकी उपासना करनी चाहिये ।

अकर्तृवादी—भाई ! बुद्धिकी लीला अगम्य है, तर्कका महिमा अगाध है । तर्क और युक्ति सत्यको असत्य और असत्यको सत्य ठहरा सकती है । ईश्वर जैसी व्यक्ति भी कि जहाँ पर तर्क पहुँच ही नहीं सकती आज तर्कके ही द्वारा सिद्ध की जाती है, यही तर्कका महिमा है । जिस तरह आप सिर्फ दृष्टान्तों और दलीलों द्वारा ही ईश्वरको कर्त्ता सिद्ध कर रहे हैं हम भी इसी तरह बल्कि इससे भी सवाई युक्तियों और दलीलों द्वारा ईश्वरको अकर्त्ता सिद्ध करते हैं । देखिये जरा ध्यान दीजिये

आपने जो यह एक साधारण नियम कायम किया कि कर्त्ताके विना एक भी बनावट वस्तु बन नहीं सकती, वस्तुमात्रको देखनेसे उसके बनानेवालेका ज्ञान होजाता है, और यह बात सर्व साधारण जनता समझ सके ऐसी सरल और सुगम है । बेशक आपकी दृष्टिसे ऐसा होगा. स्थूलबुद्धिवाले मनुष्य भले ही इस नियमको सत्य और सरल समझलें परन्तु जो सूक्ष्म बुद्धिवाले और प्रमाणोंके द्वारा सत्यासत्य स्वरूपको समझनेवाले विद्वान पुरुष हैं उनकी दृष्टिमें यह आपकी युक्ति या सरल नियम भोले मनुष्योंको भ्रममें डालनेवाली एक युक्ति है । हम इस विषयमें सिर्फ इतना ही पूछते हैं कि आपकी दलीलमें उपयुक्त किये हुये बनावट शब्दका आप क्या अर्थ करते हैं ? अर्थात् हम किस चीजको बनाई हुई समझें और किसको अबनाई हुई । इस बारेमें निश्चित ज्ञान करनेके लिये इस बनावट शब्दका स्पष्ट तया विवेचन करनेकी आवश्यकता है । क्या आप इसे बनावट--बनाई हुई समझते हैं कि जो रचना अवयव सहित हो, याने जो भिन्न भिन्न विभागोंमें विभाजित की जा सकती हो, । अथवा जिस रचनाकी नींव अवयवों-भिन्न भिन्न विभागोंसे चिनी जाती हो, किंवा जो रचना अखण्ड होने पर भी भिन्न भिन्न विभागवाली देख पड़ती हो, या जिस रच-

नाको देखनेसे देखनेवालेको वह अवयववाली है यह भाव पैदा होता हो। बनावट--रचनाके इस प्रकारके भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें से आपको कौनसा स्वरूप मान्य है यह मालूम होना चाहिये।

कर्त्तावादी--जो रचना भिन्न भिन्न विभागोंमें विभाजित की जा सकती हो उसे ही हम बनावट या बनाई हुई अथवा रचना कहते हैं। जमीन पानी और पर्वत वगैरह भिन्न भिन्न विभागोंमें विभाजित हो सकनेके कारण रचनात्मक हैं। इस प्रकारकी मान्यता द्वारा ही हमें इन वस्तुओंके रचयिताका खयाल होता है।

अकर्तृवादी—महाशयजी! ऐसी तो बहुतसी वस्तुयें हैं कि जो भिन्न भिन्न विभागोंमें विभाजित की जा सकती हैं परन्तु आप ही उन्हें रचनात्मक नहीं मानते। दृष्टान्तके तौर पर, सामान्य,* नामक वस्तुको ध्यानमें रख कर विचार करोगे तो आपको स्वयं ही मालूम हो जायगा। आप सामान्यको नित्य मानते हैं, अर्थात् उसे किसी की रचना या बनावट नहीं मानते। वह सामान्य पृथक् पृथक् विभागों में विभाजित हो सकता है। जैसे कि घटत्व (घट सामान्य), पटत्व (पट सामान्य) मनुष्यत्व (मनुष्य सामान्य) और गोत्व (गोसामान्य) आदि। अतएव आपके कथन किये हुए रचनाके अर्थमें इस सामान्य नामक वस्तुका भी समावेश होजाता है अतः आपको जमीन पर्वत आदिकी तरह सामान्यको भी रचना के तौर पर मान कर किसीको उसका रचयिता भी कल्पित करना चाहिये। अर्थात् यदि आप रचना का पूर्वोक्त ही लक्षण मान्य

---

* जिस गुण या क्रियाके द्वारा भिन्न भिन्न देख पड़ती वस्तुओंमें भी समानता विदित हो सके उसे 'सामान्य, कहते हैं। जैसे कि आपके सामने पांच घड़े रक्खे हैं। उनमें एक घडा सुवर्णका है, दूसरा चांदीका, तीसरा तांबेका, चौथा पीतलका और पांचवाँ मट्टीका है। यद्यपि ये पांचों घडे जुदी जुदी धातुके बने हुये हैं और रंगरूपमें भी भिन्न भिन्न हैं तथापि इन सबमें एक ऐसा गुण रहा हुआ है कि जिसके द्वारा वे जुदे जुदे होने पर भी उस एक ही बोलसे पहचाने जासकते हैं। उस गुणका नाम घटत्व है और वह घटत्व तमाम घडोंमें एक सरीखा है। बस इसी को सामान्य कहते हैं॥

करेंगे तो आपको सामान्यको अनित्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार रचना या बनावट का आपका ही कथन किया हुआ अर्थ आपके ही घरमें उत्पात करता है।

कर्तृवादी—यदि आपको हमारे कथन किये हुए पूर्वोक्त रचना के अर्थमें कुछ बाधा मालूम पड़ती हो तो हम उस अर्थको किनारे रख कर यह उसका दूसरा स्वरूप मानते हैं कि जिस रचनाकी नींवका प्रारम्भ जुदे जुदे विभागोंसे ही होता हो उसे ही रचना या बनावट समझना चाहिये।

अकर्तृवादी—महाशयजी! आप तो ऐसी विचित्र बात करते हैं कि जो कभी किसीने न देखी हो, न सुनी हो और न ही युक्ति-से सिद्ध हुई हो या हो सकती हो। भला संसारमें ऐसी कौनसी रचना है कि जिसकी नींव उसके जुदे जुदे अवयवों द्वारा चिनी जाती हो? आप कृपया किसी कुँभारके घर जाकर देखें या दरिया-फ्त करें कि वह जिस घड़ेकी रचना करता है उसका प्रारम्भ उस घड़ेके जुदे जुदे अवयवोंसे करता है या एकदम ही चाक पर मिट्टी का पिण्ड रख देता है। हमने तो कहीं भी आज तक यह नहीं देखा कि घटके जुदे जुदे ठीकरोंसे घट बन सकता हो। अतः आपका निश्चित किया हुआ रचनाका यह दूसरा लक्षण भी नि-र्मूल होनेके कारण मान्य नहीं हो सकता।

कर्तृवादी—अस्तु यदि आपको हमारा दूसरा लक्षण भी निर्मूल मालूम देता है तो तीसरा लीजिये। जो रचना अखण्ड होने पर भी भिन्न भिन्न विभागवाली मालूम पड़ती हो लो हम उसीको रचना मानते हैं। अब आप फरमायें यदि इसमें भी कुछ त्रुटि हो तो।

अकर्तृवादी—महाशयजी! इस आपके कथन किये हुये रचनाके तीसरे लक्षणमें छोटी त्रुटि नहीं किन्तु बड़ा भारी दोष है। देखिये कि यह आकाश सर्वत्र रहा हुआ है, यह बात तो आप भी मानते हैं और इसे नित्य भी आप मानते हैं अर्थात् आकाशको आप भी किसीका रचा हुआ नहीं मानते। अब यदि आप रचनाके इस तीसरे लक्षणको मानेंगे तो आकाशमें भी इसका व्याप्ति दोष लागू

पड़ेगा। आकाश सर्वत्र अखण्ड होने पर भी भिन्न भिन्न विभागोंमें जुदा जुदा भी मालूम होता है । अब यहाँ पर विचार यह करना चाहिये कि जो जुदे जुदे विभागवाली हो यदि वही रचना मानी जाती हो तो इसमें नित्य आकाशका भी समावेश हो जाता है और ऐसा होने पर आपको आकाशको भी रचना मानना पड़ेगा। इस लिये आपका यह तीसरा लक्षण भी योग्य और प्रमाणिक नहीं है ।

कर्तृवादी—अच्छा अब हम रचनाका चौथा लक्षण कायम करते हैं। जिस रचनाको देखनेसे देखनेवाले मनुष्यको यह आभास होता हो कि वह अवयववाली है, उसे हम रचना मानते हैं। हमें विश्वास है कि हमारे कथन किये हुये अब इस अन्तिम लक्षणमें किसी भी प्रकारकी त्रुटि न निकल सकेगी और इसके द्वारा रचना करनेवाले पुरुषकी सिद्धि बड़ी ही सुगम और सरलतासे हो सकती है ।

अकर्तृवादी—महाशयजी ! यह तो आपका सिर्फ मोह गर्भित भ्रम मात्र ही है। क्यों कि जो दूषण आपके तीसरे लक्षणमें आता है सो ही यहाँ पर खड़ा है। आप जरा विचार करें कि आकाश तो सर्वत्र ही रहा हुआ है यह बात तो निर्विवाद ही है, इससे इसे देख कर यह अवयववाला है इस प्रकारका भास किसे नहीं हो सकता ? ऐसा होनेसे आप जिस आकाशको अबनावटी—रचना रहित मानते हो उसे ही आपको बनावटी याने रचना मानना पड़ेगा और ऐसा माननेसे आपका ही सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

इतनी चर्चासे ही पाठक महाशय समझ सकते हैं कि जब रचनाके स्वरूपकी ही जड़ नहीं जमती तो फिर " मूलं नास्ति कुतः शाखा " इस कहावतके अनुसार रचना करनेवालेकी सिद्धि तो हो ही कहाँसे ? तात्पर्य यह है कि जगतमें ईश्वरतया पूजित आत्मा जगतको रचनेवाला या उसका पालक सिद्ध नहीं हो सकता। अभी तककी चर्चासे तो अकर्तृवादीका सिद्धान्त बुद्धिगम्य और युक्तियुक्त मालूम होता है।

कर्तृवादी—आप तो युक्ति प्रयुक्तियों द्वारा हमे पीछे हटानेके लिये मथते हैं, परन्तु हम इस प्रकार आपकी युक्तिप्रयुक्तियोंसे पीछे नहीं हट सकते। यदि हमारे कथन किये हुये पूर्वोक्त रचना के स्वरूप यथार्थ रीतिसे न घट सकते हों तो कुछ हरकत नहीं, हमने इस बारेमें अब इनसे जुदे और दूषण रहित नियम निर्माण किये हैं और वे इस प्रकार हैं आप ध्यान देकर सुनें। जो वस्तु अस्तित्वमें न हो परन्तु सिर्फ उसके कारणोंके समवाय (सदैव रहनेवाला सम्बन्ध) की ही विद्यमानता हो उस वस्तुको रचना समझना। अब फरमाइये हमारे निर्माण किये हुये रचनाके इस लक्षण या स्वरूपमें क्या दूषण है ?

अकर्तृवादी—महाशयजी! आपके कथन किये इस नवीन स्वरूपमें भी आपका वचन भंग हो जाता है। देखिये कि इस उपरोक्त लक्षणमें एक प्रकारके सदा रहनेवाले सम्बन्धको ही आपने रचना कहनेका साहस किया है। अब आप स्वयं ही इस बात पर विचार करें कि जो सदैव रहनेवाला-नित्यत्ववाला हो उसे रचना या बनावटके तौर पर किस प्रकार माना जाय ? यदि किसी प्रकारके नियम बिना ही चाहे जिस वस्तुको रचना या बनावट तरीके स्वीकार किया जा सकता हो तो पृथवी आदि भावोंको भले ही आप सिर्फ बोलनेमें ही रचना कहें परन्तु वास्तवमें वे रचनात्मक सिद्ध न होकर आपके माने हुए समवाय-नित्य सम्बन्धके समान ही नित्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार रचनाके इस नवीन लक्षणमें तो आपको दोनो प्रकारसे हानि ही है और वह यह कि यदि इस लक्षणको आप यथार्थ मानेंगे तो या तो आपको सदैव रहनेवाली चीजको अनित्य मानना पड़ेगा और या अनित्य वस्तुको नित्य स्वीकारना पड़ेगा। तथा दूसरे यह भी एक सवाल पैदा होगा कि अन्य वस्तुओंकी तरह कर्मोंका नाश होना यह भी एक रचना या बनावट है, परन्तु इस रचना किंवा बनावटको यह आपका निर्माण किया हुआ सिद्धान्त किसी भी अंशमें चरितार्थ नहीं होता, क्यों कि कर्मोंका एकदफा सर्वथा नाश होना यह एक प्रकारका अभाव है। अर्थात् यह कोई वस्तुरूप नहीं है। इससे यह अभाव

और इसके कारणोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध हो नहीं सकता। क्योंकि सम्बन्ध तो अस्तित्व रखनेवाली वस्तुका ही होता है; परन्तु जो वस्तुरूप ही न हो उसका कभी सम्बन्ध न हुआ और न ही हो सकता है। इस प्रकार कारणोंके साथ सम्बन्ध न रखनेवाले कर्मनाशरूप अभावको यह रचना-बनावटका नियम लागू ही नहीं पड़ता और इस प्रकार सर्वत्र-सर्व रचनाओंमें समान तया लक्षण न घटनेके कारण यह आपका रचनाका नवीन कायम किया हुआ स्वरूप भी अभी अपूर्ण ही है और अपूर्ण लक्षणके द्वारा सिद्ध की हुई वस्तु भी अपूर्ण ही रहती है।

कर्तृवादी—खैर यह लक्षण भी आपको अपूर्ण ही मालूम देता है तो इसे भी जाने दो। जिस वस्तुको देखनेसे वह बनी हुई है यह भाव पैदा होता हो हम उसे ही रचना मानते हैं। यह जमीन पर्वतादि देखनेसे हरएक मनुष्यके दिलमें यह विचार उत्पन्न होता है कि यह सब कुछ बनावट याने रचना है, जब रचना है तो उसके रचनेवाला पुरुष भी होना ही चाहिये यह तो स्वयं ही सिद्ध है।

अकर्तृवादी—महाशयजी! विचार किये विना ही बाह्य दृष्टिसे देखनेसे तो यह आपका नूतन लक्षण जरा यथार्थ देख पड़ता है, परन्तु विचार पूर्वक विशेषावलोकन करनेसे यह लक्षण भी त्रुटिपूर्ण ही मालूम होता है। इस लक्षणकी त्रुटियां समझनेके लिये आप जरा ध्यान दीजिये। जहाँ पर आकाश नहीं मालूम होता वैसी जगहमें गढ़ा खोदनेसे वहाँ पर भी आकाश हो सकता है और उस खोदे हुए गढ़ेको देख कर हरएक मनुष्यको यह किसीका बनाया हुआ है ऐसा भाव भी पैदा होता है, इस लिए इस आपके नवीन लक्षणको कायम रखनेसे तो इस आकाश तत्वको भी जिसे कि आप किसीकी रचना नहीं मानते हैं, किसीका बनाया हुआ ही मानना पड़ेगा और यह कोई छोटा मोटा नहीं किन्तु बड़ा भारी दूषण है।

कर्तृवादी—आपने तो हमारे तमाम लक्षणोंको दूषित ठहराने के लिये ही कमर कसी मालूम देती है। खैर जाने दो हमारे ये

सभी लक्षण दूषित सही, किन्तु जिस वस्तुमें परिवर्तन होता रहता है हम उसे ही रचना मानते हैं और रचनाका लक्षण भी हम यही कायम करते हैं। जमीन वगैरह वस्तुओंमें नित्य होता हुआ परिवर्तन-फेरफार हरएक मनुष्य देख सकता है, अतः उसे रचना माननेमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आसकती और इसीसे उसके रचयिताकी सिद्धि भी सिद्ध हो सकती है।

अकर्तृवादी—महानुभाव! आप तो नित्य नये लक्षण ही बदलते रहते हैं, एक भी लक्षण पर आप ठहर नहीं सकते। जब आप लक्षण भी निर्दोष नहीं बाँध सकते तो फिर लक्ष्यकी सिद्धिकी तो बात ही क्या? अब देखिये आपका यह लक्षण भी अशुद्ध ही है। आप परिवर्तनको ही रचनाका मुख्य चिन्ह मानते हैं। परन्तु यदि ईश्वरकी वृत्ति या स्वभावमें किसी प्रकारका परिवर्तन न होता हो तो फिर वह एक ही स्वरूपमें रहा हुआ ईश्वर रचना, पालना और विनाशके कार्यको किस प्रकार कर सकता है? और किस तरह उन सब कार्योंमें पहुँच सकता है?। रचना किये बाद जब वह पालन करनेकी वृत्ति धारण करे तब ही पालन कर सकता है और पालन किये बाद जब मारनेकी वृत्ति करे तब ही वह विनाश कर सकता है। इस प्रकार वृत्तिमें परिवर्तन हुये विना एक ही वृत्ति किंवा एक ही वृत्तिवाला कोई भी एक व्यक्ति जुदे जुदे और एक दूसरेके साथ सर्वथा समानता न रखनेवाले भिन्न भिन्न कार्योंको करनेमें कदापि समर्थ नहीं हो सकता। अब जबकि आप रचना करनेवाले, पालन करनेवाले और संहार करनेवाले एक ईश्वरको ही मानते हैं तो फिर आपको भी ईश्वरके स्वभावमें परिवर्तन कबूल करना पड़ेगा। इस प्रकार माननेसे पूर्वोक्त परिवर्तनशील ईश्वरमें भी यह नूतन रचनाका नियम चरितार्थ होगा और इससे उस परिवर्तनशील वृत्तिवालेको बनाने वाला भी कोई दूसरा ही शोधना पड़ेगा। इस तरह एक भी किसी कर्त्ता रचयिताकी सिद्धि न हो सकेगी। अतः इससे परिवर्तनके नियम द्वारा कृत्रिमताके स्वरूपको निश्चित करके कर्त्ताका सिद्धि साधन ही नहीं हो सकता तो फिर उसके द्वारा कर्त्ताकी सिद्धिकी तो बात ही कहाँ रही।

अब तो आपके दिलमें यह बात जचने लगी होगी कि सिर्फ बना-वट परसे ही बनानेवालेकी अटकलपच्चू कल्पना करना यह सर्वथा निर्मूल और प्रमाणशून्य बात है। बनानेवालेके बगैर एक भी बना-वट नहीं बन सकती,—वस्तु मात्रको देखते ही उसके रचयिता का खयाल आता है इस प्रकारकी बिलकुल सीधी सादी बातें कितनी बोदी और दलील रहित हैं यह साधारण मनुष्य भी समझ सकता है। ज्यों ज्यों गहरा चिन्तन और चर्चात्मक विचार किया जाता है त्यों त्यों सत्यासत्यके स्वरूपकी परख हो सकती है। यहाँ पर हम पूर्वोक्त चर्चासे यह प्रत्यक्ष अनुभव कर चुके हैं कि ज्यों ज्यों बनावट रचनाके स्वरूप पर गहरा विचार करते गये त्यों त्यों वह बिलकुल निर्मूल बनता गया, बल्कि अन्तमें वह प्रमाण रहित कल्पना हवाई होगई। "मूलं नास्ति कुतः शाखा" इस कहावतके अनुसार जब रचनाके स्वरुपका ही मूल नहीं तो फिर उसके द्वारा रचयिता की सिद्धि तो गगनपुष्प के समान ही है। रचना या बनावट के बारेमें यह भी नियम चारितार्थ होता है कि संसा-रमें जो वस्तु किसीकी बनाई हुई होती है, उसकी स्थिति मर्या-दित होती है। अर्थात् वह अमुक समयतक ही उस रुपमें ठहर सकती है। परन्तु पृथवी, जल, वायु, आदिके समान वह बनावटी या किसीकी रची हुई चीज हमेशहके लिये कायम नहीं टिक सकती। जिस विश्वको आप बनावटी सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं वह सच्चिदानन्द ईश्वर परमात्माके समान निरन्तर शाश्वत कायम रहनेके कारण बनावटी वस्तुओंमें किस तरह गिना जा सकता है?

कर्तृवादी—महाशयजी! आप तो अपने वचन चातुर्यसे ही हमे परास्त करना चाहते हैं, परन्तु यों तो हम किसी भी प्रकार हट नहीं सकते। आपने अपनी दलीलोंके अन्तमें जो यह फरमाया कि जो वस्तु बनावटी या किसीकी रची हुई हो वह हमेशह काय-म नहीं टिकती यह बात तो हमे भी मंजूर है, परन्तु यों कह कर अन्तमें जगतको जो हमेशह कायम रहनेवाला ठहराया है यह बात हमे असत्य मालूम होती है। क्योंकि जगत तो परिवर्तन शील

है । उसमें नित्य नये परिवर्तन होते हैं, वह कदापि एक स्वरूपमें स्थित नहीं रहता । यह बात आप भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रतिदिन जगतमें अनेकानेक प्राणी जन्म लेते हैं और अनेकानेक प्रतिदिन मरते हैं । जगतमें नित्य प्रति कितने ही वृक्ष ऊगते हैं और कितने ही कुमला जाते हैं । इस प्रकार जगतमें हमेशह परिवर्तन होता रहता है । जगत नित्य नूतन स्वरूप धारण करता ही रहता है । इससे कदाचित् आपको जगत प्रवाहरूपमें नित्य मालूम होता हो परन्तु उसमें रही हुई वस्तुयें सदाकाल एक स्वरूपमें न रहनेके कारण उसे भी नित्य एकस्वरूपमें कायम रहनेवाला नहीं माना जा सकता । अर्थात् जगत एक समान और नित्य एकस्वरूपमें स्थित नहीं रहता, अतःवह बनावटरूप है और इसी कारण उसका कोई एक बनानेवाला होना चाहिये । इस प्रकारकी कल्पना किस तरह असत्य मानी जा सकती है ?

अकर्तृवादी—महानुभाव ! आपने तो यह भी एक नवीन ही युक्ति निकाली कि जगत ही प्रवाही रूपसे नित्य मालुम देता हो परन्तु उसमें रही हुई वस्तुयें नित्य नये स्वरूप धारण करनेके कारण जगतको भी एक स्वरूपमें नहीं माना जा सकता, अर्थात् जगत परिवर्तनशील होनेसे बनावटी ही माना जा सकता है और इससे बनानेवाला भी सिद्ध किया जा सकता है । यह आपकी पूर्वोक्त मान्यता भी बिलकुल असत्य ही है । जरा इस बात पर ध्यान देकर विचार करें कि आपकी इस प्रकारकी मान्यतासे तो आपके ही मन्तव्यसे नित्य माना हुआ परमाणु (परम अणु) और ईश्वर तक भी बनावटरूप ही ठहरते हैं । परमाणु भी स्वयं नित्य याने प्रवाहरूप नित्य है परन्तु उसमें रहे हुये रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तो बदलते ही रहते हैं, तब क्या आप उसे नित्य मान सकते हैं ? अथवा ईश्वर जिसे कि आप नित्य मानते हैं उसमें रहे हुये बुद्धि इच्छा और प्रयत्न अमुक खास खास गुण बदलते ही रहते हैं तो क्या इससे आप उसे भी अनित्य मानेंगे ? कदाचित् परमाणु और ईश्वरको भी आप अनित्य माननेके लिये हाँ कहें तो फिर बनानेवालेको भी ढूंढ़ना पड़ेगा और इस प्रकार

युगयुगान्तर वीत जाने पर भी उनके वनानेवालोका पता न लग सकेगा। अस्तु हम आपसे सिर्फ चर्चाके लिये ही यह पूछते हैं कि आप जगतको वनावट रूप मानते हैं तो वह वनावट विलकुल साधारण है या किसी खास तौरकी असाधारण है?

कर्तृवादी—जगत की वनावटको हम विलकुल साधारण मानते हैं, आप इसके विषयमें क्या कहना चाहते हैं सो कहिये।

अकर्तृवादी—महाशयजी! आपको जरा इस वात पर विचार करना चाहिये कि जव आप जगतको विलकुल साधारण वनावट मान कर उसके द्वारा किसी असाधारण वुद्धिमान् उसके रचयिता की सिद्धि करना चाहते हैं तो भला यह किस तरह वन सकता है? क्यों कि साधारण वस्तुको वनानेवाला असाधारण पुरुष ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। साधारण वस्तुको वनानेवाला वुद्धिमान् भी हो सकता है और मन्दवुद्धि भी हो सकता है, पागल या अनभिज्ञ भी हो सकता है। परन्तु वह कोई भी एक हो सकता है। अर्थात् साधारण वनावटके द्वारा मात्र किसी एक वनानेवाले की ही कल्पना की जा सकती है। परन्तु असाधारण या वुद्धिमान् वनानेवालेकी कल्पना तो कदापि नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थितिमें आपका साध्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर किस तरह सिद्ध हो सकता है?

कर्तृवादी—यदि ऐसा है तो हम जगतको एक असाधारण वनावट मानेंगे और उसके द्वारा उसके रचयिताको भी असाधारण पुरुष मानेंगे, अव कहिये आप क्या कहना चाहते हैं?

अकर्तृवादी—भलेही आप जगतको असाधारण वनावट कहें परन्तु हमारी दृष्टिसे तो साधारण या असाधारण वनावटमें कुछ विशेष फेरफार नहीं देख पड़ता। क्यों कि उसके वनानेवाला प्रत्यक्ष न देख पड़नेके कारण उन दोनों वनावटोंके वीच क्या फेरफार है, अर्थात् साधारण और असाधारण वनावटमें क्या विशेषता है यह जानना वड़ा दुस्कर है। इस लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जो दूषण साधारण वनावटमें चरितार्थ होता है वही असाधारण वनावटमें भी लागू पड़ता है।

कर्तृवादी—महाशयजी ! आपने जो अभीतक दलीलें पेश की हैं वे मर्यादावाली होनेके कारण कदाचित् ठीक मानी जासकती हैं परन्तु आप दोनों प्रकारकी बनावटमें जो दूषण फरमाते हैं सो हमें बिलकुल ही असत्य मालूम होता है। साधारण और असाधारण बनावटमें कदाचित् आप विशेषता मंजूर न करें परन्तु उन दोनोंमें बनावट पन समान होनेसे उसके द्वारा बनानेवालेकी सिद्धि करनेमें क्या बाध आता है ?

अकर्तृवादी—यदि मात्र एक बनावटपनके लिये ही बनाने वालेकी सिद्धि हो सकती हो तो मात्र आत्मत्वके लिये अपने समान ही महादेवका शरीरधारीत्व, अपूर्णत्व, असर्वज्ञत्व और संसारीत्व क्यों नहीं सिद्ध हो सकेगा ? क्यों कि जितना और जैसा आत्मत्व महादेवमें है उतना ही और वैसा ही आत्मत्व मनुष्यमें भी है। वास्तवमें गहरा विचार करने पर प्रथम तो यह बात ही समझमें नहीं आती कि बनावट या रचनामें असाधारणत्व किस तरह हो सकता है ?

कर्तृवादी—महाशयजी आप चाहे जो कहें परन्तु हमारी तो यही मान्यता है कि जिस वस्तुको देखकर बनी हुई यह बुद्धि पैदा हो उसका कोई भी कर्त्ता होना चाहिये। बस इसी प्रकार जगत कर्त्ताकी कल्पना भी सुघटित और योग्य ही मानी जा सकती है।

अकर्तृवादी—आपकी मान्यतानुसार आपका कथन ठीक है परन्तु हमारे मन्तव्यके अनुसार जमीन, जल, वायु, आकाश वगैरह वस्तुओंको देखकर किसीको भी यह बुद्धि नहीं पैदा होती कि ये किसीके बनाये हुये हैं। यह तो आपने खींचातानी द्वारा जबरदस्ती ही मात्र अटकल उपस्थित की हुई है। जिस प्रकार एक पुराना कुवा या प्राचीन इमारत देखकर यह कल्पना होती है कि ये किसीके बनाये हुये हैं उस प्रकारकी कल्पना पृथ्वी आदिको देखकर नहीं होती। जहाँ पर बनावटपनकी बुद्धि ही पैदा नहीं होती वहाँ पर उसके द्वारा बनानेवालेकी सिद्धि हो ही किस तरह सकती है ?

कर्तृवादी—खैर कुछ देरके लिये यह मान लिया जाय कि पृथवी आदिको देखकर आपको उस प्रकारकी बुद्धि न पैदा होती हो परन्तु जो प्रामाणिक जन हैं उन्हें तो उस तरहकी बुद्धि पैदा होना यह सहज सी बात है और उस प्रकारकी बुद्धि द्वारा ही कर्त्ताको साबित करना यह सर्वथा सरल और सुगम है।

अकर्तृवादी—बेशक आपके कथनानुसार कदाचित् प्रामाणिक मनुष्योंको पृथवी वगैरह देखकर ये किये हुये हैं इस प्रकारकी बुद्धि पैदा होती हो परन्तु उनको ही ऐसी बुद्धि पैदा होनेका कारण या निमित्त क्या है? यह बात स्पष्टतया मालूम होनी चाहिये। हमारी समझ मुजब नजरसे देखनेसे ऐसी बुद्धि पैदा होती हो यह असंभवित बात है। यदि ऐसा ही होता हो तो सब मनुष्योंको आंखें समान ही हैं इस लिये हमें भी उस प्रकारकी बुद्धि देखनेसे अवश्य पैदा होनी चाहिये।

कर्तृवादी—महाशयजी! देखने मात्रसे नहीं परन्तु प्रामाणिक मनुष्य वस्तुको देखकर उस प्रकारकी बुद्धि अनुमान या अपनी अटकलसे पैदा करते हैं और उस प्रकारका विचार या अनुमान कदाचित् आपको न होसके यह स्वाभाविक बात है, अर्थात् इस प्रकारका विचार अंकुरित करनेका मूलकारण अनुमान और अटकल ही है।

अकर्तृवादी—महानुभाव! जरा बुद्धिका व्यय करके कुछ विचार करो कि कर्त्ताको सिद्ध करनेके लिये सबसे प्रथम पेशकी हुई आपकी अटकल अभीतक अधर ही लटकती है, उसपर आप यहाँ पर यह दूसरी अटकल (अनुमान) खड़ी कर रहे हैं। यदि आप एक अटकल-कल्पनाको दूसरी अटकल पर लादकर काम निकालना चाहते हों तो इस प्रकार कदापि पार न आयगा। अटकल पर अटकलें लादते रहनेसें उसका अन्त ही नहीं आसकता और ना ही इससे कार्यकी सिद्धि हो सकेगी। इस तरह पृथवी वगैरह देखकर ये किसीके किये हुये हैं प्रथम इस प्रकारकी बुद्धि पैदा होनेमें ही शंका उपस्थित होती है तो फिर उसके द्वारा कर्त्ताकी अटकल किस प्रकार सत्य मानी जा सकती है?

कर्तृवादी—महाशयजी ! एक वात आपके लक्षसे बाहर गई मालूम होती है, और वह यही कि सब बनावटों (वस्तुओं) को देखकर देखने वालेके मनमें यह बनाई हुई है इस प्रकारकी बुद्धि पैदा होनी ही चाहिये यह कोई नियम नहीं है और न हीं हमारा यह सिद्धान्त है। जैसेकि एक खुदा हुआ गढ़ा हो और उसे जब मिट्टीसे पूर्ण करदेनेसे समान कर दिया गया हो उस समय उसे देखनेसे देखनेवालेके मनमें यह कल्पना पैदा नहीं होती कि यहाँ पर प्रथम गढ़ा था और उसे फिर भर देनेसे समतल कर दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार भर दिया हुआ गढ़ा अपने भर दिये गयेपनको नहीं मालूम करा सकता उसी प्रकार कदाचित् पृथवी आदि भी अपने कृतपनको न मालूम करा सकें यह वात संभवित है। परन्तु इससे उनमें रहा हुआ कृत्रिमत्व थोड़े ही चला जा सकता है? वल्कि उन वस्तुओंमें गुप्त तया रही हुई कृत्रिमता द्वारा ही करनेवालेकी कल्पना उपस्थित की जा सकती है। इस लिये पृथवी वगैरेहमें कृत्रिमताकी बुद्धि पैदा होनेमें किसी भी प्रकारकी शंका उपस्थित नहीं हो सकती।

अकर्तृवादी—महानुभाव ! आप भी ठीक फरमाते हैं, आपकी दलीलोंसे कोई भोला मनुष्य अवश्य समझ सकता है या यों कहना चाहिये कि फस सकता है परन्तु हम तो आपके ही समान तर्कवादी हैं इस लिये हम इस विषयमें ऐसी निर्मूल युक्तियोंसे कदापि मोहित नहीं हो सकते। आपने जो गढ़ेका दृष्टान्त दे कर उसकी आड़में पृथवी आदिके कृत्रिमपनको छिपा रखनेका प्रयास किया है वह सर्वथा व्यर्थ और निष्फल है। क्यों कि वह गढ़ा किसीने भी न किये हुये इस प्रकारके पृथवीके समतलके समान लेवलमें देख पड़नेके कारण कदाचित् देखनेवालोंको अपने अकृत्रिम पनका भ्रम पैदा करे, अर्थात् अपने वास्तविक कृत्रिमपनको छिपा रक्खे यह हो सकता है, परन्तु पृथवी आदिको ऐसी कौनसी वस्तुकी उपमा दी जा सकती है कि जो किसीकी की हुई न हो और जिससे यह उस गढ़ेके समान अपने कृत्रिम भावको छिपा रक्खे। अर्थात् यदि पृथवी आदि सचमुच ही कृत्रिम भाववाली

वस्तुयें हो तो उनमें रहा हुआ कृत्रिमभाव किसी भी प्रकारकी आपत्ति विना प्रगट होना चाहिये। परन्तु यह तो आपके ही कथनानुसार वे वस्तुयें अपने कृत्रिमपनको देखनेवालेके मनमें नहीं ठसा सकती तो फिर उसके द्वारा उसके कर्ताका पता कहाँ लग सकता है? तथा जो आप कलमका उदाहरण दे कर जगतके रचयिताकी कल्पनाको दृढ़ करते हैं सो भी उचित मालूम नहीं देता, क्यों कि आप जगतकर्त्ताको शरीर रहित मानते हैं और कलमका कर्त्ता तो प्रत्यक्ष ही शरीरधारी नजर आता है। इससे शरीर धारी कर्त्ता द्वारा की गई हुई कलमके साथ जगतकी साम्यता करके यों कहना कि जगतको किसी अशरीरी व्यक्तिने वनाया है यह किस तरह घटित हो सकता है? हाँ यदि कलमकर्त्ताके समान ही जगतकर्त्ताको भी शरीर धारी मानलिया जाय तो वेशक यहाँ पर कलमका दृष्टान्त चरितार्थ हो सकता है अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है मात्र कलमके या अन्य किसी वस्तुके दृष्टान्तसे जगत कर्त्ताकी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती।

कर्तृवादी—आपका कथन सत्य है परन्तु हम कलमके सब गुणोंके साथ जगतके सर्व गुणोंकी साम्यता नहीं करते, हम तो सिर्फ यही कहते हैं कि जिस तरह एक कलम बनावट चीज है और उससे ही उसका कोई एक बनानेवाला होना चाहिये उसी प्रकार जगत भी एक बनावट रूप है और इसे भी बनानेवाला क्यों न हो सके? कलमके दृष्टान्तसे कलम और जगतमें मात्र कृत्रिम भावकी ही समानता है, दूसरी नहीं। यदि आपके कथन किये मुजब यहाँ पर या अन्य किसी वस्तुमें सब वातोंकी समानता करने जायँ तो एक बातका भी निराकरण नहीं हो सके और न ही कहीं पर सब वातोंकी समानता मिल सकती है। इस लिये कलम और जगतके वीच जो आप सब वातोंकी समानता करके हमारी कल्पनाको धक्का पहुँचाते हैं सो सर्वथा अनुचित है।

अकर्तृवादी—महाशयजी! आप फरमाते हैं सो उचित है परन्तु उसमें आपका स्वार्थ होनेसे कुछ अनुचितता भी आ जाती है। देखिये कि हम यह तो कहते ही नहीं और कहेंगे भी नहीं कि

कलम और जगतके बीच सर्व प्रकारकी समानता होनी चाहिये, परन्तु इतना तो हम कह सकते हैं और कहेंगे भी कि उन दोनोंमें कर्तृभाव-बनावटपन तो समान ही होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो बनावटका सहारा लेकर जगतके बनावटपनको सिद्ध करके और उसके द्वारा उसके बनानेवाले-कर्त्ताकी सिद्धि करनेका प्रयत्न करना यह सर्वथा निर्मूल और व्यर्थ है। सूक्ष्म विचार करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि कलम और जगतके बीच जो कृत्रिम भाव है उसमें भी यथार्थतया समानता नहीं है। क्यों कि कलम या अन्य की जा सकनेवाली वस्तुओंका कर्त्ता-उनको बनानेवाला कोई न कोई प्रत्यक्ष देख पड़ता है। आप समस्त संसारमें घूम कर देखें या अनुभव करें कि ऐसी एक भी कोई बनावटात्मक वस्तु मिल सकती है कि जिसके बनानेवालेको किसीने भी न देखा हो। इससे तो कृत्रिमभावके लिये सिर्फ देखनेमें आ सके इसी प्रकारके कर्त्ताकी अटकल या कल्पना की जा सकती है। परन्तु आपके कथन मुजब वह अदृश्य किस तरह कल्पित किया जाय? हां हो सकता है, यदि आप एक भी ऐसी चीज बतलावें कि जिसका कर्त्ता किसीसे भी न देखा जाय। हमारी समझ मुजब ऊपर कथन की हुई रीत्यनुसार जगत और कलम इन दोनोंकी समानता ही इस विषयमें सुघटित नहीं है तो उसके द्वारा जगतके रचयिताकी सिद्धिकी बातें करना यह रेतकी दीवाल खड़ी करनेके समान है। दूसरी एक यह भी बात है कि जगतमें जितनी वस्तुयें देख पड़ती हैं वे सबही किसीकी बनाई हुई हों यह कोई नियम नहीं हो सकता। कितनी एक वस्तुयें ऐसी हैं कि जो किसीकी बनाई हुई होती हैं और कितनी एक वस्तुयें विना किसीके बनाये ही होती हैं। यह आप भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि संसारमें कितनी एक चीजें ऐसी हैं कि जिन्हें किसी कर्त्ता-बनानेवाले-घड़नेवाले या बुननेवालेने की हों, बनाई हों, घड़ी हों और बुनी हों। जैसे कि चाक, लेखनी, घड़ा और कपड़ा वगैरह। इसी प्रकार ऐसी वस्तु भी बहुत हैं कि जिन्हें किसीने भी न बनाई हों। जैसे कि पर्वत, समुद्र, वृक्ष, घास और लतायें तथा विना ही बोये पैदा होनेवाली वनस्पति

वगैरह और साथही आपकी मानी हुई परमेश्वरमें रही हुई बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न आदि। इस प्रकार बनानेवाले विनाकी चीजें भी संसारमें बहुत ही बनी हुई देख पड़ती हैं, इस लिये बनानेवाले या कर्त्ताके विना कोई वस्तु बन ही नहीं सकती यह कल्पना या अटकल किस तरह सत्य मानी जाय?

कर्तृवादी—आपने जो पर्वत, समुद्र, वृक्ष तथा घासादिका सहारा लेकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि संसारमें कितनी एक वस्तुयें ऐसी भी हैं कि जिनका कोई भी बनानेवाला कर्त्ता नहीं है, यह आपकी भूल मालूम होती है। क्यों कि आप जहाँ पर जिस किसी वस्तुके बनानेवाले को नहीं देख सकते वहाँ पर उस वस्तुका बनानेवाला आपको ईश्वर समझ लेना चाहिये। इस लिये आप पूर्वोक्त उदाहरण दे कर यह नहीं कह सकते कि ऐसी भी चीजें मिल सकती हैं कि जिनका कोई बनानेवाला ही नहीं और यों कह कर आप कृत्रिमभाव द्वारा उपस्थित होनेवाली कर्त्ताकी कल्पनाको जरा भी शिथिल नहीं कर सकते।

अकर्तृवादी—महाशयजी! आपका कथन तो हास्यजनक मालूम होता है। अभीतक तो ईश्वर कर्त्ताका कहीं पता नहीं है; उसकी बनावटकी भी सिद्धि नहीं हुई है इतनेमें तो आप बीचमें ईश्वरको ही ला खड़ा करते हैं: मानो उसकी सिद्धि ही न हो गई हो। जिस वस्तुका हमारे और आपके दरम्यान अभीतक वाद विवाद चल रहा है और जिसके विषयमें अभीतक कुछ भी निर्णय नहीं हुआ बल्कि जिसके साबित होनेकी संभावना ही अभीतक नहीं है उसे आप अपनी प्रस्तुत चर्चामें किस तरह ला सकते हैं? हम क्या और दूसरे क्या जब तक ईश्वरका पता न लगे, उसकी सिद्धि न हो सके तब तक उसे बनानेवाला—करनेवाला या रचयितातया किस तरह मान सकते हैं? इस लिये आपकी पूर्वोक्त दलील सर्वथा निर्मूल है।

कर्तृवादी—निर्मूल क्यों है? इन घास और लतायें वगैरहको ईश्वर ही तो बनाता है। जहाँ जहाँ पर वह घास लता आदि जमती है वहाँ पर उसे ईश्वर ही जमाता है, वह अदृश्य हो कर उन चीजोंको

बनाता है, परन्तु वह चर्मचक्षुओंसे देखनेमें नहीं आसकता इस लिये आप यह नहीं कह सकते कि संसारमें कितनी एक वस्तुयें विना किसीके वनाये भी वन सकी हैं।

अकर्तवादी—भाई! आप जो यह फरमाते हैं कि वह ईश्वर हमारे चर्मचक्षुओंसे देखनेमें नहीं आ सकता, तो क्या वह शरीर रहित है जिससे नहीं दीख सकता? या उसमें कोई ऐसा चमत्कार है कि जिससे देखनेमें नहीं आ सकता? अथवा उसमें किसी प्रकारकी कोई विशेषता है कि जिससे वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता?

कर्तृवादी—ईश्वर जन्ममरण धारण ही नहीं करता तो वह शरीरधारी किस तरह हो सकता है? अर्थात् वह अशरीरी है और इसी कारण वह किसीको दृष्टिगोचर नहीं होता।

अकर्तृवादी—महाशयजी! यदि आपके कहे मुजव ईश्वर अशरीरी है तो फिर वह जगतको किस तरह वनाता है? या वना सकता है? यदि शरीर विना भी जगतकी रचना हो सकती हो तो मोक्ष पदको प्राप्त हुई आत्मायें कि जो शरीर रहित हैं वे भी जगतकी रचना क्यों नहीं कर सकें? तथा आत्मामें रहे हुये वुद्धि, इच्छा और प्रयत्न आदि गुण शरीरकी हयातीमें ही कार्य कर सकते हैं परन्तु शरीरके अभावमें वे कुछ भी काम नहीं कर सकते। इस लिये यदि आप ईश्वरको शरीरवाला मान सकेंगे तव ही वह जगतका रचयिता हो सकता है अन्यथा नहीं।

कर्तृवादी—भाई! ईश्वरमें तो इस प्रकारका चमत्कार है कि जिससे वह हमारे देखनेमें नहीं आसकता।

अकर्तृवादी—महानुभाव! जरा इस वातपर विचार कीजिये कि जो नजरसे दीख सकती हो ऐसी कोई भी चीज या कोई व्यक्ति वह चाहे किसी कारण रोज न देख पड़ती हो परन्तु कभी न कभी तो किसीके देखनेमें अवश्य ही आवेगी, अर्थात् जो कभी रोज न देख पड़ता हो वह कभी न कभी तो मंत्र, विद्या या योगके प्रभावसे जरूर ही नजर पड़ेगा। कोई भी विद्यावाला, मंत्रवाला या योगवलवाला ऐसा नहीं है कि जो कभी भी भूत-प्रेतके समान

किसीके देखनेमें ही न आवे। यदि ईश्वर अपने किसी प्रभाविक चमत्कारके लिये रोज न देख पड़ता हो तथापि यदि वह कर्त्ता तरीके हो तो कभी किसी वक्त तो किसी न किसी को अवश्य दीखना चाहिये। परन्तु आश्चर्य इस बातका है कि वह कभी भी किसीको दृष्टिगोचर नहीं होता। इस लिये ऐसा किस तरह माना जाय कि वह अपने किसी प्रभाविक चमत्कारके कारण नहीं देख पड़ता।

कर्तृवादी—खैर यदि आपको यह मंजूर नहीं तो जाने दो, हम यह मानते हैं कि ईश्वरमें ऐसी कोई एक जातिविशेपता है कि जिसके कारण वह हमारी दृष्टिमें नहीं आसकता और गुप्त रहकर ही जगतकी रचना करता है।

अकर्तृवादी—ठीक है यह आपका कथन आपको ही हानिकारक होगा। हमारी समझ मुजब आप जातिविशेपका अर्थ भूल गये मालूम देते हैं। आपने ही फरमाया है कि जो ज्यास्ती वस्तुओंमें रहे उसका नाम जातिविशेप है। आप तो ईश्वरको एक ही मानते हैं और उसके समान अन्य किसी चीजको नहीं मानते तो फिर बहुत चीजोंमें रहनेवाला जातिविशेप एकले ईश्वरमें किस प्रकार रह सकता है? इस लिये ईश्वरमें इस प्रकारका कोई जातिविशेप हो ही नहीं सकता कि जिससे वह किसीके भी देखनेमें ही न आवे। खैर यदि कुछ देरके लिये आपके कथनानुसार ईश्वरको जगतका कर्त्ता मान लिया जाय तो उसमें अन्यभी कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। जैसे कि यदि वह सचमुच जगतको रचता ही हो तो क्या जगत उसके अस्तित्व मात्रसे ही रचा जाता है? या उसके ज्ञानीपनके कारण रचा जाता है? अथवा उसमें ज्ञान, इच्छा प्रयत्न है उनके ही द्वारा रचा जाता है किंवा ईश्वर अपने ज्ञान, इच्छा प्रयत्न द्वारा स्वयं क्रिया करता है और उससे जगत रचा जाता है? या सिर्फ उसके ईश्वरत्वके लिये ही जगतकी रचना होती है?

कर्तृवादी—इस विषयमें हम आपको विशेष क्या कहें, हम तो ईश्वरके ऐसे उपासक हैं कि हमारी मान्यताके अनुसार ईश्वरके अस्तित्व मात्रसे ही जगतकी रचना हो जाती है।

अकर्तृवादी—महानुभाव! यह तो आपकी अन्ध श्रद्धा या विचारशून्य भक्ति है। आप जरा ध्यान देकर विचार कीजिये कि यदि जगत की रचनामें उसके सिर्फ अस्तित्वकी ही आवश्यकता हो तो इस जगतका रचनेवाला ईश्वर एक ही क्यों हो सकता है? जिस प्रकार ईश्वर हयात है उसी प्रकार लुहार, कुँभार, सुतार-बढ़ई वगैरहका भी अस्तित्व है। इन सबके अस्तित्वमें कोई ऐसी विशेषता नहीं है कि एकके अस्तित्वसे ही जगतकी रचना हो सके और दूसरेके अस्तित्वसे न हो सके। इस लिये मात्र अस्तित्वसे ही जगतकी रचनामें ईश्वरको लानेमें दूसरे भी अस्तित्व रखनेवाले लुहार, कुँभार आदि आकर ईश्वर के ईश्वरत्वका हिस्सा ले सकेंगे।

कर्तृवादी—खैर यह दलील आपके दिलमें नहीं जचती तो इसे छोड़ दीजिये, हम ईश्वरके ज्ञानीपन को ही जगत रचनाका कारण मानेंगे और उस कारण द्वारा ईश्वरको जगतकर्त्ता मानेंगे, कहिये अब तो किसी प्रकारका बाध नहीं न?

अकर्तृवादी—महाशयजी! आपकी यह दलील भी निर्मूल ही है, क्योंकि ज्ञानी तो योगी पुरुष भी होते हैं परन्तु वे कभी जगतकी रचना नहीं करते। इस लिये जगतकी रचनामें ज्ञानीपनको कारण बनाना यह सर्वथा अघटित है।

कर्तृवादी—ईश्वरमें ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ये तीनों गुण होने से वह जगतको रच सकता है, अर्थात् जगतकी रचनामें ईश्वरका ज्ञानीपन, इच्छावानत्व और प्रयत्नवानत्व ये तीनों कारणभूत हैं।

अकर्तृवादी—महाशयजी आप बराबर ध्यान नहीं रखते, हम प्रथम ही आपके समक्ष यह सिद्ध कर चुके हैं कि शरीरके अस्तित्वमें ही ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न कारणभूत हो सकते हैं और शरीरके अस्तित्व बिना ये तीनों ही आकाशपुष्पवत् निरर्थक हैं। हाँ यदि आप ईश्वरको शरीरधारी मानें तो बेशक उसके ज्ञान इच्छा और प्रयत्नको आप जगत की रचनामें कारणभूत मान सकते हैं। परन्तु जब ईश्वरको शरीरवाला ही नहीं मानते तब फिर जगतकी रचनामें उस अशरीरी ईश्वरके ज्ञान इच्छा प्रयत्न

वगैरहको भी कारणभूत नहीं मान सकते। इस लिये आपको इस वोदी दलीलका जरा भी सहारा नहीं मिल सकता।

कर्तृवादी—भाई! आपका कथन यथार्थ है परन्तु हम ईश्वर के मात्र ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नको ही जगतका कारणभूत नहीं मानते, ईश्वर इन तीनों द्वारा जो कुछ क्रिया करता है उसे ही हम जगतकी रचनामें कारणभूत मानते हैं।

अकर्तृवादी—महाशयजी! उपयोगशून्यतासे कितनी वड़ी भूल होती है। हम दो दफा इस वातका निराकरण कर चुके हैं, अव फिरसे तिसरी दफा हमें वही कहना पड़ता है कि जव ईश्वरको शरीर नहीं है तो उसके मात्र ज्ञान इच्छा और प्रयत्न द्वारा किसी प्रकारकी क्रिया ही नहीं हो सकती, फिर चाहे वह ईश्वरका भी ईश्वर क्यों न हो। इस लिये आपका कथन विलकुल निःसार है।

कर्तृवादी—अस्तु यह भी जाने दो, हम ऐसा मानते हैं कि ईश्वरके कारण ही जगतकी रचना होती है।

अकर्तृवादी—धन्यवाद! यह तो आपने नवीन ही वात निकाली!! आप जरा सोच विचार कर दलीलें पेश करते जायँ तो ठीक रहे। भला हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि ईश्वरके जिस ईश्वरत्वको आप जगत रचनाका कारण मानते हैं वह ईश्वरत्व क्या चीज है? क्या आप जानकारपनेको ईश्वरत्व कहते हैं? या कर्तृभावको ईश्वरत्व मानते हैं? या इससे भी भिन्न स्वरूपवाला ईश्वरत्व समझते हैं? यदि आप मात्र जानकारपन को ही ईश्वरत्व मानते हो तो वह जानकारपन भी किस प्रकार का समझना चाहिये? मात्र साधारण जानकारपन समझना चाहिये या सर्वज्ञपन?

कर्तृवादी—प्रथम हम मात्र निरे जानकारपनको ही ईश्वरत्व समझते हैं और उसे ही जगतकी रचनाका कारण मानते हैं।

अकर्तृवादी—आपके उपरोक्त कथन किये हुये ईश्वरत्वके अर्थसे तो ईश्वर मात्र जानकार ही सिद्ध हो सकता है परन्तु कर्त्ता सावित नहीं हो सकता। यदि जानकारपनके लिये ही जगतकी रचना हो जाती हो तो फिर हम यह पूछते हैं कि जगतमें ऐसा

कौनसा मनुष्य है कि जिसमें जानकारपन न हो? अर्थात् ईश्वर के समान ही जीव मात्रका जानकारपन जगतकी रचनामें कारण-भूत होनेसे ईश्वरके एकत्वका भंग हो जायगा। क्यों कि जानकार पन तो सबमें समान ही है।

कर्तृवादी—यदि ऐसा है तो हम ईश्वरत्वके पूर्वोक्त अर्थको न मान कर उसमें सर्वज्ञत्व मानेंगे और उस सर्वज्ञत्वको जगत रचनाका कारण मानकर ईश्वरके कर्तृत्वको सिद्ध करेंगे, फिर कहिये अब तो कोई दूपण नहीं आता न?।

अकर्तृवादी—दूपण क्यों नहीं? इसमें तो वही दूपण उपस्थित होता है। यह दूसरा मन्तव्य माननेसे कदाचित् ईश्वर बुद्धदेव वगैरहके समान समस्त जगतको जाननेवाला सर्वज्ञ साबित हो सकता है परन्तु जगतको बनानेवाला तो किसी तरह भी सिद्ध नहीं होता।

कर्तृवादी—खैर यदि यह भी आपको दूषित प्रमाण मालूम होता है तो हम ईश्वरत्वका अर्थ करनेवाला या रचयिता ही करते हैं, अब फरमाइये इसमें क्या दोप है?

अकर्तृवादी—महाशयजी! करनेवाला या कर्तृत्वभाव मानने मात्रसे आपके कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्यों कि कर्तृत्व भाव तो सबमें ही रहा हुआ है। जैसे कि जिस प्रकार ईश्वरमें कर्तृत्व भाव है उसी प्रकार कुँभार, लुहार वगैरहमें भी है तो फिर एकला ईश्वर ही कर्त्ता क्यों गिना जाय? क्यों कि कर्त्ता मात्रमें कर्तृभाव तो समान ही है। इस लिये सब ही कर्त्ताओंको ईश्वर बननेका प्रसंग उपस्थित होगा।

कर्तृवादी—खैर महाशयजी हम इन सबको छोड़ कर, अर्थात् जानकारपन एवं करनेवालापन-कर्तृकभाव इन्हें छोड़ कर इससे भिन्न जो कुछ भी उसमें है उस ही हम ईश्वरत्व समझते हैं और उसके द्वारा ही जगतकी रचना होती है, ऐसा माननेमें क्या दोष है?

अकर्तृवादी—भाई! यह तो आपकी विचित्र ही मान्यता है। आपका यह कथन हमारी या अन्य किसी भी विचारशील मनुष्य की समझमें ही नहीं आसकता। हम तो समझते हैं कि आपकी

मान्यताके अनुसार भी ईश्वरमें इच्छा और प्रयत्न के सिवाय और कुछ तीसरी वस्तु हो ऐसा मालूम नहीं होता और इसके द्वारा जगतकी रचना करनेमें कहाँ कहाँ पर दूषण उपस्थित होते हैं सो आपको प्रथम ही मालूम हो चुका है । इस लिये आपकी यह निर्मूल मान्यता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती । अर्थात् आपकी ओरसे अभीतक ऐसी एक भी दलील नहीं दी गई कि जिसके द्वारा जगतके रचयिताको साबित किया जासके ।

हम आपसे यह पूछते हैं कि आपका माना हुआ ईश्वर जगत रचनाकी जो खटपट कर रहा है क्या उसमें वह अपनी मरजीके मुताबिक प्रवृत्ति करता है ? या कर्मोंके वश होकर प्रवृत्ति करता है ? वा दयाके लिये प्रवृत्ति करता है ? अथवा लीला करनेकी वृत्तिसे प्रवृत्ति कर रहा है ? किंवा भक्तजनोंको तारने और दुष्ट-जनोंको मारनेके लिये जगत रचनामें प्रवर्तता है या इस प्रकारकी प्रवृत्ति करनेका उसका स्वभाव ही है ?

कर्तृवादी—भाई ! वह ईश्वर सर्वोपरी होनेसे जगतकी रचना उसकी इच्छानुसार ही करता है, और जगतकी रचना या उसका प्रवाह ईश्वरकी इच्छापर ही आधार रखता है ।

अकर्तृवादी—महाशयजी ! आपकी युक्ति हमारी समझमें नहीं बैठती, क्यों कि यदि ईश्वर जगतकी रचना करनेमें उसीकी इच्छा-नुसार वर्तता हो तो फिर कोई ऐसा भी समय आना चाहिये कि जिस समय जगतकी रचना किसी जुदे प्रकारकी भी हुई हो । आप यह कल्पना तो कर ही नहीं सकते कि ईश्वरकी इच्छा सदा काल एकसी ही रहती है, क्यों कि वह सर्वथा स्वतंत्र होनेसे चाहे वैसी इच्छा कर सकता है । परन्तु जगत तो सर्वदा एक ही स्वरूपमें चलता देख पड़ता है, इससे भिन्न स्वरूपमें कभी किसीनें देखा हो या सुना हो यह मालूम ही नहीं होता, इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि जगतकी रचना करनेमें ईश्वर अपनी ही इच्छानुसार प्रवृत्ति नहीं कर सकता ।

कर्तृवादी—नहीं ऐसा नहीं, किन्तु कर्मके वश होकर ईश्वर

जगतकी रचना करता है और इस कारण वह किसी प्रकारकी नहीं बनने योग्य रचना कर ही नहीं सकता।

अकर्तृवादी—बस फिर तो हो चुका मामला खतम, यदि ईश्वर भी कर्मोंके वश रहता है तो फिर वह ईश्वर ही काहेका? वह सर्व शक्तिमान् हो ही नहीं सकता, क्यों कि वह भी साधारण मनुष्योंके समान ही कर्मके वशीभूत है।

कर्तृवादी—जरा ठहरिये इसमें हमारी भूल होगई है, वह सर्व-शक्तिमान् तो जरूर है और कर्मवश होकर नहीं किन्तु मात्र दया के कारण ही वह ईश्वर परमात्मा जगतकी रचना करता है, क्यों कि वह परम दयालु है।

अकर्तृवादी—यदि वह ईश्वर दयाके कारण ही जगतकी रचना करता है तो फिर समस्त संसारको सुखी ही क्यों नहीं बनावे? क्यों कि जगतके तमाम प्राणी सुखार्थी हैं, दुःख सभी को अप्रिय है। प्राणिमात्रको सुख देना यह दयालु पुरुषका प्रथम कर्तव्य है। परन्तु जगतमें हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सुखकी भावना या सुख एक सरसोंके दानेके समान है और दुःख सुमेरु पर्वतके समान देख पड़ता है। इस कारण ऐसे दुःखी जगतको देख कर कोई भी बुद्धिमान मनुष्य यह कल्पना नहीं कर सकता कि ईश्वर मात्र दयाभावसे प्रेरित होकर ही जगतकी रचना करता है।

कर्तृवादी—ईश्वर तो परम दयालु होनेके कारण सब जीवों को सुखी ही बनाता है परन्तु जीव अपने कृतकर्मोंके लिये दुखी बन जाते हैं, इसमें भला ईश्वरका क्या दोष है?

अकर्तृवादी—बस हो चुका, तब तो आपके कहे मुजब ही ईश्वरसे भी बढ़कर कर्मोंकी शक्ति-बल अधिक सिद्ध होता है। इस लिये महाशयजी! यदि आप जगत रचनाकी उलझनमें ईश्वरको न डालकर उसके स्थान पर कर्मोंको ही मानलें तो क्या हरकत आती है?

कर्तृवादी—यदि पूर्वोक्त मान्यतासे ईश्वरकर्तृत्वसिद्धान्त उड़ जाता हो तो हम वैसा मन्तव्य मानें ही क्यों? चलो हम ऐसा

मानते हैं कि यह जगत ईश्वरकी लीला है, अर्थात् ईश्वरकी लीला द्वारा ही जगतकी रचना होती है और लीलाद्वारा ही जगतका पालन होता है।

अकर्तृवादी—महाशयजी! रागद्वेषरहित ईश्वरमें लीला किस तरह हो सकती है? ईश्वर तो वही हो सकता है कि जो लीला को भी पार कर गया हो। सर्वज्ञ सर्वदर्शी ईश्वरमें कदापि लीला नहीं हो सकती और उसके अभावसे वह जगत रचनाकी उलझनमें पड़ नहीं सकता,।

कर्तृवादी—ठीक यह भी जाने दो, हम ऐसा मानते हैं कि ईश्वर अपने भक्तोंको तारने के लिये और दुष्टोंको मारने के लिये जगत की रचना करता है।

अकर्तृवादी—आपकी यह दलील भी निर्मूल ही है क्योंकि रागद्वेषरहित ईश्वरको सर्वत्र समभाव होता है। समभावी ईश्वर का कोई भक्त या दुश्मन हो ही नहीं सकता। अर्थात् उसे किसी पर राग या द्वेष नहीं होता। ईश्वरको जगतरचयिता साबित करनेके लिये आपकी एक भी दलील युक्तियुक्त नहीं मिलती।

कर्तृवादी—खैर महाशयजी! हम आपके सामने एक दलील और पेश करते हैं यदि सीधी पड़ी तो ठीक है अन्यथा हार माननेमें हमें किसी प्रकारकी आनाकानी नहीं है। अब हम यह मानते हैं कि ईश्वरका स्वभाव ही ऐसा है जिससे जगतकी रचना हुआ करती है। अर्थात् जगतकी उत्पत्ति होनेमें ईश्वरके स्वभावके सिवाय अन्य कुछ भी कारण नहीं।

अकर्तृवादी—यह तो आपने ठीक कहा, परन्तु जब आप यहाँ तक माननेको तैयार हुवे हैं कि ईश्वरके स्वभावसे ही जगत की उत्पत्ति हुआ करती है तो यदि इसके बदलेमें यों मान लें कि कर्मके स्वभावसे जगतकी रचना हुआ करती है तो आपको क्या हरकत आती है? वास्तविक कर्मके स्वभावको छोड़कर प्रमाणरहित जबरदस्ती ही जगतकर्त्ता तरीके ईश्वरकी कल्पना करना यह हमें तो क्या परन्तु किसी भी विचारशील विद्वानको

मान्य नहीं हो सकता। इस लिये एक कर्मके स्वभावको ही जगत की उत्पत्तिका कारण मानना यह युक्तियुक्त सिद्धान्त है।

जिस प्रकार क्रियाभावसे कर्तृत्व-कर्त्ताकी सिद्धि करनेवाली आपकी पेश की हुई कल्पनायें असत्य साबित होगई हैं उसी प्रकार आपकी उस तरहकी अन्य कल्पनायें भी असत्य ही साबित होती हैं। संसारमें ऐसी हजारों वस्तुयें एवं क्रियायें होतीं हैं कि जिनका कर्त्ता बुद्धिमान हो ही नहीं सकता। यह बात हम प्रथम एक दफा कह चुके हैं तथापि विशेष समझनेके लिये यहाँ पर फिरसे उल्लेख करते हैं। गगनमें जो विद्युत-विजली चमकती है वह किस बुद्धिमानकी बनाई हुई है? निद्रावस्थामें मनुष्य जो क्रियायें करता है क्या वह उस वक्त बुद्धिमान होता है? अर्थात् बहुतसी क्रियायें बुद्धिमान कर्त्ताके विना भी संसारमें हुआ करती हैं, इस लिये कर्त्ता-को बुद्धिमान साबित करनेकी आपकी एक भी दलील सत्य नहीं ठहरती। विशेष क्या कहें जगत रचयिताको साबित करनेकी आपकी तमाम कल्पनायें रेतकी दीवारके समान हैं। क्योंकि आज तक किसी भी मनुष्यने जगत रचनेवालेको कहींपर भी नहीं देखा। आपके समान हम भी इससे उल्टी ही कल्पना कर सकते हैं कि जिस प्रकार कुँभार मट्टी, चाक तथा दंड वगैरह विना घड़ा नहीं बना सकता उसी प्रकार ईश्वर भी उसके पास किसी तरहकी सामग्री न होनेसे जगतकी रचना कर ही नहीं सकता।

दूसरी बात यह है कि जिस तरह आकाश सर्वत्र रहा हुआ है और वह निष्क्रीय है उसी प्रकार ईश्वर भी सर्वत्र रहनेके कारण किसी तरहकी क्रिया कर नहीं सकता। इस तरह किसी प्रकार भी ईश्वर जगतका कर्त्ता साबित हो ही नहीं सकता, फिर उसे नित्य, सर्वज्ञ और एक इत्यादि सब कुछ मानना सर्वथा व्यर्थ है।

हम कहते हैं कि यदि ईश्वर नित्य ही हो तो उस एकलेसे ही जगतकी रचना, रक्षा और संहार ये तीनों कार्य किस तरह हो सकते हैं? एक सदैव एक ही स्वभाववाला होता है वह परस्पर विरोध रखनेवाले कार्योंको कदापि नहीं कर सकता। इस लिये ईश्वरको नित्य मानना यह आपके ही सिद्धान्तसे विरुद्ध होगा।

तथा वह किसी प्रकार सर्वज्ञ भी साबित नहीं हो सकता, क्यों कि आपकी दलीलोंमें ऐसी एक भी दलील नहीं है कि जिसके द्वारा उसे सर्वज्ञतया मान सकें।

कर्तृवादी—महाशयजी! इतनी जल्दी न कीजिये, हमारे पास ईश्वरको सर्वज्ञ साबित करनेकी दलील है। यदि वह सर्वज्ञ न हो तो उसके बनाये हुये इस जगतमें ऐसी अनेक प्रकारकी विचित्रतायें किस तरह देख पड़ें? अर्थात् जगतमें रही हुई अगणित विचित्रतायें ही ईश्वरकी सर्वज्ञताको साबित करनेमें बस हैं।

अकर्तृवादी—यह कोई दलील नहीं कही जा सकती, जगतमें जो विचित्रता देख पड़ती है वह सिर्फ जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके लिये देख पड़ती है। प्राणियोंके अच्छे बुरे कर्मोंके कारण तो इससे भी अधिक विचित्रता जगतमें हो सकती है। इस लिये जगतकी विचित्रताके कारण ईश्वरका सर्वज्ञपन साबित नहीं हो सकता। यदि वह सचमुच ही सर्वज्ञ होता तो फिर हमारे जैसे कर्त्तापनका विरोध करनेवालोंको क्यों पैदा करता? तथा जिन असुरोंका उन्हें संहार करना पड़ा उन्हें प्रथमसे ही क्यों बनाता? एक मन्द बुद्धिवाला मनुष्य भी इतना समझता है कि जिस मकानको चिनकर ढा देना पड़े उसे चिननेकी आवश्यकता ही क्या? इस लिये बना कर मारनेकी अपेक्षा असुरोंको बनाना ही क्यों था? यदि सच पूछो तो ऐसा करनेसे उन्हें न बनानेमें ही ईश्वरकी चतुराई थी। इस तरह किसी प्रकार भी कर्त्ता ईश्वरका सर्वज्ञपन साबित नहीं होता। दूसरी बात यह है कि आप जो ईश्वरको एक मानते हैं सो भी अनुचित ही मालूम होता है। यदि आपको यह भय हो कि ईश्वर अधिक हों तो जगतकी रचनामें मतभेद उत्पन्न हो जाय और उससे जगतरचनाकी यथार्थ व्यवस्था न हो सके तो आपकी यह कल्पना सर्वथा असत्य हैं, क्यों कि मधुमक्खियें जैसे क्षुद्र प्राणी भी हजारों मिलकर ही मधुछत्ता बनाते हैं, उनमें जरा भी मतभेद या परस्पर विरोध नहीं होता और न ही उनके कार्यमें अव्यवस्था होती। अज्ञान चींटियें बहुतसी मिलकर ही अपना घर बनाती हैं;

दीमकके कीड़े बहुतसे मिलकर ही एक बड़ी बँबी बनाते हैं परन्तु उनमें कुछ भी मतभेद या विरोध नहीं होता और उससे उनके कार्यमें भी किसी प्रकारकी क्षति नहीं आती। इसी प्रकार अनेक कारीगर लोग मिलकर बड़े बड़े मकान बनाते हैं उनमें भी कभी कुछ मतभेद नहीं होता तो फिर बहुतसे ईश्वर मिलकर जगतको बनावें तो उसमें किस तरह मतभेद या अव्यवस्था हो सकती है? क्योंकि पूर्वोक्त तमाम व्यक्तियोंसे ईश्वर हजार दर्जे चतुर और निपुण हैं। तथा रागद्वेषरहित होनेके कारण एक साथ मिलकर कार्य करनेमें उनमें कदापि मतभेद या विरोध नहीं हो सकता। दूसरी एक बात यह भी है कि यदि आप ईश्वरको जगतकर्त्ता मानें तो आपको यह भी मानना पड़ेगा कि जगतमें छोटी बड़ी जितनी वस्तुयें देख पड़ती हैं वे सभी ईश्वरकी ही बनाई हुई हैं; और ऐसा माननेसे हमारे शास्त्रोंको बनानेवाले भी ईश्वर ही हैं अतः आपको उन ईश्वरप्रणीत हमारे शास्त्रोंको मान्य करना चाहिये। ऐसा माननेसे जगतमें ऐसा एक भी शास्त्र बाकी न रहेगा कि जिसे ईश्वरने न बनाया हो और ईश्वरकी बनाई हुई सब वस्तुयें प्रमाणिक होनेके कारण जगतमें कोई वादी या प्रतिवादी नजर ही न आयगा।

इस प्रकार ईश्वरको जगतकर्त्ता माननेसे अनेकानेक दूषण उपस्थित होते हैं और किसी युक्ति या दलीलसे यह बात साबित भी नहीं होती, इसी कारण हम ईश्वरको जगतकर्त्ता और उसका पालक तथा संहरता तरीके नहीं मानते। हम तो उसे रागद्वेषरहित, सर्वज्ञ तथा सत्यतत्वका प्रकाशक मानते हैं और इस प्रकारके एक अनेक ईश्वरोंको हम देवतया पूजते हैं।

सर्वज्ञवाद

जैन संप्रदायवाले अपने ईश्वरको सर्वज्ञ मानते हैं, अर्थात् ईश्वर इस लोक, अधः लोक तथा उर्ध्व लोक एवं उनमें रहे हुये चराचर पदार्थोंको जानते हैं ऐसा मानते हैं, परन्तु जैमिनि ऋषिके

मतानुयायी कहते हैं कि संसारका कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता, अतः वे दोनो मतवाले सर्वज्ञवादका निराकरण करनेके लिये नीचे लिखे मुजब चर्चा करते हैं।

जैमिनि—आप जिसे सर्वज्ञ आदि विशेषण लगाते हैं वैसा कोई देव हो ही नहीं सकता, क्योंकि इस प्रकारके देवको सावित करनेके लिये कोई भी प्रमाण नहीं मिलता।

जैन—महाशयजी! हमारी समझ मुजब तो देवकी सर्वज्ञताको सावित करनेके लिये एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही काफी है। देवकी देहधारी दशामें उसका सर्वज्ञपन प्रत्यक्ष आँखोंसे देखा जा सकता है अतः इस वातको सिद्ध करनेके लिये दूसरे प्रमाणों तथा प्रश्नोंकी कोई जरूरत ही नहीं देख पड़ती।

जैमिनि—यह तो आपका कथन हमे असत्यसा मालूम होता है। इस वातको तो आप भी मानते हैं कि वर्तमान समयमें ऐसा कोई देहधारी नहीं कि जो सर्वज्ञताको धारण करता हो। ऐसा होने पर अपनी आँखोंसे उसे कैसे देख सकते हैं? या उसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा किस तरह सिद्ध कर सकते हैं। कदाचित् आप यों कह सकते हैं कि भूतकालमें वहुतसे सर्वज्ञ होचुके हैं। परन्तु भूतकालकी वातोंको हम नजरसे नहीं देख सकते, अतः सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमें प्रत्यक्ष प्रमाणका आलम्बन लेना सर्वथा व्यर्थ है।

जैन—कदाचित् प्रत्यक्ष प्रमाणसे यह वात सिद्ध न हो सकती हो तो हम इसे अनुमान प्रमाणसे तो अवश्य ही सिद्ध कर सकते हैं।

जैमिनि—महाशयजी! यह वात तो आप भली प्रकार जानते हैं कि जहाँ जहाँ पर प्रत्यक्ष प्रमाण पहुँच सकता है वहाँ पर ही अनुमान प्रमाण काम दे सकता है। यहाँ पर तो आपके ही कथनानुसार सर्वज्ञकी सर्वज्ञताको सावित करनेमें प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ ही नहीं है, तो फिर उसके आधार पर चलनेवाला अनुमान प्रमाण किस तरह काम कर सकता है? अर्थात् अनुमान प्रमाण द्वारा भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती और इसी तरह सर्वज्ञके

जैसा अन्य कोई मनुष्य विद्यमान न होनेसे एक दूसरेकी समानता द्वारा, अर्थात् उपमान प्रमाण द्वारा भी सर्वज्ञकी सिद्धी नहीं हो सकती।

जैन—आगम-याने शास्त्रप्रमाण द्वारा उस सर्वज्ञकी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि शास्त्रोंमें कहा है कि ईश्वर सर्वज्ञ होता है।

जैमिनि—आपका यह कथन भी असत्य ही मालूम देता है, क्योंकि वे आगम किसके बनाये हुये हैं इस बातकी कुछ भी खबर नहीं। क्या मालूम कि किसी धूर्त मनुष्यने ही वे आपके आगम या शास्त्र बनाये हों? आप यह तो कह ही नहीं सकते कि शास्त्र सर्वज्ञके बनाये हैं क्योंकि अभीतक तो यह बात भी अधर ही है कि जगतमें सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं! जब सर्वज्ञका ही पता नहीं तो फिर उसकी कृति मानी ही कैसे जासके?

जैन—महाशयजी! ऐसी बहुतसी बातें हैं कि जिनका प्रतिपादन बिना सर्वज्ञके अन्य कोई कर ही नहीं सकता। जिस प्रकार सूर्यचंद्रका ज्ञान, तारामंडलका ज्ञान तथा ज्योतिष शास्त्र एवं ग्रहण आदिका ज्ञान हम वर्तमान कालमें भी प्राप्त करते हैं और इसीसे यह अनुमान लगा सकते हैं कि नजरसे न देख पड़ते हुये इन तमाम विषयोंको जनानेवाला कोई पुरुष ऐसा अवश्य होना चाहिये कि जो इन सबको जानता हो अर्थात् सर्वज्ञ हो। इस प्रकार सुगमता पूर्वक सर्वज्ञकी सिद्धि हो सकती है।

जैमिनि—आपने जो कथन किया है सो बहुत ही सोच विचार कर फरमाया है, तथापि उसमें सत्यताकी गन्ध तक नहीं आई, क्योंकि हमारे जैसा कोई भी एक मनुष्य कि जो गणित शास्त्रका अच्छा अभ्यासी और अनुभवी हो सूर्य, चंद्र, तारामंडल, ज्योतिष और ग्रहण वगैरहका ज्ञान संपादन कर सकता है और दूसरोंको करा भी सकता है, परन्तु इससे वह कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अतः पूर्वोक्त प्रकारसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता कि जो सर्वज्ञके अस्तित्वको साबित कर सके।

जैन—महाशयजी! जिस प्रकार खानमें रहा हुआ सुवर्ण

अनादिकालसे मलिन होता है तथापि अग्निके आतापसे वह शीघ्र ही विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार 'मलिन आत्मा भी धीरे धीरे ज्ञान, ध्यान, तप वगैरहका अभ्यास करते करते परम निर्मलताको प्राप्त होकर सर्वज्ञ हो सकती है, अतः इस प्रकारकी सादी-सुगम वातको साबित करनेके लिये अन्य प्रमाणोंका आश्रय लेनेकी अपेक्षा अपना अनुभव ही काफी है। यह बात तो आप भी जानते ही हैं कि—" नित पढ़ते पंडित बने लिखते लेखक होय, एक एक पद चलत ही मंजिल कमती होय "

जैमिनि—महाशयजी! आपका यह धीरे धीरे सर्वज्ञ बननेका सिद्धान्त भी हमे असत्य ही मालूम देता है। क्योंकि जो मनुष्य सदैव कूदनेका अभ्यास करता है यद्यपि वह दूसरोंकी अपेक्षा कुछ अधिक कूद सकता है तथापि वह कभी सौ योजन तो कूद ही नहीं सकता। अर्थात् अभ्यासके द्वारा भी मात्र मूल स्थितिमें ही कुछ सुधार हो सकता है उससे उपरान्त कुछ नहीं हो सकता तो फिर इससे सर्वज्ञ होनेकी बात किस तरह हो सकती है? कदाचित् कुछ देरके लिये आपको संतोषित करनेको आपके कथनानुसार हम किसीको सर्वज्ञ मान भी लें तथापि वह सर्वज्ञ समस्त संसारको किस तरह जान सकता है? क्या वह इस अखिल संसारको अपनी आँखोंसे देख सकता है? या अन्य किसी चमत्कारी ज्ञानके द्वारा जान सकता है?

बहुतसे पदार्थ दूर और छिपे हुये रहनेके कारण मात्र आँखों द्वारा ही जगतको नहीं देखा जा सकता एवं उसमें किसी प्रकारका चमत्कारी ज्ञान है या नहीं इस बातका निर्णय हुये विना यह किस तरह कहा जा सकता है कि वह चमत्कारी ज्ञानके द्वारा अखिल विश्वको जानता है?

यदि आप यों कहें कि वह सर्वज्ञ कितना एक तो आंखें वगैरह इंद्रियों द्वारा, कितना एक अटकल-अनुमान द्वारा और कितना एक शास्त्रों द्वारा इस प्रकार सारे जगतको जानता है, तो फिर जगतके सब ही मनुष्य जगतको इसी प्रकार जाननेवाले होनेके कारण उन सबको सर्वज्ञ ही क्यों न कहा जाय? दूसरी बात

यह भी है कि जिस प्रकार संसारका आदि और अन्त नहीं है उसी प्रकार उसमें रहे हुये पदार्थोंका भी अन्त नहीं है तब फिर वह आपका सर्वज्ञ अनन्त पदार्थात्मक समस्त विश्वके क्रमसे एक एक पदार्थको जानता हुआ अनन्तकाल बीतने पर भी सर्वज्ञ किस तरह हो सकेगा? और एक बात यह भी है कि जब वह सर्वज्ञ पदार्थ मात्रका जानकार होगा तो उसने अशुचि पदार्थोंके रसको भी चाखा ही होगा यह बात आपको नाक चढ़ाकर भी मंजूर करनी पड़ेगी!

हम अन्तमें आपसे सिर्फ यही पूछना चाहते हैं कि वह सर्वज्ञ भूतकालमें हो गई हुई और अब आगे होनेवाली वस्तुओंको किस आकारमें जानता है? यदि वह भूतरूप और भविष्यरूपसे जानता हो तो उसका ज्ञान भूत तथा भविष्यरूप होनेसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता परन्तु स्मरण आदिकी तरह परोक्ष ही कहा जा सकता है। यदि वह समस्त पदार्थोंको वर्तमान रूपसे जानता हो तो उसका ज्ञान भ्रांतिवाला ही कहा जा सकता है। क्यों कि भूत तथा भविष्यकालीन वस्तुओंको वर्तमान रुपसे जानना ही असत्य है। इस प्रकार किसी भी दलील, तर्क या प्रमाण द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि हो नहीं सकती। "अतः खोखले प्रमाणोंसे सर्वज्ञको साबित करनेका प्रयत्न करना व्यर्थ है"

जैन—महाशयजी! आपका अभीतक सर्वज्ञके अस्तित्वको उड़ा देनेमें ही लक्ष लगा हुआ है अतः आपको हमारी दलीलों पर पूर्ण विचार करनेका अवकाश ही नहीं मिलता। आप जरा ध्यान देकर विचार कीजिये, हम सर्वज्ञको साबित करनेकी दलील पेश करते हैं। आप जो फरमाते हैं कि सर्वज्ञको साबित करनेमें एक भी प्रमाण नहीं मिलता यह बात सर्वथा असत्य है, क्योंकि सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमें हमारा यह एक ही अनुमान प्रमाण काफी है—जिस जिस गुणमें तरतमभाव मालूम पड़ता हो वह तरतमभाव कहीं न कहीं पर किसी न किसी समय पूर्ण रीतिसे प्रकर्षताको प्राप्त होता है। जिस प्रकार परिमाणमें याने नापमें तरतमभाव मालूम होता है, अर्थात नापमें अधिकता और न्यूनता

हुआ करती है और अन्तमें उसकी पूर्ण प्रकर्षता आकाशमें मालूम होती है, इसी प्रकार ज्ञान गुणमें भी तरतमभाव मालूम पड़ता है और वह तरतमता कहीं न कहीं पर पूर्ण प्रकर्षताको प्राप्त होनी ही चाहिये। जहाँ पर याने जिसमें वह ज्ञान गुणका तरतमभाव पूर्ण प्रकर्षताको प्राप्त करता है। बस उसे ही सर्वज्ञ कहते हैं। अब आप फरमाइये कि इस प्रकारकी निर्दोष दलील द्वारा सर्वज्ञको साबित करनेमें क्या बाध आता है।

जैमिनि—हमें आपका यह भी अनुमान ठीक नहीं लगता। आपके इस कथनमें जो बाध आता है सो ध्यान देकर सुनिये, जब चुल्हे पर पानी गरम करनेके लिये रखते हैं तब गरम होते हुये उस पानीमें भी गरमीकी तरतमता होती है और आपके कथन किये मुजब यदि वह गरमीकी तरतमता कभी न कभी पूर्ण प्रकर्षताको प्राप्त होती हो तो कुछ समय बाद वह पानी ही अग्निरूप होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता तो आज तक किसीने कभी देखा। इस लिये आपका बतलाया हुआ तरतमताको उसके प्रकर्षतक पहुँचनेका नियम यथार्थ चरितार्थ नहीं होता, अतः ऐसे नियमोंसे सर्वज्ञकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती।

जैन—महाशयजी! ज्ञात होता है कि आप हमारा आशय नहीं समझ सके, हमारा कथन यह है कि जिस चीजमें जिस वस्तुमें जो सहज-स्वभाव सिद्ध गुण होता है और उसमें यदि तरतमता मालूम होती हो तो वह कभी न कभी अवश्य ही पूर्ण प्रकर्षताको प्राप्त होगी। आपने जो गरम पानीका उदाहरण देकर हमारे नियमको असत्य ठहरानेका प्रयत्न किया है सो व्यर्थ है। क्योंकि पानीमें जो उष्णताका गुण है वह कोई उसका याने पानीका स्वाभाविक गुण नहीं है, परन्तु उसमें वह अग्निके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ है। इस लिये हमारे इस नियमको खंडन करनेमें आपके उदाहरणको जरा भी स्थान नहीं मिल सकता, अतः हम इस एक ही नियमके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि करते हैं और यह विदित करते हैं कि ज्ञानगुण यह आत्माका स्वाभाविक गुण है। वह गुण उसमें तरतमताको प्राप्त करता हुआ क्रमशः पूर्ण प्रक-

पेताको पहुँच सकता है और उस गुणको अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेने पर सर्वज्ञकी सिद्धि करना कोई बड़ी बात नहीं है । आपने जो प्रथम कूदनेका उदाहरण देकर हमारे इसी नियमको शिथिल करनेका प्रयास किया है सो भी यथार्थ नहीं है । क्यों कि पानीकी उष्णताके समान कूदना यह कोई मनुष्यका स्वाभाविक गुण नहीं हैं, इस लिये आपका पूर्वोक्त उदाहरण इस हमारे नियमको ढीला करनेमें चरितार्थ ही नहीं हो सकता । दूसरी एक यह भी दलील है कि जिस तरह देख पड़ते हुये जगतमें कुवे, तालाव, पर्वत, नदी समुद्र आदि पदार्थ जानने योग्य होनेसे वे मनुष्य द्वारा जाने जाते हैं, हम उन्हें जान सकते हैं उसी प्रकार यह अखिल विश्व ज्ञेय होनेसे याने जानने योग्य होनेके कारण किसी भी द्वारा वह ज्ञापित याने जाना गया होना चाहिये । जो व्यक्ति उस अखिल ज्ञेय-विश्वको जानता है उसी महापुरुषको सर्वज्ञ कहते हैं । आप यह तो कह ही नहीं सकते कि कुवे,तालाव नदी पर्वतादि ज्ञेय नहीं याने जानने योग्य पदार्थ नहीं हैं; क्योंकि इस विषयमें किसीका भी मतभेद नहीं है ।

आपने जो पहिले यह फरमाया कि ज्योतिष वगैरहका ज्ञान तो एक गणितशास्त्र जाननेवाले मनुष्यको भी होता है, सो तो ठीक परन्तु जिस समय गणितका भी अस्तित्व न था उस समय सबसे पहिले जिसे इस विषयका ज्ञान हुआ होगा वह तो सर्वज्ञ ही होना चाहिये । उस सर्वज्ञने पूर्वोक्त गहन विषयोंको गणितशास्त्रकी पद्धति द्वारा हमें जनानेके लिये बुद्धिगम्य हो सके ऐसी सरल और सुगम शैलीसे प्रतिपादन किया है, इसी कारण हमें वे गहन ज्ञेय विषय सुगम मालूम देते हैं । परन्तु इस प्रकारके सर्वथा अगम्य विषयोंका ज्ञान सबसे पहिले विना सर्वज्ञके अन्य किसी व्यक्तिको होता हो यह बात मानने योग्य नहीं । इससे एक तीसरा यह भी अनुमान होता है कि जो कोई उपदेश विना, निशानी विना या अन्य किसीकी सहायता विना जिस विषयको जान सकता है वह अवश्य ही उस विषयको जाननेवाला या देखनेवाला हो तबही वैसा बन सकता है ।

अर्थात् जिसने अन्य किसीके उपदेश आदिकी सहायताके विना ही दूर रहे हुये सूर्य चंद्रादिक के ग्रहण वगैरहको निर्विवाद रीतिसे जनाया है वह उस विषयका जानकर अवश्य ही है। तात्पर्य यह कि दूरातिदूर रही हुई वस्तुओंको एवं जहाँपर बुद्धिवान मनुष्यकी भी बुद्धि नहीं पहुँच सकती और जो इंद्रियों द्वारा दुर्जेय है उन विषयोंको भी जाननेवाला कोई व्यक्ति अवश्य होना चाहिये और वह सर्वज्ञके सिवा अन्य कोई हो नहीं सकता। इस प्रकार इस तरहके अनेक प्रमाण मौजूद हैं कि जिनसे वहुत ही सरलता पूर्वक सर्वज्ञकी सिद्धि हो सकती है। इस लिये आपने जो यह फरमाया कि सर्वज्ञकी सिद्धिके लिये प्रमाण ही नहीं मिलता यह बिलकुल असत्य है।

जैमिनि—महाशयजी! सर्वज्ञकी सिद्धिमें रुकावट करनेवाले अन्य वहुतसे प्रमाण हैं और जहाँतक इस विषयमें वाधक प्रमाण मौजूद हैं तहाँतक सर्वज्ञको किस तरह माना जाय?

जैन—आप कृपया हमें यह वतलाइये कि सर्वज्ञकी सिद्धिमें कौन कौनसे प्रमाण रुकावट करते हैं।

जैमिनि—प्रथम तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही सर्वज्ञकी सिद्धिमें रुकावट करता है।

जैन—आप जरा कृपाकर हमे यह समझाइये कि प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञकी सिद्धिमें किस तरह रुकावट करता है? क्योंकि हमारी मान्यता मुजब सर्वज्ञ और प्रत्यक्ष प्रमाणके बीच किसी प्रकारका विरोध ही मालूम नहीं पड़ता एवं इस प्रकारका कोई सम्बन्ध भी नहीं है कि जो इस वातमें रुकावट कारक हो सके।

जैमिनि—वर्तमान समयमें कोई ऐसा हो यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना नहीं जा सकता, इसी कारण सर्वज्ञकी सिद्धिका यह प्रमाण निषेध करता है।

जैन—महाशयजी! आपकी यह दलील ठीक नहीं है, क्योंकि भूत पिशाच वगैरह भी प्रत्यक्षतया नहीं देख पड़ते, सूर्य और चंद्रमाका ऊपरी भाग तो दूर रहा परन्तु नीचेका भाग भी प्रत्यक्ष तया देख नहीं पड़ता एवं पूर्वकालमें होगये हुये हमारे पूर्वज भी

आज प्रत्यक्ष नहीं दीखते, तो क्या इससे प्रत्यक्ष प्रमाण इन सबके अस्तित्वका निषेध कर सकता है? यह बात तो आपको भी मंजूर करनी पड़ेगी कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। अतः आपका कथन आपको वापिस खींच लेना चाहिये इसीमें आपकी शोभा है।

जैमिनि—खैर जाने दीजिये प्रत्यक्ष न सही अनुमान प्रमाण तो अवश्य ही सर्वज्ञकी सिद्धिमें रुकावट करता है।

जैन—सो किस तरह? आप इसके लिये किस किस प्रकारके अनुमान करते हैं? क्या आप यों कहना चाहते हैं कि सर्वज्ञ नहीं है? या सभी सर्वज्ञ अल्पज्ञ-असर्वज्ञ हैं? या बुद्ध वगैरह सर्वज्ञ नहीं हैं? अथवा आप यह कहना चाहते हैं कि सब पुरुष सर्वज्ञ नहीं हैं?

जैमिनि—प्रथम तो हम यही कहते हैं कि सर्वज्ञ कोई है ही नहीं।

जैन—महाशयजी! ऐसा कह देने मात्रसे निषेध नहीं होता किन्तु निषेधकारक कोई कारण जनाना चाहिये।

जैमिनि—कारण यही कि कोई सर्वज्ञ मालूम नहीं देता, सर्वज्ञ होनेके कारण मालूम नहीं होते, सर्वज्ञ होनेका कुछ प्रयोजन भी मालूम नहीं होता अर्थात् सर्वज्ञकी कोई आवश्यकता मालूम नहीं होती और सर्वज्ञताके साथ नित्य रहनेवाला कोई चिन्ह भी नहीं मालूम होता, इसी कारण हम कहते हैं कि सर्वज्ञ नहीं है।

जैन—महाशयजी! यदि आपका यह सिद्धान्त हो कि जो वस्तु मालूम नहीं देती उसे नहीं मानना तो फिर आप दूसरोंके चित्तमें रहे हुये अभिप्रायोंको भी नहीं जान सकते हैं इससे उसके अस्तित्वको आप किस तरह मान सकोगे? इसी प्रकार (परमाणु पिशाच आदि) ऐसी बहुत सी वस्तु हैं कि जिन्हें आप जान नहीं सकते हैं उन्हें आप किस तरह मान सकते हैं? हमे तो यह जचता है कि जो वस्तु मालूम नहीं होती वह है ही नहीं ऐसा सिद्धान्त ही असत्य है। खैर हम आपसे एक यह प्रश्न पूछते हैं आप जो यह कहते हैं कि जो नहीं मालूम होती वह नहीं है, इसका स्पष्ट अर्थ क्या समझना चाहिये? जो वस्तु कहीं पर तो विद्यमान हो

परन्तु किसी कारण वह मालूम न देती हो उसे आप नहीं मालूम होती कहते हैं? या जो वस्तु सर्वथा कहींपर भी हो ही नहीं मालूम होती कहते हैं? इस वातका स्पष्टीकरण होना चाहिये।

जैमिनि—नहीं सर्वत्र अभाव हो ऐसा नहीं किन्तु विद्यमान हो परन्तु किसी कारण मालूम न होती हो उसे ही हम मालूम नहीं होती कहते हैं

जैन—वस हो चुका, तव तो यहाँ पर नहीं किन्तु कहीं अन्यत्र तो सर्वज्ञकी सिद्धि आपके हीं मुखसे साबित होगई और ऐसा होनेसे एतद्विषयक हमारा विवाद भी समाप्त होगया।

जैमिनि—नहीं ऐसा नहीं है। हम मालूम नहीं होनेका अर्थ ऐसा करते हैं कि जो कहींपर भी सर्वथा न हो उसे ही हम मालूम नहीं होती कहते हैं।

जैन—महाशयजी! यह मान्यता भी आपकी निर्मूल ही है, क्यों कि जो वस्तु कहींपर भी नहीं है, जिसका सर्वत्र अभाव ही है उसके वारेमें मालूम देती है या वह मालूम नहीं होती यह सवाल ही किस तरह हो सकता है? अर्थात् सर्वथा और सर्वत्र अविद्यमान वस्तुके लिये वह मालूम नहीं होती यह विशेषण कदापि नहीं शोभता। आप जो यह फरमाते हैं कि कहीं पर भी वह विद्यमान न हो, यह वात तो हमारे ही लाभदायक है। क्यों कि यह वात आप छाती ठोककर तो तभी कह सकते हैं जब कि आपने तमाम स्थान देख लिये हों और जब आप तमाम स्थलोंको जान कर वा देख कर उस वस्तुके अस्तित्व या नास्तित्वके वारेमें निश्चयात्मक कथन करें तब हम आपको ही सर्वज्ञ कह सकते हैं। इस प्रकार आपके कथनानुसार भी सर्वज्ञ साबित हो जाता है। अर्थात् कोई सर्वज्ञ कहींपर मालूम नहीं होता, यों कह कर आप सर्वज्ञका निषेध नहीं कर सकते।

जैमिनि—अस्तु, यह दलील जाने दीजिये, हम दूसरी यह दलील पेश करते हैं कि सर्वज्ञ होनेके कारण मालूम नहीं होते अतएव कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अब वतलाइये आप इसमें क्या दोष निकालते हैं।

जैन—महाशयजी ! आपकी यह दलील भी असत्य ही है, क्यों कि आत्माके ज्ञानगुणको तथा उसके विकासको रुकावट करनेवाले कर्मोंका विनाश होना यह सर्वज्ञ होनेका मुख्य कारण है और यह कारण सदैव अस्तित्व धारण करता है। यह विषय हम आपके समक्ष अग्र विशेषरूपसे कथन करेंगे इसलिये आप यह तो कह ही नहीं सकते कि सर्वज्ञ होनेके कारण मालूम नहीं होते अतः कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

जैमिनि—खैर हम यह कहते हैं कि सर्वज्ञ हुये बाद उसका दुनियामें काम या प्रयोजन क्या है? जब इस बातका ही पता नहीं लगता तो फिर निष्प्रयोजन उस निकम्मे सर्वज्ञको हम किस लिये मानें?

जैन—सर्वज्ञके कामका आपको भले ही पता न लगता हो परन्तु हमे तो उसके कामका पूर्णतया पता मिला हुआ है और वह यही है कि सर्वज्ञ हुये बिना कोई भी वक्ता पूर्णतया सत्य नहीं बोल सकता, विवादरहित विषयोंको यथार्थतया नहीं कह सकता और किसी भी सूक्ष्म वस्तुस्वरूपको संपूर्ण सत्य स्वरूपमें न तो स्वयं समझ सकता और न ही दूसरोंको समझा सकता है। इस प्रकारके सर्वज्ञके किये हुये कार्य आज वर्तमान समयमें भी विद्यमान होनेके कारण सर्वज्ञ हुये बाद उसका दुनियामें क्या काम या प्रयोजन है? ऐसा कहने मात्रसे आप सर्वज्ञका निषेध कर नहीं सकते।

जैमिनि—हमे तो सर्वज्ञताके साथ निरन्तर रहनेवाला ऐसा एक भी चिन्ह मालूम नहीं देता इसी कारण हम यह कहते हैं कि जगतमें कोई सर्वज्ञ नहीं है तो फिर इसमें अनुचित ही क्या है?

जैन—महाशयजी ! अनुचित नहीं तो उचित भी नहीं है; आश्चर्य तो सिर्फ इसी बातका है कि जो आपको मालूम नहीं देता वह हमे मालूम तुरन्त ही हो जाता है। सर्वज्ञता और सर्व पदार्थोंका साक्षात्कार ये दोनों साथमें निरन्तर एक स्थानमें ही रहते हैं और सर्व पदार्थोंका साक्षात्कार यह सर्वज्ञताका मुख्य

चिन्ह है। सर्वज्ञताके साथ निरन्तर रहनेवाला एक भी चिन्ह नहीं मिलता इसलिये सर्वज्ञ है ही नहीं ऐसा कहकर आप सर्वज्ञ को न माननेकी भूल न कीजिये। पूर्वोक्त निशान-चिन्हको साबित करनेके लिये इस जगतका अनुमान प्रमाण भी मिलता है। जिस प्रकार आँखोंके ऊपरसे पलक वगैरह एक तरफ हट जानेसे आँखोंकी देखनेकी सहज शक्ति आपसे आप प्रगट हो जाती है और उसके द्वारा हरएक प्रकारका रूप देखा जा सकता है उसी प्रकार आत्मा परके कर्मरूप पड़ल दूर हट जानेसे उसमें रही हुई अनन्त पदार्थोंको जाननेवाली स्वाभाविकी शक्ति स्वयं प्रगट हो जाती है और उस अनन्त वस्तुज्ञापकशक्तिद्वारा वस्तु मात्र या पदार्थ मात्र जाना जासकता है—तब ही उस शक्ति का धारक सर्वज्ञ कहलाता है। इस तरह सर्व पदार्थोंके साक्षात्कारकी सम्बन्ध ग्रन्थी सर्वज्ञताके साथ निरन्तर ही लगी रहती है और वह किसी भी समय किसीसे जुदी नहीं की जा सकती। इस प्रकार आपकी किसी भी दलीलसे सर्वज्ञका निषेध सिद्ध नहीं हो सकता।

जैमिनि—महाशयजी! आप ऐसा क्यों फरमाते हैं? हमे ऐसे बहुतसे साधन मिले हैं कि जो सर्वज्ञका विरोध करते हैं और इसी कारण हम सर्वज्ञका स्वीकार नहीं करते।

जैन—आपको जितने साधन सर्वज्ञका विरोध करनेवाले मिले हों कृपया वे सब हमे जना देना चाहिये कि जिससे हम आपका निराकरण कर सकें। हम आपसे यह पूछते हैं कि सर्वज्ञका विरोध करनेवाले जो साधन आपको मिले हैं क्या वे आपने समस्त संसारमेंसे प्राप्त किये हैं? या अमुक किसी जगहसे प्राप्त किये हैं।

जैमिनि—सो तो हमने किसी अमुक जगहसे ही प्राप्त किये हैं?

जैन—महाशयजी! आपने जहाँसे उन साधनोंको प्राप्त किया हो वहाँ पर ही वे सर्वज्ञका निषेध कर सकते हैं, परन्तु अन्यत्र उन साधनों द्वारा सर्वज्ञका निषेध हो नहीं सकता। अर्थात् उन साधनोंसे आप सर्वज्ञका सर्वथा निषेध नहीं कर सकते।

जैमिनि—जरा ठहरियेगा, ऐसा नहीं है। पूर्वोक्त साधन कि जो

सर्वज्ञका विरोध करते हैं वे हमने समस्त संसारमें ढूंढ़ ढूंढ़ कर प्राप्त किये हैं और इसी कारण हम सारे संसारमें सर्वज्ञका निषेध करते हैं।

जैन—आपका यह कथन भी आपको ही बाधक होता है। जब आपने सारे संसारमेंसे वे साधन ढूंढ़ ढूंढ़ कर प्राप्त किये हैं तब तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ होते हुये सर्वज्ञका निषेध किस तरह कर सकते हैं? यह तो आपके ही श्रीमुखसे अनायास ही सर्वज्ञकी स्थापना हो गई। इस लिये हम मानते हैं कि आप किसी प्रकारकी आनाकानी किये विना ही अब सर्वज्ञकी तरफदारी करेंगे, क्यों कि अब तो किसी भी दलीलसे सर्वज्ञका निषेध नहीं हो सकता।

जैमिनि—महाशयजी! सर्वज्ञ नहीं हैं हम ऐसा न कहेंगे परन्तु सर्वज्ञ असर्वज्ञ है यों कहकर सर्वज्ञका निषेध करेंगे। अब फरमाइये इसमें क्या बाधा आती है?

जैन—और तो क्या बाधा आ सकती है, परन्तु इस प्रकारका वचन ही आपके मुखसे नहीं शोभता। क्यों कि पंडित जन कदापि परस्पर विरोधी वचन नहीं बोलते और आपका यह वचन कि सर्वज्ञ असर्वज्ञ है सर्वथा विरोधी है। इस लिये इस प्रकारकी शब्द रचनाद्वारा भी सर्वज्ञका निषेध नहीं हो सकता। भला आप जो यह कहते हैं कि सर्वज्ञ असर्वज्ञ है ऐसा कहनेका हेतु क्या है? क्या वह सर्वज्ञ अप्रमाणिक वस्तुओंको कथन करता है? या प्रामाणिक वस्तु स्वरूपका कथन करता है? किंवा कुछ भी कहता है?

जैमिनि—वह सर्वज्ञ अप्रामाणिक वस्तुओंको कथन करता है इसी लिये वह असर्वज्ञ है।

जैन—महाशयजी! यह तो आपने सर्वथा सत्य ही कहा, क्यों कि ऐसे अप्रामाणिक वस्तु स्वरूपको कथन करनेवालेको तो हम भी असर्वज्ञ ही मानते हैं। जो महापुरुष सर्वज्ञ होता है वह तो कदापि असत्य शब्दतक उच्चार नहीं करता। इसलिये आपकी यह दलील कुछ सर्वज्ञका निषेध नहीं करती।

जैमिनि—सर्वज्ञ प्रामाणिक वस्तु स्वरूपका कथन करता है इस लिये वह असर्वज्ञ है।

जैन—महाशयजी! इसमें भी आपकी भूल मालूम होती है। प्रामाणिकतया प्रामाणिक वस्तुस्वरूप कथन करना यह तो सर्वज्ञका धम ही है, सर्वज्ञका कर्तव्य ही है और यही तो सर्वज्ञ-का मुख्य चिन्ह है। इस लिये प्रामाणिक वस्तुस्वरूपका कथन करनेसे कोई भी सर्वज्ञ असर्वज्ञ साबित नहीं हो सकता परन्तु इससे विपरीत असर्वज्ञ सर्वज्ञ हो सकता है, यह बात तो स्पष्ट ही है। अतः आप इस प्रकार इधर उधर हाथ पैर पछाड़नेसे सर्वज्ञका निषेध कदापि नहीं कर सकते।

जैमिनि—ठीक है, चलो हम ऐसा मानते हैं कि सर्वज्ञ बोलता है इसी लिये वह असर्वज्ञ है।

जैन—महाशयजी! आप जरा विचार करके बोलते जाँय तो ठीक रहे, बोलनेकी क्रियाके साथ जब सर्वज्ञताका किसी प्रकार विरोध ही नहीं है तब फिर आप यह कह ही कैसे सकते हैं कि बोलनेवाला पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसी प्रकार बुद्ध वगैरह सर्वज्ञ नहीं, सब पुरुष सर्वज्ञ नहीं हैं इस तरहके आपके तमाम अनुमानोंको दूषणवाले ही समझ लेना चाहिये। देखिये कि यदि आप ऐसा फरमायें कि बुद्धदेव सर्वज्ञ नहीं है तो इसीसे अर्थात् ऐसा कथन करनेसे ही स्पष्टतया यह अर्थ मालूम हो जाता है कि अन्य कोई सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिये और इस तरह सर्वज्ञके निषेधके लिये लगाई हुई आपकी ही युक्तिसे सर्वज्ञ साबित हो जाता है। आप जब यह कथन करते हैं कि पुरुष मात्र सर्वज्ञ नहीं तब तो स्वयं आप ही सर्वज्ञ सिद्ध हो जाते हैं, क्यों कि अनुमान करते समय आप समस्त संसारके पुरुषोंके विषयमें ऐसा कथन करते हैं। इस प्रकार आपका एक भी अनुमान सर्वज्ञकी सिद्धिमें जरा भी हरकत नहीं पहुँचा सकता।

जैमिनि—परन्तु शास्त्रमें ऐसा कहाँ लिखा है कि कोई सर्वज्ञ हो सकता है? अर्थात् शास्त्रमें सर्वज्ञके साथ सम्बन्ध रखनेवाला उल्लेख न मिलनेसे ही हम ऐसे अशास्त्रीय सर्वज्ञको नहीं मानते।

जैन—आप जिस शास्त्रकी बात करते हैं वह शास्त्र किसीका बनाया हुआ है याने पौरुषेय है ? किंवा ऐसे ही बना हुआ याने अपौरुषेय है ?

जैमिनि—शास्त्र तो ऐसे ही सिद्ध है, अर्थात् किसीका बनाया हुआ नहीं—अपौरुषेय है।

जैन—महाशयजी ! यह तो एक नवीन ही बात सुनते हैं ! भला कहीं शास्त्र भी बिना बनाये ऐसे ही सिद्ध हो सकते हैं ? और ऐसे शास्त्रको सत्य भी कौन मान सकता है ? जिस शास्त्रके रचनेवाला प्रमाणिक पुरुष होता है वही शास्त्र सत्य माना जाता है, परन्तु जिसके बनानेवालेका ही पता नहीं वह कदापि सत्य नहीं माना जा सकता। इसलिये आप बिना ही बनाये यों ही स्वयं बने हुये शास्त्रकी गप्प जाने दीजिये। कदाचित् आप वेदोंको स्वयं ही बने हुये मानते हों तो उनमें हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः ऐसा साफ उल्लेख मिलता है और इससे साफ साफ सर्वज्ञकी सिद्धि हो जाती है। तथा वेद मात्र विधि विधान ही कथन करते हैं, इससे विधि विधानों द्वारा सर्वज्ञका निषेध हो नहीं सकता। इस लिये कोई भी शास्त्र ऐसा नहीं है कि जो सर्वज्ञकी सिद्धिमें बाधा पहुँचा सकता हो।

जैमिनि—अस्तु अनुमान प्रमाण और शास्त्र प्रमाण जाने दो परन्तु हम उपमान प्रमाण द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि रोक सकते हैं

जैन—महाशयजी ! उपमान प्रमाण तो प्रत्यक्ष प्रमाण जैसा ही है। अर्थात् उसमें एक दूसरेकी समानता प्रत्यक्ष दिखलाने द्वारा ही वस्तुका यथार्थ ज्ञान कराया जाता है। कदाचित् आप यह कहनेका साहस करें कि संसारके समस्त मनुष्योंके समान ईश्वर भी असर्वज्ञ है, ऐसा कथन करनेसे हमारा बतलाया हुआ वही पूर्वोक्त दूषण लागु पड़ता है कि ऐसा कहनेवाला स्वयं ही सर्वज्ञ साबित होता है। क्यों कि संसारके समस्त मनुष्योंको बिना सर्वज्ञके अन्य कोई जान नहीं सकता। इस प्रकार उपमान प्रमाण द्वारा भी सर्वज्ञकी सिद्धिमें कुछ त्रुटि नहीं आसकती। ऐसा एक भी भाव (वस्तु या क्रिया) नहीं है कि जो सर्वज्ञके न होने पर ही

बन सकता हो। इससे यदि आपके वेदाको प्रामाणिक ठहराना हो तो आपको सर्वज्ञ माननेकी अत्यावश्यकता है। क्योंकि सर्वज्ञके किये हुये शास्त्र सदैव प्रामाणिक ही माने जाते हैं, माने गये हैं और माने जायँगे। इस तरह एक भी प्रमाण सर्वज्ञके अस्तित्वमें हरकत नहीं पहुँचा सकता। इस लिये प्रामाणिकतासे आपको सर्वज्ञका स्वीकार अवश्य करना चाहिये। अब हम आपके प्रथम किये हुये सवालोंका जवाब देते हैं। आपने यह सवाल किया था कि सर्वज्ञ सारे संसारको किस तरह जान सकता है?

जवाब—उस सर्वज्ञको संपूर्ण रीत्या केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हुआ है अतः उस अनन्त वस्तुविषयक केवल ज्ञान और केवल दर्शन द्वारा ही वह अखिल संसारको जानता और देखता है। उसे कोई वस्तु जाननेके लिये इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

२ आपने सर्वज्ञको अशुचि पदार्थोंके रसको चाखनेकी जो बात कही थी उसके बारेमें खुलासा इस प्रकार है।

उ० वह सर्वज्ञ आपके समान किसी भी वस्तुका रस चाखनेके लिये रसना इंद्रिय—जीभका उपयोग नहीं करता। वह उसके केवलज्ञान द्वारा ही वस्तु और उसके गुणदोषोंको जान सकता है, अतः आपका पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं।

३ आपने फरमाया था कि संसार अनन्त है, उसमें रही हुई वस्तुयें भी अनन्त हैं तो फिर एक एक वस्तुको क्रमसे जानता हुआ वह किस तरह और कब उन तमाम वस्तुओंको जानकर सर्वज्ञ हो सकेगा?

उ० जिस प्रकार एक पढ़े हुये मनुष्यको उसका सब कुछ पढ़ा हुआ एक साथ ही भासित होता है उसी प्रकार उस सर्वज्ञको भी उसके केवल ज्ञान द्वारा विश्वके समस्त स्थिर अस्थिर पदार्थोंका जानपन एक साथ ही होता है। कैवल्य प्राप्त होने पर उसे क्रमसे एक एक वस्तु जाननेकी जरुरत नहीं रहती।

४. आपने जो यह फरमाया था कि भूतकालीन वस्तुको भूत

स्वरूप और भविष्यकालीन वस्तुको भविष्य स्वरूपमें जाननेसे सर्वज्ञके ज्ञानमें परोक्षत्व आ जायगा।

उ० यह आक्षेप भी आपका असत्य ही है। यद्यपि वर्तमानकालकी अपेक्षा भूतकालकी तथा भविष्यकालकी ये दोनों वस्तुयें असत्रूप हैं तथापि वह था और यह होवेगा, इस प्रकारका ज्ञान सर्वज्ञको होनेसे इसमें किसी तरहकी विपत्ति नहीं आ सकती। इस प्रकार अन्तमें सुख और दुखके अस्तित्वमें जैसे किसीका विवाद नहीं हो सकता उसी प्रकार सर्वज्ञ भी निर्विवाद सिद्ध हो चुका है, अतएव हम (जैन लोग) ईश्वरको सर्वज्ञ मानकर ही देव तया पूजते हैं॥

'कवलाहार–वाद'

दिगम्बर जैन कहते हैं कि उपरोक्त जो सर्वज्ञकी सिद्धि की सो हमें भी मंजूर है परन्तु इस विषयमें हमारा कथन है कि इस प्रकारके अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और शक्तिको धारण करनेवाले सर्वज्ञको हमारे समान आहार करनेकी आवश्यकता मालूम नहीं देती। इसी लिये हम केवलज्ञानीको 'कवलाहारकी आवश्यकता नहीं मानते। इस विषयके साथ सम्बन्ध रखनेवाली व्योरेवार चर्चा निम्नलिखे मुजब है—

दिगम्बर जैन—' कोई भी केवलज्ञानधारी ज्ञानी कवल आहार नहीं करता, क्योंकि वैसा करनेका उसे कुछ कारण नहीं। शास्त्रमें कवलाहार करनेके छह कारण बतलाये हैं जैसे कि— पेटमें क्षुधाकी पीड़ा होना, किसीकी सेवा करने जाना, जाते आते सावधानता रखना, संयमका पालन करना, जीवनका निर्वाह करना, और धर्म तत्वका विचार करना। इन छहमेंसे एक भी कारण केवलज्ञानीके साथ सम्बन्ध रखनेवाला मालूम नहीं होता। इसलिये वे किस तरह आहार करें ?।

१. यदि यों कहा जाय कि, केवलज्ञानीको भी वेदनीय कर्मका उदय होता है इसीसे पेटमें क्षुधा पीड़ा होनेका संभव है और इसी लिये उन्हें भोजन करनेकी भी आवश्यकता है, तो यह दलील यथार्थ नहीं है क्यों कि केवलज्ञानीके उदयमें आनेवाला वेदनीय

कर्म जली हुई रस्सीके समान निर्बल होता है, इससे उन्हें किसी प्रकारकी वेदना याने अनुभव होता हो तो भले हो परन्तु उन्हें किसी-प्रकारकी क्षुधा पीड़ा होनेका तो कोई कारण ही नहीं, क्यों कि वे अनंत वीर्यवाले हैं और ऐसे अनंत वीर्यवालेको पीड़ा किस-प्रकार संभव हो सकती है ?।

२. आहार करनेसे शरीर बलवान रहनेके कारण केवल ज्ञानीको दूसरे-किसीकी सेवा करनेका लाभ मिलता है इसलिये उन्हें आहार करनेकी आवश्यकता जान पड़ती है यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि केवलज्ञान हुए बाद वह केवल ज्ञानी त्रैलोक्य पूज्य बनते हैं इसलिये उन्हें किसीकी भी सेवा करनेका प्रसंग बाकी नहीं रहता।

३-४. गमनागमनके समय सावधानता रखना और संयमका पालन करना ये भी कुछ आहार लेनेके साधन नहीं हैं क्योंकि केवलज्ञानी अपने केवलज्ञान और केवल दर्शनके द्वारा ही गमना-गमनके समयकी सावधानता रखकर पूर्ण अहिंसा पाल सकते हैं और उनका चारित्र भी जैसा शास्त्रमें कहा है वैसा ही उच्च (यथाख्यात) होनेसे वे मात्र अपने अनंत वीर्यसे आहार ग्रहण किये बिना ही उसे पाल सकते हैं अतः उन्हें सावधानता रखनेके लिये या संयमका पालन करनेके लिये भी आहार लेनेकी आवश्यकता नहीं है।

५. उनके जीवनके निर्वाहके लिये भी उन्हें आहार करनेकी जरूरत नहीं, क्योंकि उनका आयुष्य किसी भी प्रकार टूट नहीं सकता। अर्थात् चाहे जैसी बड़ेसे बड़ी आपत्तिमें भी वे सुखसे-जी सकते हैं और उनका वीर्य अनंत होनेके कारण फक्त जीवन निर्वाहके लिये ही उन्हें आहार लेनेकी कोई जरूरत नहीं पड़ती।

६. केवलज्ञानीको धर्मतत्वका विचार करनेकी जरा भी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होनेके कारण बिना ही विचार किये सब कुछ जान और देख सकते हैं इस लिये इस कारणसे भी उन्हें भोजन करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। इस प्रकार आहार करनेके इन कारणोंमेंसे केवल-

ज्ञानीके लिए एक भी कारण ऐसा मालूम नहीं देता कि जिससे उन्हें भोजन करना पड़े। इसी लिये उन्हें हम निराहारी मानते हैं।

श्वेताम्बर जैनः—महाशयजी! आपने जो केवलज्ञानीको निराहारी सिद्ध करनेका प्रयास किया है वह हमारी समझ मुजब बिलकुल निरर्थक है। हम मानते हैं कि केवलज्ञानीको आहार करनेकी आवश्यकता है क्योंकि आहार करनेके जो जो कारण बतलाये हैं वे सब उनसे सम्बन्ध रखते हैं। आहार करनेके कारणोंका क्रमसे निर्देष इस प्रकार है--परिपूर्ण शरीरकी रचना, वेदनीय कर्मका उदय, आहारको पचानेके लिये मिला हुआ तैजस शरीर और लंबा आयुष्य, ये चार वस्तुयें जिसको होती हैं उसे बिना आहारके चल ही नहीं सकता। जिसे हम केवल ज्ञानी कहते हैं उसे भी ये चार वस्तुयें होती हैं, इसलिये वे बिना भोजन किये किस तरह रह सकते हैं? केवलज्ञान होनेसे पहले तो केवलज्ञानी भोजन करते थे और अब केवल ज्ञान हुए बाद ऐसा कौनसा परिवर्तन उनके शरीरमें हो गया है कि जिससे उन्हें भोजन करनेकी जरूरत ही न पड़े? आपने जो यह कहा कि केवल ज्ञानीके उदयमें आनेवाला वेदनीय कर्म जली हुई रस्सीके समान निर्बल होता है; आपका यह कथन यथार्थ नहीं। क्यों कि यदि केवल ज्ञानीके उदयमें आनेवाला वेदनीय कर्म निर्बल हो तो वह अत्यंत सुखका अनुभव किस प्रकार कर सकता है? और शास्त्रमें तो केवल ज्ञानीको अत्यंत सुखका उदय फरमाया है। इस से ही यह सिद्ध हो सकता ह कि उसके उदयमें आनेवाला वेदनीय कर्म (सुख वेदनीय या दुःख वेदनीय) निर्बल नहीं हो सकता है। तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश होनेसे उसे परिपूर्ण ज्ञान तो प्रगट होता है परन्तु इससे उन्हें भूख ही न लगे यह किस तरह बन सकता है? क्योंकि भूख लागनेका कारण जो वेदनीय कर्म है उसका तो अभी उसने नाश नहीं किया है। इसलिये वेदनीय कर्मके कारण भूख लगनी ही चाहिये और इसी लिये उन्हें आहार भी लेना चाहिये। तथा जिस प्रकार धूप और छाया परस्पर विरोधी होनेके कारण एक साथ नहीं रह

सकते उस प्रकार कुछ ज्ञान और भूखको परस्पर विरोध नहीं कि जिससे वे दोनों एक साथ न रह सकें।

तथा जिस प्रकार केवल ज्ञानीको सुखका उदय होता है उसी प्रकार दुःखका भी उदय होता है और इससे (दुःख वेदनीयका उदय होनेके कारण) वह अनंत वीर्यवान है तथापि उसके शारीरिक बलकी क्षीणता और भूखके कारण पेटमें क्षुधापीड़ा तक होती है, इसी लिये उन्हें निराहारी माननेका कोई कारण नहीं। आहार लेनेसे केवल ज्ञानीको भी किसी प्रकारकी हरकत नहीं होती। तथा आपने जो यह कहा कि केवल ज्ञानीको वेदनीयकी उदीरणा नहीं होती और इसीसे अधिक पुग्दलोंका उदय न होनेके कारण उन्हें विलकुल पीड़ा नहीं होती, यह कथन भी आपका यथार्थ नहीं, क्योंकि चतुर्थ आदि गुणस्थान वेदनीयकोंमें कर्मकी गुणश्रेणी होती है और इसी लिये वहाँपर अधिक पुग्दलोंका उदय होनेपर भी पीड़ा तो वहुत ही कम होती है और श्री जिनको सुख वेदनीयके प्रचुर पुग्दलोंका उदय न होने पर भी सुख तो वहुत ही होता है। इससे यह सावित हो सकता है कि वहुत पुग्दलोंके उदयके साथ सुख या दुःखकी अधिकताका कोई सम्वन्ध नहीं है। इस लिये आपके कहे मुजव कि वहुत पुग्दलोंका उदय न होनेसे उन्हें सर्वथा पीड़ा नहीं होती यह कथन यथार्थ नहीं हैं।

तथा आप जो यह फरमाते हैं कि आहार करनेकी इच्छा करना यह भूख है और ऐसी इच्छा एक प्रकारकी मूर्च्छारूप होनेसे मोहनीय कर्मका अंश है, तो जो केवल ज्ञानी निर्मोहित हुये हैं उन्हें मोहकी पुत्री जैसी भूख किस तरह लग सकती है? यह कथन भी आपका यथार्थ नहीं है, क्योंकि भूख और मोहके वीच किसी प्रकारका सम्वन्ध ही नहीं। जिस तरह मोह या उसके विकार क्रोध मान, माया और लोभ वगैरहको दूर करनेके लिये उससे विरुद्ध भावना याने अमोही, अक्रोधी, अमानी, अमायी और अलोभी होनेका विचार करना पड़ता है उसी प्रकार कुछ भूखको दूर करनेके लिये निराहारी रहनेके विचार मात्रसे ही कुछ कार्य नहीं सरता किन्तु कुछ न कुछ पेटमें डालना ही पड़ता है। इससे यह स्पष्ट

मालूम होता है कि भूख और मोहके बीच किसी भी तरहका सम्बन्ध नहीं है। यदि कुछ सम्बन्ध होता तो जिस उपायसे मोह दूर होता है उसी उपायसे भूक भी दूर होनी चाहिये। परन्तु इस प्रकारका अनुभव कहीं भी देखने या जानने एवं सुननेमें नहीं आया अतएव भूखको मोहका अंश गिननेकी आपकी कल्पना उचित नहीं है।

हमारी तो यह मान्यता है कि केवल ज्ञान होनेसे पहिली दशामें और केवल ज्ञानकी दशामें किसी प्रकारका शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाला विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, तो फिर जिस प्रकार आप केवलीको निराहारी माननेका हट करते हैं उसी प्रकार केवली होनेसे पहली दशामें भी ऐसा हट क्यों नहीं करते ? इन दोनों स्थितिमें उसका आयुष्य तो किसी भी प्रकार टूट ही नहीं सकता इस लिये आपकी दलीलके अनुसार तो उसे केवलज्ञान होनेसे पहले भी आहार करनेकी आवश्यकता न होनी चाहिये। क्या! आप यह मानते हैं कि केवलज्ञान होनेसे पहले यदि आहार न ग्रहण किया जाय तो उस वक्तके अन्य चार ज्ञानको धक्का पहुँचे? महाशयजी! आपको यह बात भुला देने जैसी नहीं है कि भूख और मोहके समान ही भूख और ज्ञानका इसी प्रकारका कि जो एकसे परस्पर दूसरेको हानि पहुँचे सम्बन्ध ही नहीं। जब यह बात है तो फिर भूखसे ज्ञान या ज्ञानीको किस प्रकार और क्या हानि हो सकती है? कदाचित् आप यह कहें कि केवली भी भोजन करनेकी गरज रखे तो फिर उसका अनंतवीर्य ही कैसे कहा जाय? जब आप ऐसा कहकर केवलीके अनंतवीर्यका बचाव करते हैं तब कोई यह भी कहेगा कि यदि केवली अनंत वीर्यवान् है तो फिर मुक्ति प्राप्त करनेमें उसे सम्यक्त्वकी गरज किस लिये रखनी चाहिये? जीनेमें उसे आयुष्यकी गरज किस लिये रखनी चाहिये? और चलनेमें एवं बोलनेमें उसे पैरों और मुखकी गरज किस लिये रखनी चाहिये? यदि वह केवली पूर्वोक्त प्रवृत्तियोंके लिये, पूर्वोक्त समस्त साधनोंकी गरज रखता है तो आपके हिसाबसे उसका अनंत वीर्य कहाँ रहा? फरमाइये अब आप किसी भी केवलीको अनंतवीर्यवान् किस

तरह मान सकेंगे? महाशयजी! यदि आप इस वातपर गहरा विचार करेंगे तो आपको मालूम होगा कि अनंत वीर्यवान् कोई अपने हाथ पैर, मुख, कान, जीभ, नाक, दांत, होठ, और आंख वगैरह साधनोंको फेंक नहीं देता-काट नहीं डालता एवं इन साधनोंके रहनेसे उसकी अनंतवीर्यतामें भी किसी तरहकी क्षति नहीं पहुँचती। उसी प्रकार यदि केवल ज्ञानी शरीर टिका-रखनेके साधन आहारको ग्रहण करे तो उसमें उसकी अनंतवीर्यताको जरा भी आंच नहीं आसकती। इस लिये जिस तरह आप उसे देव छंदमें विश्रांति दिलाते तथा उसकी गमनागमन क्रियाको और वैठनेकी क्रियाको स्वीकृत करते हें उसी प्रकार किसी तरहका विरोध मालूम न देनेसे उसके आहारकी क्रिया भी स्वीकृत करनी चाहिये, अर्थात् आप तो आनन्दके साथ भोजन करें और आपके पूज्यको भूखा रहना मानो, यह वात किसी भी तरह युक्तियुक्त मालूम नहीं देती। तथा आप यह भी न समझना कि वलवान् वीर्यवालेको कम भूख होती है, क्यों कि ऐसा कोई नियम नहीं है।

जिस शास्त्रको हम और आप समान विधिसे मानते हें उसमें भी केवल ज्ञानीको भोजन ग्रहण करनेका उल्लेख आता है। देखिये तत्वार्थसूत्रके नववें अध्ययनमें 'एकादश जिने' (११) इस सूत्र द्वारा विदित किया है कि केवल ज्ञानीको ग्यारह परिग्रह होते हैं, जिसमें पहला भूखका, दूसरा प्यासका एवं क्रमसह ठंडीका, तापका, डांसका, मच्छरका, चर्याका, संसारका, वधका, रोगका और तृण स्पर्शका। क्योंकि केवल ज्ञानीको इन परिग्रहोंके कारणभूत वेदनीय कर्मका उदय होनेसे इन परिग्रहोंका सम्बन्ध है। इस सूत्रके द्वारा भी यह सिद्ध हो सकता है कि केवलीको भूख भी लगती है। इस लिये इस परसे यह स्पष्टतया जाना जा सकता है कि केवलीको भूख लगनेके कारण पीड़ा तो होती ही है परन्तु वह अनंतवीर्यवान् होनके कारण हमारे समान पीड़ित नहीं होता एवं विह्वल भी नहीं होता। उसे अब कोई भी कार्य वाकी न रहनेसे विना किसी कारण वह भूखको सहन नहीं करता। भूखको सहन करना यह एक प्रकारका तप है परन्तु केवलज्ञान होने वाद

तप करनेकी कोई जरूरत न होनेसे वह केवली उस प्रकारके किसी तपको नहीं करता। अर्थात् केवलीको भूखा रहनेका अब कोई भी कारण बाकी नहीं रहता। इस विषयको विशेषतः निश्चित करनेके लिए कितने एक अनुमान भी किये जासकते हैं और वे इस प्रकार—

केवलज्ञानीका शरीर हमारे शरीरके जैसा ही है इस लिये इस शरीरमें भूखा रहनेसे जो पीड़ा हमें होती है वह उसे भी हो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। अतः केवलज्ञानीको भी हमारे समान भोजन करनेकी जरूरत है। कदाचित् यहाँ पर आप यह कहें कि केवलज्ञानीका शरीर हमारे शरीरके जैसा नहीं, क्योंकि उसका शरीर तो स्वभावसे ही पसीना और दुर्गंधसे रहित होता है और हमारा शरीर पसीने एवं दुर्गंधवाला होता है। इस लिये उसका शरीर हमारे शरीरके जैसा न होनेसे उसे भोजन करनेकी आवश्यकता हो नहीं सकती। तब फिर महाशयजी! आपका पूर्वोक्त कथन सर्वथा असत्य ही सिद्ध होता है। क्योंकि केवलज्ञानी होनेसे पहले भी उस केवलीका शरीर पसीना और दुर्गंधसे रहित होता है तथापि उसे आप भी उस वक्त भोजन करनेकी आवश्यकता मानते हैं। इस लिये आप इस दलीलसे किसी तरह भी केवलीको भूखा नहीं रख सकते। तथा किसी केवलीका लाखों वर्षका आयुष्य होनेसे उसके शरीरको उतने समयतक टिका रखनेके लिये जिस प्रकार आयुष्य कर्म कारण है उसी प्रकार इस हेतुसे उसे भोजन करनेकी भी आवश्यकता माननी चाहिये। केवलीको तेजस् शरीर जो आहारको पचानेमें मुख्य साधनभूत है उसका अस्तित्व होनेसे केवलीको भूख लगे इसमें कोई संदेह नहीं। इस प्रकार आहार करनेके समस्त कारण केवलीके साथ सम्बन्ध रखनेसे किसी भी तरह उसका निराहारीत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

ज्ञानावरणका नाश होनेपर भूखका भी नाश होता है और ज्ञानावरणके अस्तित्वमें ही भूख लगती है ऐसा भी कोई नियम नहीं। यदि ऐसा नियम ही हो तो मनुष्यमात्रको भूख ही न लगनी चाहिये, क्योंकि उनके ज्ञानावरणका नाश रोज हुआ ही करता है।

तथा यह तो हम कह ही गये हैं कि कवलाहार और केवलज्ञान इन दोनोंमें किसी प्रकारका जरा भी विरोध न होनेसे जिस तरह केवलज्ञानी सुखको भोग सकता है उसी तरह आहारको भी ग्रहण कर सकता है, इस प्रकार पुष्ट दलील और प्रमाणोंसे केवलज्ञानीको भोजन करनेकी सिद्धि हो सकती है, अतएव हम केवलज्ञानीको निराहारी न मानकर भोजन करनेवाला मानते हैं और आपसे भी यह कहते हैं कि आप भी उसे भूखा रहनेवाला न मानकर आहार करनेवाला ही मानें।

इस प्रकार जैन मतके देवका स्वरूप पूर्ण होता है।

नवतत्व.

अब जैन धर्मके तत्वोंका ब्यौरा इस प्रकार है—इस मतमें नव तत्व माने हैं और वे इस तरह हैं—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, और मोक्ष। चेतना याने अनुभव करना यह जीवका लक्षण है। अजीव जीवसे सर्वथा विरुद्ध है, अर्थात् वह चेतना रहित है। अजीवके पाँच प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुग्दलास्तिकाय। इन दो जीव और अजीव तत्वोंमें ही जगतके समस्त भावोंका समावेश हो जाता है।

कितने एक लोक ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न और संस्कार वगैरहको तथा रुप, रस, गंध, स्पर्श, और शब्द वगैरहको द्रव्यके गुण कहकर भिन्न तत्वरुप तया मानते हैं और हलन चलन वगैरह क्रियाओंको कर्म कहकर भिन्न तत्वमें गिनते हैं एवं सामान्य, विशेष और समवायको भी अलग अलग तत्व समझते हैं। परन्तु हमारी समझ मुजव ये गुणक्रियायें या सामान्य वगैरह तत्व जीव और अजीवसे भिन्न नहीं हो सकते—जुदे नहीं रह सकते, इसी लिये हम इन दो ही तत्वोंको समस्त तत्वोंमें अग्रस्थान देते हैं।

यदि यों कहा जाय कि ये गुण और क्रिया वगैरह तत्व सर्वथा

भिन्न तत्व हैं इस लिये इन्हें जुदा ही मानना चाहिये तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी जगह जीव और अजीवसे जुदे होकर ये तत्व रह ही नहीं सकते। जीव और ज्ञान ये कहीं भी सर्वथा भिन्न मालूम नहीं देते, जीव और उसमें रही हुई कोई भी क्रिया ये कहीं भी सर्वथा भिन्न नहीं देख पड़ते एवं घट और उसमें रहा हुआ रूप ये भी दोनों सर्वथा भिन्न नहीं देख पड़ते। प्रत्युत ये समस्त एक साथ ही रहते हुये मालूम होते हैं। अर्थात् ज्ञान और क्रिया ये दोनों जीवरूप मालूम होती हैं एवं घट और घटका रूप ये दोनों भी एकरूप ही मालूम देते हैं। इस लिये किसी भी रीतिसे इन गुण वगैरह तत्वोंको भिन्न तत्व माननेकी जरूरत नहीं,। ऐसा होनेपर भी यदि उन्हें भिन्न ही माना जायगा तो ये तत्व सर्वथा निराधार हो जायंगे और ऐसा होनेसे उनकी सद्रूपता भी चली जायगी।

तथा बौद्ध दर्शनमें जो दुःख वगैरह तत्व बतलाये हैं वे भी जीव और अजीवसे जुदे नहीं हो सकते। वास्तविक रीतिसे तो जीव और अजीव ये दो ही तत्व समस्त संसारमें व्याप्त हैं। इस लिये किसी भी गुणक्रिया या वस्तुका समावेश इन दोमें खुशीसे हो सकता है। अतः इन प्रधान दो तत्वोंसे एक भी अन्य जुदा तत्व मानना यह युक्तिसंगत नहीं हो सकता। हम तो यहाँतक कहते हैं कि जो कुछ इन दो तत्वोंसे सर्वथा भिन्न ही कल्पित किया जाता है वह तत्वरूप तो हो ही नहीं सकता, परन्तु गधेके सींगके समान असद्रूप है। इस प्रकार होनेसे ही जैन दर्शनमें इन दो ही तत्वोंको मुख्यतया माना है।

प्र०—यदि जैन दर्शन इन दो ही तत्वोंको मुख्य मानता हो और दूसरे तत्वोंका इनकार करता हो तो उसने ही दूसरे पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्व किस लिये बतलाये हैं? क्योंकि उसके ही कथनानुसार ये सातों तत्व जीव और अजीवमें समाये जा सकते हैं।

उत्तर—कितने एक दर्शनवाले पुण्य और पापको सर्वथा मानते ही नहीं, उनके विवादको शान्त करनेके लिये हमने यहाँ पर इन तत्वोंका मात्र जुदा उल्लेख करके इसका जरा विशेष समर्थन किया

है। तथा पुण्य, पाप और आश्रव यह संसारका कारण है। संवर और निर्जरा मुक्तिका हेतु है। इस विषयका विशेषतः स्पष्टीकरण करनेके लिये ही यहाँ पर हमने आश्रव वगैरेहका भी जुदा उल्लेख किया है इसके सिवाय इन तत्वोंको जुदा उल्लेखित करनेमें हमारा अन्य कुछ भी उद्देश नहीं।

इस सम्बन्धमें और भी कितनी ही वातें जाननेलायक हैं परन्तु वह सब अन्य जैन ग्रंथोंमेंसे जान लेनेकी आवश्यकता है।

कर्मके श्रेष्ठ पुद्गलोंका नाम पुण्य है, कर्मके खराब पुद्गलोंका नाम पाप है। मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तिका नाम आश्रव है कि जिस प्रवृत्तिके द्वारा कर्मके पुद्गल टपकते रहते हैं। यह आश्रव दो प्रकारका है, एक पुण्यका हेतु और दूसरा पापका हेतु। आश्रवको रोकनेका नाम संवर है। मन, वचन और शरीरको संयममें रखनेसे और यत्नपूर्वक याने किसीको भी दुःख न हो इस प्रकारके चलनेसे, वोलनेसे, भोजन प्राप्त करनेसे, वस्तुको लेने और रखनेसे, एवं यतना पूर्वक निहार करनेसे और धर्मका चिंतन करनेसे वह आश्रव रुक सकता है, याने संवर होता है। उस संवरके भी दो प्रकार हैं, एकका नाम सर्वसंवर और दूसरेका देश संवर है। सर्वसंवरमें आश्रवको सर्वथा रोक दिया जाता है और देशसंवरमें आश्रवको थोड़ा थोड़ा रोका जाता है। राग और द्वेष सहित आत्माका किसी भी प्रवृत्तिके कारण जो कर्मके पुद्गलोंके साथ सम्बन्ध होता है उसे वन्ध कहते हैं। यद्यपि वह समस्त वन्ध एक जैसा ही है तथापि उसके मुख्य चार प्रकार हैं— प्रकृति वन्ध, स्थिति वन्ध, अनुभाग वन्ध और देशवन्ध। प्रकृतिवन्धके मुख्य आठ प्रकार हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय अन्तराय वेदनीय नामगोत्र और आयुष्य। तथा इस ज्ञानावरणका वन्ध भी अनेक प्रकारका है। यह वन्ध प्रशस्त और अप्रशस्त भी है। जो प्रशस्त वन्ध है वह तीर्थंकरत्व वगैरह शुभ फलकी प्राप्ति कराता है और जो अप्रशस्तवन्ध है वह नारकीके दुःख वगैरह अशुभ फलको पैदा करता है। प्रशस्त परिणामके कारण होनेवाले वन्धसे सुख होता है और अप्रशस्त परिणामके होनेवाले वन्धसे दुःख होता है

इसी कारण इस बन्धको दो प्रकारका कहा है। आत्मा और कर्मका वियोग होनेवाली क्रियाको निर्जरा कहते हैं—यह तपरूप है-और तपके बारह प्रकार हैं। शुक्लध्यानको ऊंचेमें ऊंची निर्जरा गिना है। क्योंकि ध्यान यह आन्तरिक तप है और तपसे निर्जरा होती है, ऐसा तत्वार्थ सूत्रमें कहा है। जो आत्मा हरएक प्रकारके बन्धनसे मुक्त हो गई है और जिसने अपने मूल स्वरुपको प्राप्त कर लिया है लोकके अन्तमें रहे हुये उसके निवासको मोक्ष कहा जाता है। शास्त्रमें भी बन्धलसे मुक्त होनेको ही मोक्ष कहा है। इस प्रकार जैन दर्शनमें नव तत्वोंका स्वरुप समझाया ह।

जीववाद

इन नव तत्वोंमें अग्रस्थान धारण करनेवाला जीव तत्व है, इसी लिये सबसे पहले उसका विवेचन इस प्रकार किया जाता है।

जीवका मुख्य चिन्ह—निशान चैतन्य है और यह जीव ज्ञान वगैरह गुणोंसे जुदा भी है एवं एक भी है जहाँतक वह रागद्वेष सहित है तबतक उसे भिन्न भिन्न शरीर भी धारण करने पड़ते हैं। यह शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला है और उन कर्मोंके फलको भोगनेवाला भी यही है। ४८ जीवके धर्म अनेक हैं, जैसे कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, दुःख, वीर्य, भव्यत्व, अभव्यत्व, सत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्राणधारित्व, क्रोधका परिणाम एवं लोभ वगैरहका परिणाम, संसारित्व, सिद्धत्व, तथा दूसरेसे जुदापन आदि इन समस्त धर्मोंसे जीव सर्वथा जुदा नहीं है एवं सर्वथा एक भी नहीं है। परन्तु जुदा भी है और एक भी है। यदि जीवको इन समस्त धर्मोंसे सर्वथा जुदा ही मान लिया जाय तो मैं जानता हूँ मैं देखता हूँ, मैं जाननेवाला हूँ, मैं देखनेवाला हूँ, मैं सुखी हूँ, और मैं भव्य हूँ, इत्यादि इस प्रकार जीवके साथ ज्ञान और सुख वगैरहका जो एकत्वका आभास होता है वह किस प्रकार होगा? इस तरहका अनुभव तो प्राणीमात्रको होता है इस लिये इसमें किसी प्रकारका विवाद नहीं हो सकता। यदि इन समस्त धर्मोंके साथ जीवको सर्वथा एक ही मान लिया जाय तो यह धर्म (गुण)

वाला है और ये इसके धर्म हैं इस तरहकी भिन्न भिन्न बुद्धि भी किस तरह होगी? जीव और उसके गुणों या धर्मके बीच यदि सर्वथा अभेद ही मान लिया जाय तो जीव और गुण इस तरह दो बातें टिक नहीं सकतीं। किन्तु या तो एकला जीव ही ठहर सकता है या उसके गुण ही और ऐसा होनेसे मेरा ज्ञान, मेरा दर्शन, इस प्रकार जो गुणोंका खयाल सर्वथा जुदा होता है सो भी किस तरह हो सकेगा? और इस प्रकारका सर्वथा जुदा खयाल भी सभीको होता है। अतः ज्ञान, दर्शन और सुख वगैरह धर्मोंसे जीवको जुदा भी मानना चाहिये और एक भी मानना चाहिये। परन्तु जो वैशेषिक मतवाले धर्म और धर्मीके बीच मात्र एक जुदा ही कोई मानते हैं एवं बौद्ध मतवाले धर्म और धर्मीके बीच एकले अभेदको ही मानते हैं, उन दोनोंकी मान्यता यथार्थ मालूम नहीं देती। आत्माको कर्मवश होकर अनेक गतियोंमें परि-भ्रमण करना पड़ता है और अनेक शरीरोंको धारण करना पड़ता है इस लिये आत्माको परिणामी (परिणाम पानेवाला) नित्य मानना चाहिये। किन्तु जो चार्वाक मतवाले इसे नित्य ही नहीं मानते और नैयायिक मतवाले उसे अपरिणामी नित्य याने जिसमें किसी तरहका परिवर्तन ही न हो सकता हो ऐसा ही मानते हैं वह भी युक्तियुक्त मालूम नहीं देता। आत्मा अच्छे और बुरे कर्मोंका कर्त्ता है एवं स्वयं किये हुवे कर्मफलको मुख्यतया भोगनेवाला भी वही है। इससे आत्मा कर्त्ता भी है और भोक्ता भी, ऐसा मानना आवश्यक है। किन्तु सांख्य मतवाले जो आत्मा-को अकर्त्ता मानते हैं और गौणतया भोक्ता मानते हैं वह भी उचित मालूम नहीं देता। आत्माका मुख्य लक्षण चैतन्य याने ज्ञान है और वह दो प्रकारका है। सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान, अर्थात् आत्मा चैतन्य स्वरूप है परन्तु नैयायिक मतवाले जो आत्माको चैतन्य स्वरूप नहीं मानते यह अनुचित मालूम होता है। जैनदर्शनमें इस प्रकार जीवका स्वरूप कथन किया हुआ है।

आत्मवाद

चार्वाक मतवाले जो आत्माको नहीं मानते वे अपना मत इस प्रकार बतलाते हैं—

जगतमें आत्मा कोई चीज ही नहीं, जो कुछ यह देख पड़ता है सो सब कुछ पाँच भूतोंका ही खेल है। यह दीखता हुआ शरीररुप पुतला पंच भूतोंसे बना है एवं चैतन्य भी इन्हीं से उत्पन्न हुआ है, इस लिये इन भूतोंसे भिन्न और पुनर्जन्मको प्राप्त करनेवाला कोई आत्मा है यह माननेका कुछ भी कारण नहीं एवं इस मान्यतामें, कुछ प्रमाण भी मालूम नहीं देता। प्रत्यक्ष प्रमाण तो इंद्रियोंके द्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंको ही जान सकता है इस लिये उसके द्वारा आत्माका अस्तित्व नहीं जाना जा सकता, क्योंकि आत्मा इंद्रियोंके द्वारा मालूम नहीं हो सकती। यदि यों कहा जाय कि मैं घटको जानता हूँ, ऐसे खयालसे जानकारके तौरपर आतमाकी शरीरसे भिन्न कल्पना की जा सकती है सही परन्तु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार के खयालमें जानकारतया आत्माकी कल्पना करनेकी अपेक्षा नजरसे दीखते हुये शरीरको किस लिये न रक्खा जासके? अर्थात् शरीरको ही जानकारके तौरपर क्यों न मान लिया जाय? जिस प्रकार मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, इस तरहके खयालमें आत्माको छोड़कर शरीरकी भी कल्पना करते हैं उसी प्रकार मैं जानता हूँ, इस तरहके खयालमें भी नहीं जाननेमें आये हुए आत्मा की कल्पना करनेकी अपेक्षा नजरके सामने दीखते हुए शरीरको जानकारपनका अधिकार क्यों न दिया जाय? अतः मैं घड़ेको जानता हूँ इस तरहका खयाल कुछ आत्माके अस्तित्वको साबित नहीं कर सकता। यदि यों कहा जाय कि शरीर तो जड़ है अतः उसे ज्ञान किस तरह हो सकता है? तो यह बात ठीक नहीं. क्यों कि शरीर भले ही जड़ हो परन्तु उसके साथ चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे वह सब कुछ जान सकता और अनुभव कर सकता है। इस लिये शरीरको ज्ञान होनेमें किसी प्रकारकी क्षति नहीं आ सकती।

शरीरके साथ जिस चैतन्यका सम्बन्ध है उस चैतन्यको शरीरने ही बनाया है अतः इस चैतन्यके द्वारा भी जीवकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि चैतन्य शरीर हो तब ही (शरीरमें) मालूम होता है और शरीर न हो तब मालूम नहीं होता, इससे उसका विशेष सम्बन्ध शरीरके ही साथ है यह स्पष्ट ही मालूम होता है, और इसीसे इस चैतन्यको शरीरने बनाया है यह बात भी सिद्ध होती है। यदि यह कहा जाय कि शरीर और चैतन्यका ही सम्बन्ध होता है तो मुर्देके शरीरमें भी चैतन्य क्यों नहीं मालूम होता? इसका उत्तर यह है कि मुर्देके शरीरमें पंचभूत पूर्ण नहीं हैं। उसमें वायु और तेज न होनेसे चैतन्य न मालूम दे तो इसमें कोई क्षति नहीं, हम ऐसा भी नहीं मानते हैं कि शरीरके खोके मात्रमें चैतन्य अवश्य ही हो, यदि हम ऐसा मानें तो चित्रित घोड़ेमें भी चैतन्य आना चाहिये। हमारी मान्यता यह है कि अमुक अमुक भूतोंका संयोग ही शरीर है और वही शरीर अपने शरीरको बनाता है। इस लिये मुर्देके शरीरका उदाहरण देनेसे हमारी दलील असत्य नहीं ठहर सकती। इससे यह साबित हो सकता है कि चैतन्य यह शरीरका ही धर्म है और शरीर ही उसे बनाता है, अतः मैं जानता हूँ, इत्यादिकी बुद्धि शरीरमें ही घट सकती है। इससे किसी जुदे आत्माकी कल्पना करना यह युक्तियुक्त नहीं। अर्थात् आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना नहीं जा सकता इस लिये उसे अविद्यमान ही मानना युक्तियुक्त है।

अनुमान प्रमाण भी आत्माके अभावको ही सिद्ध करता है जैसे कि आत्मा नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा नजर ही नहीं आता। जो वस्तु किसी भी प्रकारसे बिलकुल न देखी जाती हो उसका अस्तित्व भी नहीं हो सकता और जो वस्तु देखनेमें आती है उसका तो नजरसे दीखते हुये घड़ेके समान-अवश्य अस्तित्व होता है। अर्थात् आत्मा दृष्टिसे न दीखनेके कारण उसके अस्तित्वको मानना यह उचित नहीं जान पड़ता। यदि यों कहा जाय कि परमाणुओंके अस्तित्वको सब ही मानते हैं और वे दृष्टिसे तो दीखते ही नहीं इससे अस्तित्ववाली वस्तु दृष्टिसे दीखनी ही

चाहिये इस तरहका नियम असत्य ठहरनेका संभव है, तो यह वात भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि परमाणु भले ही दृष्टिगोचर न हो किन्तु उनसे बनी हुई तमाम वस्तुयें देखनेमें आती हैं इस लिये अस्तित्ववाली वस्तु दृष्टिसे दीखनी ही चाहिये, इस नियमको जरा भी आंच नहीं आती। आत्मा किसी भी तरहसे देखनेमें नहीं आता इस लिये उपरोक्त अनुमान प्रमाणसे भी आत्माका अभाव ही सिद्ध होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणसे आत्माका अस्तित्व सावित नहीं हो सकता उसी प्रकार अनुमान प्रमाणसे भी आत्माका पता नहीं लग सकता, क्योंकि अनुमान करनेका जो क्रम है वह आत्मामें घट नहीं सकता। उसका क्रम इस तरह है - सवसे पहले प्रत्यक्ष प्रमाणसे दो वस्तुके याने एक साध्य और दूसरे साधनके सहचरपनको निश्चित करना चाहिये। अर्थात् अनुमान करनेवाला मनुष्य सवसे पहिले अनेक स्थलोंको देखता है और उन प्रत्यक्ष स्थलोंके याने रसोईघर, हलवाईकी दुकान, भटियारीकी दुकान, भड़भूंजेकी दुकान और यज्ञका कुंड इत्यादि स्थलोंको देखकर अग्नि और धूम्रके सहचरपनको निश्चित करता है और इसपरसे वह मनुष्य यह अनुमान वाँधता है कि जिस जिस जगह धूआं उठता हो उन सव जगहोंमें अग्नि होना ही चाहिये। इस तरह निश्चित करनेपर अव वह किसी भी जगह धूम्र देखते ही वहाँ पर अग्निके अस्तित्वका अनुमान कर लेता है। इस तरहका अनुमान करनेका क्रम आत्मामें नहीं घट सकता क्यों कि वह स्वयं ही नजर नहीं आ सकता, एवं उसका चिन्ह भी नजर नहीं आ सकता। इस प्रकार जहाँपर प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती वहाँपर अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति किस तरह हो सकती है? यह वात तो आप भी जानते ही हैं कि अनुमानकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षके परवश है। यदि प्रत्यक्षसे ही आत्माकी सिद्धि हो सकती हो तो फिर अनुमानकी जरूरत ही क्या रहे? इस लिये किसी भी प्रकार जीवका पता नहीं लगता। तथा इस जगहसे दूसरी जगह पर जाता है इस लिये सूर्य भी मनुष्यके समान गतिवान् होना चाहिये। इस तरहके अनुमान द्वारा भी आत्माकी सिद्धि

नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्यका इस जगहसे दूसरी जगह जाना हम सब लोग नजरसे देख सकते हैं और इस देखनेसे ही इस हेतसे सूर्यमें भी गति होनी चाहिये ऐसा अनुमान कर सकते हैं। परन्तु आत्माके सम्बन्धमें ऐसा कुछ देखनेमें नहीं आता और इस प्रकारका कोई गुण या क्रिया भी नजर नहीं आती कि जो आत्माके विना न रह सकती हो या न हो सकती हो। अर्थात् उपरोक्त अनुमानके द्वारा आत्माके विषयमें कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। तथा शास्त्र प्रमाणसे भी आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि एक भी शास्त्र ऐसा नहीं है कि, जिसमें विवाद न हो एवं ऐसा कोई विवाद रहित शास्त्रकार भी नहीं कि जिसने आत्माको प्रत्यक्ष देखा हो। जो शास्त्र मिलते हैं वे सब ही परस्पर विरोधवाले हैं, इस लिये उनमेंसे किसे सत्य मानना और किसे असत्य मानना चाहिये? अर्थात् आगम प्रमाणसे भी आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती।

उपमान प्रमाणसे भी आत्माका पता नहीं लगता, क्योंकि उपमान प्रमाण एक दूसरेकी समानताको नजरसे देखकर उसके मिलानपरसे ही किसी प्रकारका निर्णय गढ़ सकता है। यहाँ पर जिस तरह आत्मा नजर नहीं आता उसी तरह उसके समान दूसरा भी कोई पदार्थ नजर नहीं आता इससे उपमान प्रमाण भी आत्माका निर्णय नहीं कर सकता। यदि यों कहा जाय कि काल, आकाश और दिशा वगैरह पदार्थ आत्माके समान हैं इस लिये इनके द्वारा आत्माका अनुमान किया जा सकता है। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वे तमाम पदार्थ अभीतक विवादग्रस्त ही हैं, इस लिये ऐसे अधर पदार्थोंका आधार लेकर आत्माकी सिद्धि किस तरह हो सकती है? तथा ऐसा कोई गुण या क्रिया नहीं देखी और न कभी सुनी कि जो आत्माके वगैर हो ही न सके। अर्थात् यदि आत्माके विना न रह सकनेवाला गुण या क्रिया मिल सकी होती तो उसके द्वारा ही आत्माका निर्णय हो सकता, परन्तु इस प्रकारका तो कुछ भी नहीं मिलता इस लिये आत्माकी विद्यमानता किस तरह मानी जाय? ऐसे किसी भी

प्रमाण दलील या अटकल के द्वारा आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती अतः सर्वथा न मालूम पड़नेवाला आत्मा किस तरह माना जाय ?

इस तरह ये आत्माको न माननेवाले नास्तिकोंकी युक्ति और प्रमाण कहे हैं। अब आत्माको माननेवाले आस्तिक पूर्वोक्त युक्तियोंका खण्डन इस प्रकार करते हैं—

उपरोक्त उल्लेख में आत्माका सर्वथा निषेध करते हुये यह मालूम किया है कि जगतमें आत्मा यह कोई चीज ही नहीं है, जो कुछ यह देखनेमें आता है वह सब पंचभूतोंका ही खेल है। यह दीखता हुआ शरीररूप पुतला पाँच भूतोंसे बना हुआ है और चैतन्य भी इसीमेंसे बना है इत्यादि।

ये सब बातें ठीक नहीं हैं, क्योंकि आत्माकी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही हो सकती है, जैसे कि मैं सुखका अनुभव करता हूँ इस तरहका ज्ञान प्राणीमात्रको होता है और इसी ज्ञानद्वारा आत्माकी प्रतीति हो सकती है। यदि यों कहा जाय कि इस प्रकारका खयाल शरीरको ही होता है अतः इससे आत्मा की प्रतीति किस तरह हो सकती है, तो हम कहते हैं कि वह खयाल शरीरको नहीं होता, क्योंकि उस खयालमें स्पष्टतया ही आन्तरिकता मालूम देती है। जिस वक्त समस्त इन्द्रियाँ अपनी अपनी प्रवृत्तिसे विराम प्राप्त कर लेती हैं और शरीर अचेष्ट हो कर पड़ा रहता है उस वक्त भी, मैं सुखी हूँ, इस प्रकारका खयाल रहा करता है इस लिये यह खयाल शरीरको होता है यह बात सम्भवित ही नहीं हो सकती। अतः यह एक ही खयाल आत्मा-का प्रत्यक्ष भान करानेमें काफी है। अर्थात् शरीर और इन्द्रियों की अचेष्ट दशामें भी मैं सुखका अनुभव करता हूँ यह भाव जिसमें पैदा होता है बस वही आत्मा है और मैं सुखका अनुभव करता हूँ ऐसा खयाल प्राणीमात्रको होनेसे वह आत्मा सबको प्रत्यक्ष है ऐसा कहनेमें किसी भी तरहका दोष नहीं आता। इस लिये शरीरसे भिन्न और मैं सुखी हूँ इस तरहके अनुभवका आधार कोई आत्मा नामक ज्ञानवान् पदार्थ भी स्वीकारना चाहिये।

और जो यह कहा गया है कि चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे शरीर सचेतन होता है और उसे ही अहमत्वकी बुद्धि हुआ करती है, इत्यादि यह बात भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ स्वयं चैतन्यवाला नहीं होता उसे चाहे जितना चैतन्यका सम्बन्ध हो तथापि उसमें चेतना शक्ति आही नहीं सकती। जिस प्रकार घड़े में प्रकाश देनेकी शक्ति नहीं और उसे. भले ही हजारो दीपकों का सम्बन्ध जोड़ दिया जाय तथापि वह घड़ा कदापि प्रकाश नहीं दे सकता, उसी तरह शरीर स्वयं चैतन्यरहित होनेसे उसे चाहे जितना चैतन्यका सम्बन्ध हो तथापि उसमें ज्ञानशक्ति नहीं हो सकती। एवं ज्ञानशक्ति आ भी नहीं सकती। इस लिये अहंपनकी बुद्धिका आधार आत्मा है और वह शरीरसे जुदा ही है ऐसा मानना दूषणरहित है। यह जो कहा गया था कि मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, इत्यादि खयाल जिस तरह शरीरके विषयमें ही घटता है उसी तरह मैं जानता हूँ ऐसा खयाल भी शरीरके लिये क्यों न घट सके? यह प्रश्न भी आपका यथार्थ नहीं है क्योंकि जिस तरह कोई शेठ स्वयं अपने प्रिय और विशेष कामेरे नोकरमें भी अपने शेठपनकी कल्पना कर सकता है अर्थात् वह नौकर जो कुछ करे सो मुझे मंजूर है ऐसी बुद्धि जिस तरह शेठको हो सकती है उसी प्रकार यह शरीर आत्माका प्रिय और विशेष काम करनेवाला नौकर होनेसे आत्मा कितनी एक दफा उसमें अपनी आत्मीयताका आरोप कर देता है और कितने एक शरीरके धर्मको भी अपने आपमें ग्रहण करलेता है। ऐसा होनेसे ही मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, इस तरहके काल्पनिक खयाल आत्मामें उपस्थित हो गये हैं। इस लिये ये खयाल शरीरमें ही होते हैं ऐसा कोई नियम नहीं तथा यह काल्पनिक होनेके कारण इसके द्वारा आत्माका भी निषेध नहीं हो सकता।

आपने जो यह फर्माया था कि चैतन्य शरीरमेंसे ही बनता है इत्यादि यह भी आपका कथन असत्य ही है, क्योंकि शरीरके साथ चैतन्यका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं। यदि शरीरमेंसे ही चैतन्य बनता हो तो जहाँ जहाँ पर शरीर हो वहाँ वहाँ पर अवश्य

वह भी होना चाहिये और जहाँ शरीर न हो वहाँ न होना चाहिये। परन्तु ऐसा तो कहीं भी देखनेमें नहीं आता। देखिए! आपको स्पष्ट ही मालूम देगा कि जो मनुष्य मदिरा पीकर मत्त बने हुये हैं, मूर्च्छित बन गये हैं और निद्रामें पड़े हुये हैं उन्होंके शरीरमें किसी खास प्रकारका चैतन्य मालूम नहीं देता। यदि शरीर और चैतन्यका ही कार्यकारण सम्बन्ध होता तो उन शरीरोंमें भी लेखकके समान चैतन्य क्यों न मालूम दे? और जो शरीर दुर्बल हैं उनमें चैतन्यका प्रकर्ष देख पड़ता है, एवं जो शरीर पुष्ट और मोटे ताजे हैं उनमें चैतन्यका अपकर्ष देख पड़ता है, यह भी किस तरह हो सके? अतः ऐसे अनेक उदाहरणोंसे साबित हो सकता है कि शरीर और चैतन्यमें किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं एवं कार्य कारण सम्बन्ध भी नहीं है। किसी एक तत्वज्ञानीने कहा है कि—

> परमबुद्धि कृप देहमें स्थूल देह मति अल्प।
> हो शरीर यदि आत्मा घटै न यह संकल्प।
> जड़ चेतनका भिन्न है केवल प्रगट स्वभाव।
> एकीपन पाये नहीं तीन काल द्वयभाव।

इस परसे यह निश्चित होता है कि चैतन्य शरीरसे या-शरीरमें नहीं बनता। चैतन्य शरीरसे बनता है या शरीरमें बनता है इस बातको साबित करनेके लिये कोई प्रमाण भी नहीं मिलता। यदि कदाचित् इस बातको निश्चित करनेके लिये प्रत्यक्ष प्रमाणको आगे रक्खा जाय तो यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्य इंद्रियोंसे जाना जासके ऐसी कोई वस्तु नहीं है और प्रत्यक्ष प्रमाण तो अपनी क्रिया इंद्रियों द्वारा ही करता है, इस लिये चैतन्यके साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाण काम नहीं आ सकता। इस विषयको निश्चित करनेके लिये अनुमान प्रमाण तो सर्वथा ही असमर्थ है, क्योंकि आत्माको न माननेवाले नास्तिक लोक अनुमानको प्रमाणतया स्वीकृत ही नहीं करते। यदि यों कहा जाय कि जिस तरहसे दारू बनानेकी वस्तुयें एक साथ मिलनेसे उनमें मादकता पैदा होती है उसी प्रकार जब ये

पंचभूत शरीरका आकार धारण करते हैं उस वक्त ही उसमें चैतन्य पैदा होता है, क्योंकि जहाँपर शरीर होता है, वहीं पर चैतन्यका भी अस्तित्व मालूम देता है, इस प्रकारकी दलीलसे शरीर और चैतन्यका विशेष सम्बन्ध जाना जा सकता है। परन्तु विचार करनेसे यह दलील भी असत्य ही मालूम देती है, क्योंकि मुर्देके शरीरमें चैतन्य मालूम नहीं देता। जहाँ शरीर हो यदि वहीं चैतन्य रहता हो तो इस मृत शरीरमें भी मालूम होना चाहिये। यदि इस दूषणको दूर करनेके लिये आप यह कहें कि मृत शरीरमें पंचभूतके समुदायमेंसे वायु नहीं है इस लिये हमारा पूर्वोक्त नियम असत्य नहीं ठहर सकता, तो नास्तिकोंकी यह दलील भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि मुर्देके शरीरमें खोकलापन होनेसे और वह प्रत्यक्षमें ही फूलता हुआ मालूम होनेसे उसमें वायु नहीं ऐसा कौन कह सकता है?। तथा मुर्देके शरीरमें चमड़ेकी धमनीके द्वारा भी वायु भरी जा सकती है, इस रीतिसे भी उसमें कम रहे हुये वायुतत्वको पूर्ण किया जा सकता है। यदि फक्त एक वायु न होनेसे मुर्देमें चैतन्यका अभाव होता हो तो उसमें वायु आनेसे चैतन्य आना चाहिये और इससे मुर्देके शरीरको भी जीवित शरीरके समान ही क्रिया करनी चाहिये। किन्तु इस प्रकारका बनाव आजतक कहीं पर भी किसीने नहीं देखा और ना ही यह बात कहीं सुननेमें आई। अतः मृतक शरीरमें वायु न होनेसे ही उसमें चैतन्य नहीं यह कहना सरासर असत्य है यदि आप यों कहें कि मात्रवायु भरनेसे ही मुर्देके शरीरमें चैतन्य नहीं आता इसका दूसरा भी कारण है और वह कारण यह है जबतक मुर्देके शरीरमें प्राणवायु और अपानवायुका संचार न हो तबतक उसमें एकला वायु भरनेसे चैतन्य नहीं आ सकता। अर्थात् मुर्देके शरीरमें चैतन्य मालूम न होनेका कारण उसमें प्राणवायु और अपानवायुका अभाव ही है। आपकी यह दलील भी बिलकुल खोकली ही है, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं कि जहाँपर प्राणवायु और अपान वायु हो वहीं पर चैतन्य होता हो और जहाँपर ये दोनों वायु न हों वहाँ पर चैतन्य भी न हो। यदि

ऐसा नियम होता तो मृत्यु शय्यापर पड़ा हुआ मनुष्य जब अधिक श्वासोश्वास लेता है उस वक्त उसमें चैतन्यकी अधिकता मालूम होनी चाहिये और समाधीमें रहा हुआ कोई योगी जो श्वासोच्छ्वासका बिलकुल निरोध करता है उसमें तो सर्वथा ही चैतन्य न रहना चाहिये। परन्तु इस बातमें बिलकुल विपरीतता देख पड़ती है। अधिक श्वासोच्छ्वास लेनेवाले मरणोन्मुख मनुष्यमें चैतन्यकी क्षीणता होती देख पड़ती है और श्वासोच्छ्वासको सर्वथा रोकनेवाले मनुष्यमें चैतन्यका विकास होता मालूम देता है इसलिये प्राणवायु और अपान वायुके साथ भी चैतन्यका किसी प्रकारका सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। अतः नास्तिकोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणवायु और अपान वायुके अभावसे ही मुर्देमें चैतन्यका आभाव है। उनके सिद्धान्त मुजब मुर्देमें भी समस्त भूतोंका समुदाय रहनेके कारण स्पष्टतासे चैतन्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा होता हुआ कहीं भी जान नहीं पड़ता, अतः उनका माना हुआ यह सिद्धान्त ही असत्य साबित होता है। यदि यह कहा जाय कि मृतशरीरमें तेज तत्वका अभाव है इस कारण उसमें चैतन्यका अस्तित्व मालूम नहीं देता। यह कथन भी निर्मूल ही है, यदि यह कथन सत्यमान लिया जाय तो मृतशरीरमें तेज तत्वका संचार करनेपर भी उसमें चैतन्यकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? अतः यह युक्ति भी असत्य ही है। यदि तेजतत्व और वायुतत्वके अभावके कारण मृतशरीरमें चैतन्यका अभाव मालूम होता है यह मान लिया जाय तो उस मृतशरीरमें उत्पन्न होनेवाले कीड़ोंमें जो चेतना शक्ति मालूम होती है वह किस तरह मालूम हो? अतः भूतोंसे चैतन्यकी उपत्ति होती है यह सिद्धान्त सर्वथा असत्य है। एक बात यह भी है कि यदि भूतोंसे ही चैतन्य शक्ति बनती हो तो वस्तु मात्रमें उसका अस्तित्वहोना चाहिये अर्थात् जिस तरहकी चेतना शक्ति मनुष्योंमें देख पड़ती है वैसी ही घट,पट, लेखन, और कागज आदिमें भी होनी चाहिये, क्योंकि इन सब वस्तुओं में भूतोंका अस्तित्व है। यदि यों कहा जाय कि जो भूत शरीरका आकार धारण करते हैं उन्हींसे चैतन्यकी उत्पत्ति हो सकती है

अतः घट, पट, लेखन वगैरहमें यदि चैतन्य नहीं देख पड़ता तथापि इससे हमारी (नास्तिकोंकी) शरीरका आकार धारण करनेवाले भूतोंसे चैतन्य शक्ति पैदा होती है यह युक्ति असत्य साबित नहीं होती। विचार करनेसे नास्तिकोंकी यह युक्ति भी थोथी ही मालूम होती है। हम उनसे यह प्रश्न करते हैं कि भूत जिस शरीरके आकारको धारण करते हैं उसमें कारणरूप कौन कौनसी वस्तुयें हैं? क्या एकले भूत ही कारण हैं या अन्य भी कुछ हैं, या कुछ कारण ही नहीं? यदि एकेले भूतोंको ही कारणरूप मान लिया जाय तो वस्तु मात्रमें चेतनाशक्तिका प्रादुर्भाव होना चाहिये क्योंकि तमाम वस्तुओंमें वे ही भूत रहे हुये हैं कि जिन्हें नास्तिक लोक चैतन्य और शरीरके आकारका कारणभूत मानते हैं। यदि यह दलील आगे धरी जाय कि भूतमात्रसे ही शरीरका आकार धारण नहीं किया जाता उसमें अन्य भी कितने एक सहकारी कारणोंकी जरूरत पड़ती है और वे सहकारी कारण सब जगह न होनेसे वस्तु मात्रमें चैतन्य मालूम न दे एवं वे सहकारी कारण जहाँपर हों वहाँ ही चैतन्य मालूम दे यह संभवित है अतः सर्वत्र चैतन्यका प्रादुर्भाव होना चाहिये। आस्तिकोंके इस दूषणको यहाँ पर किस तरह स्थान मिल सकता है? इस विषयमें भी हम एक प्रश्न पूछना चाहते हैं और वह यह कि जो सहकारी कारण हैं वे सब किससे बने हुए हैं? इसके उत्तरमें आपको यह स्पष्ट ही कहना पड़ेगा कि वे सहकारी कारण भी भूतोंसे ही बने हुये हैं, क्योंकि आप लोग भूतोंके सिवाय अन्य कोई पदार्थ मानते ही नहीं। आपकी मान्यताके अनुसार सर्वत्र भूत रहे हुए हैं अतः सहकारी कारण भी सर्वत्र ही होने चाहिये और इसी कारण वस्तु मात्रमें चैतन्यका प्रादुर्भाव होना चाहिये। इस तरह का जो हमारा कथन है वह कदापि असत्य साबित नहीं हो सकता। यदि यों कहा जाय कि भूत जो शरीरका आकार धारण करते हैं उसमें कोई एकेले भूत ही कारण नहीं हैं किन्तु अन्य भी कारण हैं; यह बचाव भी उनका ठीक नहीं। क्योंकि भूतोंको सिवाय संसारमें वे अन्य किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं मानते।

ऐसा होनेपर भी यदि वे भूतोंसे जुदी रहनेवाली वस्तुको कारण रूप मानें तो उनकेही मुखसे आत्माकी सिद्धि हो सकती है। क्यों कि जो कुछ भूतोंसे जुदी वस्तु है उसीका नाम आत्मा है। अतः दूसरा भी कुछ कारण है यह कहना भी दूषित मालूम पड़ता है। अब यदि यह कहा जाय कि भूत जिस शरीरके आकारको धारण करते हैं उसका कुछ कारण ही नहीं, यह कथन भी दूषित ही है, क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरी यह बात कि जो क्रिया किसी कारणके विना ही होती हो तो या तो वह रोज होती ही रहनी चाहिये और या सर्वथा होनी ही न चाहिये। इन पूर्वोक्त दलीलोंसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि नास्तिकों का माना हुआ भूत शरीरके आकारको धारण करते हैं और उसीसे चैतन्य पैदा होता है इस प्रकारका सिद्धान्त कदापि सत्य सिद्ध नहीं हो सकती। प्राणवायु और अपान वायुकी तो बात ही क्या? अतः चैतन्य भूतोंका गुण नहीं एवं वह भूतोंसे उत्पन्न भी नहीं होता, किन्तु वह आत्माका गुण है और आत्मामें ही रहता है, इस प्रकारकी मान्यता प्रमाणिक और दूषणरहित है। यह भी एक साधारण नियम है कि जिसके गुणका प्रत्यक्ष ज्ञान होता हो वह गुणवाला स्वयं भी प्रत्यक्ष ही होता है। स्मरण रखना, जानेकी इच्छा रखना, क्रिया करनेकी इच्छा रखना, जानेकी इच्छा करना, और किसी प्रकारका संदेह होना इत्यादि आत्माके गुणों का प्रत्येक मनुष्य प्रत्यक्षतया अनुभव कर सकता है। क्योंकि हर एकको इन गुणोंका अनुभव होनेके कारण इनकी प्रत्यक्षतामें किसीका भी मतभेद नहीं हो सकता। जब इन समस्त आत्मीय गुणोंका हरएक को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब इन गुणोंका आधार भूत आत्मा प्रत्यक्ष तया किसे नहीं मालूम होता? अतः आत्माका ज्ञान प्रत्यक्षतया हो सकता है। आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध हो सकता है, इसमें किसी प्रकारका दूषण मालूम नहीं होता. कदाचित् नास्तिकोंकी तरफसे यों कहा जाय कि जिसके गुणका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह गुणवान् स्वयं भी प्रत्यक्ष ही होता है. इस तरहका नियम सब जगह प्रचलित न होनेके कारण यह

सत्य कैसे माना जाय ? क्योंकि शब्द यह आकाशका गुण है, शब्दका प्रत्यक्ष ज्ञान कानके द्वारा हो सकता है और आकाश तो किसी भी इंद्रियद्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता " गुण प्रत्यक्षे गुणी प्रत्यक्षः " के नियमको सर्वथा सत्य कैसे माना जाय ?

नास्तिकोंकी यह पूर्वोक्त दलील ही असत्य है क्योंकि शब्द यह आकाशका गुण ही नहीं है यह तो परमाणुमय होनेके कारण एक तरहका जड़ पुग्दल है। इस विषयमें हम आगे चलकर अजीव तत्वकी चर्चा करते वक्त ब्यौरेवार लिखेंगे। कदाचित् यह कहा जाय कि आस्तिकोंका बतलाया हुआ " गुण प्रत्यक्षे गुणी प्रत्यक्षः" का नियम कदाचित् सत्य हो तथापि हम नास्तिक लोग तो यों कहते हैं कि जिस प्रकार रूप वगैरह गुण घटमें दीख पड़नेके कारण उसका आधार घट माना जाता है उसी प्रकार ज्ञान वगैरह गुण शरीरमें ही विदित होनेके कारण उन गुणोंका आधार भी शरीर है ऐसा मानना चाहिये और यही मान्यता युक्ति-युक्त है। तथा ऐसी मान्यता माननेसे आस्तिकोंके बतलाये हुये " गुण प्रत्यक्षे गुणी प्रत्यक्षः " नियमका भी बराबर रक्षण किया जा सकता है।

यद्यपि नास्तिकोंका यह कथन सुननेमें तो सुन्दर ही देख पड़ता है परन्तु गहरा विचार करनेसे इसमेंका एक भी अक्षर सत्य मालूम नहीं देता। सबसे पहली बात तो यह है कि ज्ञान वगैरह गुणोंके साथ शरीरका किसी प्रकारका सम्बन्ध ही नहीं घट सकता। देखिये शरीर तो रूपी आकारवाला है और इंद्रियों द्वारा जाना जाय ऐसा है और ज्ञान वगैरह गुण अरूपी हैं, याने आकार रहित हैं, एवं किसी भी इंद्रियद्वारा जाने नहीं जा सकते। जहाँपर ज्ञान वगैरह गुण और शरीरमें इतना बड़ा विरोध हो वहाँपर ज्ञान वगैरह शरीरके गुण किस तरह हो सकते हैं ? वास्तवमें ज्ञानादि गुण शरीरके नहीं हो सकते, उनका गुणी याने उन गुणों का आधार उन्हींके समान अरूपी—आकार रहित और जहाँ इंद्रियाँ भी न पहुँच सकें ऐसा होना चाहिये और उस प्रकारका एक आत्मा ही है। इस लिए आत्माको ही मानना यह युक्ति-

युक्त और प्रामाणिक है। ज्ञानादि गुण हरएकके अनुभवमें आनेवाले होनेसे उन गुणोंका आधार आत्मा भी हरएकके अनुभवमें आवे यह सहज सिद्ध बात है। अब यह स्पष्ट रूपसे मालूम हो सकता है कि आत्माको माननेकी हकिकत सर्वथा निर्दोष और प्रामाणिक है। उससे विपरीत जो कुछ नास्तिकोंने आत्माके निषेधमें कथन किया है वह सर्वथा असत्य और अनेक दूषणसहित है, एवं उसमें अनेक प्रकारके विरोध भी मौजूद हैं। जैसा कि "सूर्य प्रकाश नहीं करता" "मैं नहीं हूँ" 'और मेरी मा वंध्या है,' इत्यादि बातें बिलकुल असंगत और विरोधवाली हैं, उसी प्रकार आत्माको निषेध करनेवाली दलीलें भी वैसी ही असंगत और विरोधी हैं। इस विषयमें किसी एक ज्ञानीपुरुषने कहा है:—

आत्माकी शंका करे, आत्मा ही खुद आप।
शंका कर्त्ता है वही, अचरज यही अमाप।

तथा आत्माको सिद्ध करनेवाले अनुमान भी अनेक हो सकते हैं और वे इस प्रकार हैं—

१ जैसे कि चलते हुये रथका कोई न कोई हांकनेवाला होना चाहिये वैसे ही इच्छानुसार चलते हुये (क्रिया करनेवाले) शरीरका भी कोई हांकनेवाला होना चाहिये और जो शरीरका हांकनेवाला या उसे चलानेवाला ठहरे वही आत्मा है।

२ जैसे बढ़ई वगैरह कर्त्ताकी प्रेरणा होनेपर ही विसोला वगैरह साधन काम कर सकते हैं वैसे ही आंख और कान वगैरह साधन भी किसी कर्त्ताकी प्रेरणा होनेपर ही काम कर सकते हैं और जो उन साधनोंका प्रेरक कर्त्ता निश्चित हो वही आत्मा है।

३ जिस तरह घटके अस्तित्वका प्रारम्भ मालूम होता है और उसका अमुक आकार मालूम होता है अतः उसका कोई कर्त्ता होना चाहिये, वैसे ही शरीरके अस्तित्वका प्रारम्भ मालूम होता है और अमुक आकार भी मालूम होता है अतः उसका भी कोई कर्त्ता होना चाहिये, एवं जो उसका कर्त्ता निश्चित हो वही आत्मा

है। [जिस वस्तुके अस्तित्वका प्रारम्भ समय मालूम नहीं होता और जिसका अमुक ही आकार मालूम नहीं होता ऐसी वस्तुका कोई भी कर्त्ता नहीं होता, जैसे कि बादलोंका विकार—जिसका कोई भी कर्त्ता नहीं। हमारा शरीर तो ऐसा नहीं है इस लिये इसका कर्त्ता तो अवश्य होना चाहिये।]

४ जैसे कि चाक और उसे फिरानेका दंडा इत्यादि साधनोंका कोई एक मालिक होता है, वैसे ही इंद्रियों, मन, और शरीरका भी कोई एक मालिक होना चाहिये और जो इनका मालिक है वही आत्मा है।

५ जैसे तयार हुआ पक्वान्न खानेके योग्य होनेसे उसका कोई भोक्ता होता है वैसे ही यह शरीर भी भोगनेके योग्य होनेसे इसका भी कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिये और जो इसका भोक्ता है वही आत्मा है।

यदि यहाँपर यह कहा जाय कि उपरोक्त पांचों ही अनुमान विरुद्ध हैं। क्योंकि ये अनुमान रथके हांकनेवाले और पक्वान्नको खानेवालेके समान आत्माको भी आकारवान याने रूपी सिद्ध करते हैं और आप तो आत्माको आकारवान नहीं मानते तो फिर इन अनुमानोंके द्वारा आपको इष्ट हो ऐसा आत्मा किस तरह सिद्ध हो सकता है ?। इस प्रश्नके उत्तरमें विदित किया जाता है कि हम भी शरीरको चलानेवाले और भोगनेवाले आत्माको आकारवान याने रूपी मानते हैं। इस स्थितिका आत्मा संसारमें परिभ्रमण करता हुआ कर्मके अनन्तानन्त अणुओंसे वेष्टित है, इस लिये वह इस अपेक्षासे आकारवान और मूर्तिमान भी होता है। अतः पूर्वोक्त बतलाये हुये अनुमानोंमेंसे एक भी अनुमान विरुद्ध नहीं जाता किन्तु वे सब ही प्रामाणिक और युक्ति युक्त हैं। अर्थात् इन अनुमानोंके द्वारा कदाचित् संसारमें परिभ्रमण करनेवाला आत्मा आकारवान या रूपी साबित हो तथापि इसमें हम किसी प्रकारका बाध नहीं मानते।

६ जिस प्रकार रूपादि गुण किसी आधारके विना रह नहीं सकते उसी प्रकार रूपज्ञान रसज्ञान, और शब्दज्ञान, वगैरह गुण

भी किसी आधारके विना नही रह सकते और जो उन गुणोंका आधार है वही आत्मा है।

७ जिस प्रकार कोई घट उसके मूल उपादान कारण—मट्टीके विना हो नहीं सकता उसी प्रकार ज्ञान और सुख वगैरह भी उसके मूल कारण विना नहीं हो सकते और जो इनका मूल कारण है वही आत्मा है। यदि कदाचित् ज्ञान, और सुखका मूल कारण शरीरको ही माननेकी बात की जाय तो यह हो ही नहीं सकता, क्योंकि इस वातका हम पहले ही खंडन कर चुके हैं।

८ जो शब्द व्युत्पत्तिवाला और एकला (एकला याने दो शब्दोंसे एक वना हुआ न हो अर्थात् समासवाला न हो) होता है उस प्रकारके शब्दका निषेध अपनेसे (निषेधसे) विरुद्ध अर्थको सावित करता है। अर्थात् जैसे अघट कहनेसे घटकी भी सिद्धि हो जाती है वैसे ही अजीव कहनेसे जीवकी भी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि जीव व्युत्पत्तिवाला है एवं एकला भी है। अखरविषाण शब्दमें मिला हुआ खरविषाण शब्द व्युपत्तिवाला होनेपर भी एकला नहीं है और अडित्थ शब्दमें मिला हुआ 'डित्थ शब्द एकला होनेपर भी व्युत्पत्तिवाला नहीं अतः यह आठवाँ अनुमान इस प्रकारके व्युत्पत्ति रहित और समाससे वने हुए शब्दोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस तरह यह अनुमान भी जीवकी सिद्धि में सहायता करता है।

९ उपरोक्त कथन किये हुये आठवें अनुमानके द्वारा अपने शरीरमें जीवकी विद्यमानताको निश्चित करके जैसे हमारे शरीरमें जीव है वैसे ही दूसरेके शरीरमें भी जीव होना चाहिये, क्यों कि शरीर मात्र एकसे हैं, इस तरहके सामान्य अनुमान द्वारा भी जीवित शरीरमात्रमें जीवकी विद्यमानता सिद्ध होती है। जीवका यह एक खास लक्षण है कि वह इष्ट वस्तुओंकी ओर आकर्षित होता है और अनिष्ट वस्तुओंसे स्पर्शतक नहीं करता। यह लक्षण जीव शरीरमात्रमें प्रत्यक्ष तौरसे मालूम होता है अतः इस तरहके समस्त शरीरोंमें जीवकी सिद्धि होनेमें जरा भी विलम्ब नहीं लग सकता।

१० किसी भी जगह जिस वस्तुका अस्तित्व होता है उसीका निषेध हो सकता है। जिस वस्तुकी कहीं पर भी विद्यमानता नहीं होती उसका निषेध ही क्या ?. आप यहाँपर जीवका निषेध करते हैं अतः यह निषेध ही जीवकी विद्यमानताको सावित करनेमें काफी है। जिस प्रकार सर्वथा असद्रूप छटे भूतका निषेध करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती वैसे ही यदि सर्वथा जीव भी असत् रूप होता तो उसे भी निषेध करनेकी जरूरत न पड़ती। अर्थात् आप नास्तिकोंकी ओरसे किया हुआ जीवका निषेध ही जीवके अस्तित्वको सावित करा सकता है। कोई भी प्रामाणिक कदापि किसी असत् वस्तुका निषेध नहीं कर सकता। जो निषेध किया जाता है वह मात्र वस्तुके एक दूसरेके साथ सम्बन्धका ही किया जाता है परन्तु वस्तुका नहीं। जैसे कि कोई यह कहे कि गधेके सिर पर सींग नहीं या देवदत्त घर पर नहीं तो इसका अर्थ इतना ही है कि गधे और सींगका परस्पर सम्बन्ध नहीं। वस्तुकी दृष्टिसे गधा भी है और सींग भी हैं। 'गधेके सींग नहीं' इस तरहका निषेध फक्त गधे और सींगके सम्बन्धका ही अभाव सूचित करता है। इसी तरह देवदत्त घर पर नहीं यह वाक्य भी देवदत्त और घरके वीचका जो साक्षात सम्बन्ध है उसका ही प्रतिवन्ध करता है। वस्तु स्वरूपसे देवदत्त भी है और घर भी। इस निषेध वाक्यके द्वारा इन दोनोंमेंके एक भी भावका निषेध नहीं हो सकता। इसी प्रकार दूसरा चंद्र नहीं है, घड़े जितना मोती नहीं और आत्मा नहीं है इत्यादि निषेध करनेवाले वाक्योंके भावको समझ लेना चाहिये। अर्थात् ये वाक्य चंद्र, मोती, या आत्माका निषेध नहीं करते परन्तु चंद्रकी अनेकता, मोतीका घट जितना प्रमाण और अमुक शरीरके साथ आत्माका संयोग इस प्रकारकी विशेषताका ही निषेध करते हैं बाकी मोती भी है और घटके समान नाप भी है किन्तु उन दोनोंमें किसी प्रकारका सम्वन्ध नहीं है। इसी अभिप्रायसे उपरोक्त वाक्यकी योजना की गई है। इसी तरह 'आत्मा नहीं है' इस वाक्यका भी भाव ऐसा है कि अमुक शरीरके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं। हम पहले यह अच्छी तरह समझा चुके

हैं कि, जो वस्तु सर्वथा असत्य हो उसका निषेध नहीं हो सकता निषेध उसीका हो सकता है कि जिसकी कहींपर भी विद्यमानता न हो अतः आत्मा नहीं यह निषेध स्वयं ही आत्माके अस्तित्वको साबित करता है फिर वह चाहे जहाँपर हो। किन्तु इस वाक्यसे आत्माकी विद्यमानतामें जरा भी संदेह नहीं आ सकता। अर्थात् किसी भी जगह जिस वस्तुकी विद्यमानता हो उसीका निषेध हो सकता है इस दलीलके द्वारा आपका आत्मा नहीं ऐसा निषेधात्मक वाक्य भी आत्माका स्पष्ट रूपसे विधान कर रहा है, अतः अस्तित्व रखनेवाले आत्माका किसी भी प्रकार लोप करना ठीक नहीं मालूम देता। आत्मा नहीं है इस वाक्यका जो यह (असुक शरीरमें आत्मा नहीं है) सच्चा अर्थ है सो सबको संमत है। क्योंकि मृतशरीरमें आत्मा नहीं होता यह सब ही एक समान रीतिसे मानते हैं। इससे अब आत्माका निषेध हो नहीं सकता। तथा आत्माकी सिद्धिके लिये इस प्रकारका एक दूसरा भी अनुमान प्रमाण है—इंद्रियोंके द्वारा देखे हुये प्रत्येक पदार्थका ज्ञान स्मरण इंद्रियोंकी विद्यमानता न होनेपर भी रहा करता है। अतः यह साबित हो सकता है कि इस ज्ञानको धारण करनेवाला कोई पदार्थ इंद्रियोंसे जुदा ही होना चाहिये और जो वह जुदा पदार्थ है वही आत्मा है। जिस प्रकार घरके गवाक्षमेंसे देखे जाते हुये पदार्थोंका स्मरण देखनेवाले देवदत्तको रहता है उसी प्रकार इंद्रियोंके द्वारा दीख पड़ते पदार्थोंका स्मरण देखनेवाले आत्माको रहता है। गवाक्ष या वातायनसे देवदत्त सर्वथा जुदा मालूम होता है वैसे ही आत्मा भी इंद्रियोंसे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाला है। इस प्रकार आत्माकी सिद्धि अनुमान द्वारा बहुत ही सबल रीतिसे हो सकती है। आत्माकी सिद्धि अनुमानसे पूर्ण रीत्या होनेके कारण—आगम—शास्त्र, प्रमाण, उपमान प्रमाण, और अर्थापत्ति प्रमाणसे भी उसकी सिद्धि मालूम हो सकती है, क्योंकि ये सभी प्रमाण अनुमानमें समा जाते हैं। आपकी तरफसे जो यह कहा गया है कि जो पदार्थ पांच प्रमाणोंसे न जाना जासके उसकी विद्यमानता नहीं हो सकती, यह कथन सरासर

असत्य है; क्योंकि पिशाचोंकी विद्यमानता और हिमालयकी शिलाओंके नापकी विद्यमानता यह दोनों किसी भी प्रमाणसे नहीं जानी जासकतीं, तथापि इन दोनोंकी विद्यमानता माननी पड़ती है। यह आत्मा पांचो प्रमाणोंमेंसे किसी भी प्रमाणसे मालूम नहीं होता यह वात भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणोंसे आत्माका भान हो सकता है इस विषयमें पहले सविस्तर उल्लेख किया जा चुका है।

आत्मा परलोकमें जानेवाला भी है, याने उसे कर्मवश होनेके कारण जन्मान्तर भी करने पड़ते हैं। इस वातको अच्छी तरहसे सव समझ सकें ऐसा सादा, सरल, सवूत, इस प्रकार है-ताजे ही जन्मे हुए वालकका किसीकी प्रेरणा या शिक्षणके विना जो माताका स्तनपान करनेका मन होता है वह उसके पूर्वाभ्यासका ही परिणाम है। किसी भी प्राणीको विना अभ्यास क्रिया करना नहीं आता। यह एक ऐसी साधारण वात है कि जिसे सव समझ सकते हैं। अतः वह ताजा वालक जो यहाँ पर विना ही शिक्षणके स्तनपानकी क्रिया करता है वह उसके पूर्वजन्मके अभ्यासका ही परिणाम है यह कल्पना जरा भी अयुक्त नहीं है। इसी कल्पनाके द्वारा आत्माका परलोकगमन सावित हो सकता है। जो मनुष्य आत्माको सर्वथा कूटस्थ, नित्य, याने जिसमें ज़रा भी परिवर्तन न होसके ऐसा नित्य मानते हैं उन्होंका मत भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि यदि उनका मत सत्य मान लिया जाय तो आत्मामें कदापि किसी प्रकारका परिवर्तन न होना चाहिये। जव आत्मा अमुक प्रकारके ज्ञानरहित होकर फिर अमुक प्रकारके ज्ञानवाला वनता है तव पहिले वह अज्ञाता था फिर वह ज्ञाता वनता है। यदि आत्माके स्वभावमें किसी प्रकारका जरा भी परिवर्तन न होता हो तो वह अज्ञाता से ज्ञाता कैसे वने? अतः आत्माको किसी भी प्रकारके परिवर्तन रहित नित्य मानना यह मत ठीक नहीं।

सांख्य मतवाले आत्माको कर्त्ता नहीं मानते। उन्होंका यह मत असत्य है। क्योंकि अपने कर्मफलोंका भोगनेवाला होनेसे आत्मा

कर्त्ता भी होना चाहिये। जिस प्रकार एक किसान खेतमें पैदा होनेवाले अन्न वगैरहका भोगनेवाला है अतः खेतीके करनेवाला भी वही है। उसी प्रकार आत्मा भी कर्मफलोंका भोक्ता होनेके कारण उनका कर्त्ता भी वही होना चाहिये। सांख्य मतवाले जिसे पुरुष कहते हैं वह सर्वथा क्रियाहीन होनेसे—अकर्त्ता होनेसे आकाश कुसुमके समान किसी वस्तु स्वरूप ही नहीं। हम जैन दर्शनानुयायी सांख्य मतवालोंसे यह पूछते हैं कि आप आत्माको भोक्ता मानते हो या नहीं? यदि आप उसे भोक्ता मानते हो तो फिर कर्त्ता माननेमें क्या हरकत आती है? यदि उसे भोगनेवाला न मानते हों तो फिर वह भोक्ता किस तरह कहा जाय? क्योंकि जिस तरहसे मुक्त हुआ आत्मा क्रियाविहीन होनेसे भोक्ता नहीं हो सकता उसी तरह आपका माना हुआ (सांख्योंका) आत्मा भी अकर्त्ता क्रियाविहीन होनेसे भोगनेवाला कैसे हो सके? यदि जो आत्माको कर्त्ताके तौरपर न मानकर भी भोक्ताके समान मानोगे तो अन्य भी अनेक दूषण उपस्थित होते हैं और वैसा माननेमें 'करे सो भरे' का सर्व सम्मत साधारण सिद्धान्त भी उलट जाता है। सांख्य कहते हैं कि प्रकृति कर्म करती है और आत्मा उसे भोगता है। यह कैसी सर्वथा असंगत बात है। यह बात तो ऐसी बनी कि करनेवाला और एवं भोगनेवाला और, यह बात सर्वथा अयुक्त है और अनुभव विरुद्ध है। यदि सांख्योंका यह मत बराबर ही हो तो फिर भोजन करनेवाला और तथा तृप्त होनेवाला कोई दूसरा, ऐसा भी प्रतीत होना चाहिये, परन्तु ऐसा तो कहीं भी आजतक सुना और देखा नहीं गया, अतः सांख्योंका भी यह मत बराबर नहीं है। अर्थात् सांख्योंको अपना दुराग्रह छोड़कर आत्माको भोक्ताके समान कर्त्ता भी मानना चाहिये।

कितने एक वादी ऐसा भी मानते हैं कि आत्मा और उसमें रहा हुआ चैतन्य ये दोनों सर्वथा जुदे जुदे हैं। परन्तु मात्र एक समवाय नामक सबन्धके कारण इन दोनोंका मिलान हुआ हुआ है। अर्थात् आत्मा मूल स्वरूपसे जड़ रूप है। उन्होंका यह कथन भी सर्वथा असत्य है। क्योंकि यदि आत्माका चेतनरूप स्वभाव न

हो तो जिस प्रकार जड़ आकाश किसी चीजको जान या पहचान नहीं सकता वैसे ही आत्मा भी किसी चीज़को किस प्रकार जान या पहचान सके ? यदि यह कहा जाय कि, आत्मामें चैतन्यका समवाय होनेके कारण वह पदार्थमात्रको जान सकता है, तो यह बात भी संगत नहीं। क्योंकि यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो घटमें भी समवायका सम्भव होनेसे घट भी हमारे समान पदार्थ मात्रका जानकार होना चाहिये। क्योंकि समवाय यह सब जगह रहनेवाला नित्य और एक होनेसे घटमें भी इसकी विद्यमानता होनी उचित है। यद्यपि इस विषयमें यहाँपर हम बहुत कुछ कहना चाहते हैं तथापि ग्रन्थगौरव होनेके भयसे लिख नहीं सकते। तात्पर्य यह है कि आत्मामें जानकारी शक्तिको माननेवालोंको आत्माको स्वभावसे चैतन्यरूप ही मानना चाहिये और उसे जड़ रूप मानना तो किसी भी अवस्थामें अच्छा नहीं। इस प्रकार आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाले विशाल उल्लेखसे आत्माकी सिद्धि एक वज्र लेखके समान अकाट्य हो चुकी है अतः अब किसीकी यह मजाल नहीं कि न्यायपूर्वक आत्माका इन्कार कर सके।

कर्मसहित आत्मा पांच प्रकारका है। एक इंद्रिय, एक मात्र स्पर्श इंद्रियवाला, द्विंद्रिय—दो स्पर्श और जीभ इंद्रियवाला, तीन इंद्रिय—स्पर्श, जीभ और नाक इंद्रियोंवाला, चार इंद्रिय—स्पर्श, जीभ, नाक और आंख इंद्रियोंवाला, पांच इंद्रिय—स्पर्श, जीभ, नाक, आंख और कान इंद्रियोंवाला। इन पांचों प्रकारमेंसे अन्तिम चार प्रकार सरलतासे समझे जा सकते हैं, क्योंकि इन अन्तिम चारों जीवोंमें जीव होनेके चिन्ह स्पष्ट तया मालूम होते हैं। परन्तु सबसे पहिला प्रकार एकेंद्रिय जीवके साथ सम्बन्ध रखता है। वह बराबर नहीं समझा जा सकता। पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन और वनस्पति, ये पांचों एकेंद्रियवाले जीव हैं। परन्तु इनमें जीव होनेके किसी प्रकारके स्पष्ट चिन्ह मालूम नहीं देते इस लिये इन सबको एकेंद्रियवाले जीव किस तरह मानना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—यद्यपि पृथ्वी वगैरहमें जीव होनेके स्पष्ट लक्षण नहीं मिल सकते, परन्तु इन सब एकेंद्रिय

प्राणियोंमें जीवके लक्षण अस्पष्टतया मालूम ही पड़ते हैं। जिस प्रकार मूर्छित हुए मनुष्यमें जीव होनेका लक्षण स्पष्ट नहीं मालूम देता तथापि उसमें जीवका अस्तित्व माना जाता है उसी प्रकार इन एकेंद्रियवाले जीवोंमें भी समझना चाहिये। कदाचित् यों कहा जाय कि मूर्छित मनुष्यमें जीवका मुख्य लक्षण श्वास लेनेकी क्रिया स्पष्ट मालूम होती है और पृथ्वी आदिमें श्वास वगैरहकी क्रिया कुछ भी मालूम नहीं होती इससे उसकी सजीवता किस तरह मानी जाय? इसका उत्तर इस प्रकार है-पृथ्वीमें एक इस प्रकारकी शक्ति रही हुई है कि जो अपने समान ही दूसरा अंकूर जमा सकती है। जैसे कि नमक, परवाल और पाषाण वगैरह। गुदाके किनारे पर रहे हुए ववासीरके मसे जिस तरह मांसके अंकूरोंको उत्पन्न करते हैं, यह उसके सजीवपनका लक्षण है उसी प्रकार पृथ्वी वगैरहमें भी अपने ही समान दूसरे अंकूरोंको अंकूरित करनेकी शक्ति होनेके कारण वे जीववाले हैं ऐसा माननेमें क्या हरकत है? जिसमें चैतन्यके लक्षण छिपे हुवे हैं और चैतन्यका एकाद निशान (व्यक्त) संभवित होता है। वनस्पतियोंके समान ही वैसे पृथ्वी वगैरह चेतना शक्तिवाले क्यों न माने जायँ?। वनस्पतियोंको नियमसे फलनेवाली होनेके कारण उसमें स्पष्टतया ही चैतन्य है यह मालूम हो सकता है उसी, प्रकार पृथ्वीमें भी चैतन्यका लक्षण विदित होनेसे उसे जीववाली क्यों न मानना चाहिये? पृथ्वीमें जो चेतनकी अव्यक्त एक निशानी है वह रही हुई है इसीसे उसे जीववाली मानना युक्तियुक्त है। कदाचित् यों कहा जाय कि, परवाल और पाषाण वगैरह तो कठिन चीज हैं उन्हें जीववाली किस तरह मान लिया जाय? इसका उत्तर इस प्रकार है। जिस तरह शरीरमें रहा हुआ हाड़ कठिन है तथापि वह जीववाला है उसी तरह इस कठिन और चैतन्यवाली पृथ्वीको भी जीववाली माननी चाहिये। अथवा जिस तरह पशुशरीरमें रहे हुये सींग और साखा वगैरह जीववाले हैं उसी प्रकार यह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति ये सब जीव-शरीर हैं क्योंकि ये दोनों एक समान रीतिसे छेदन की जाती हैं, भेदन की जाती

हैं, फेंकी जाती हैं, भोगी जाती हैं, सूँघी जाती हैं, चाखी जाती हैं और स्पर्श की जाती हैं। अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे पृथ्वी वगैरह भी जीववाले हैं। संसारमें जो कुछ पुग्दल द्रव्य हैं वे सब ही किसी न किसी जीवके शरीर हैं अतः पृथ्वीको भी शरीर कहनेमें किसी प्रकारका वाध नहीं आता। पृथ्वीमें रहा हुआ छेदनपन वगैरह धर्म दृष्टिगोचर होनेसे उनका निषेध नहीं किया जा सकता, अतः इन्हींके द्वारा उसकी सचेतना सावित हो सकती है। जिस पृथ्वीको किसी प्रकारका आघात नहीं लगा वह जीववाली है और जिस पृथ्वीको शस्त्र वगैरहका आघात लगा हुआ है वह जीव रहित है। जिस प्रकार हमारे हाथ पैर वगैरहका आघात सचेतन है वैसे ही शस्त्रद्वारा न हनी हुई संघातरूप पृथ्वी वगैरह भी सचेतन हैं और जिस तरह शस्त्रद्वारा हनन किये शरीरसे जुदे पड़े हुए हमारे हाथ पैर अचेतन हैं वैसे ही शस्त्रसे हनन की हुई पृथ्वी वगैरह भी अचेतन हैं। अर्थात् किसी वक्त कोई पृथ्वी सचेतन है और किसी वक्त कोई पृथ्वी अचेतन होती है। इस प्रकार शस्त्रसे न हनन की हुई पृथ्वीको एवं पानी वगैरहको सचेतन सावित करनेकी युक्ति है।

यदि यों कहा जाय कि—जैसे मूत्र सचेतन नहीं वैसे ही पानी सचेतन नहीं। यह कथन असत्य है। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो जैसे कलल अवस्थामें ताजा उत्पन्न हुआ हाथीका शरीर प्रवाही है और चेतनवाला है वैसे ही पानी भी चेतनवाला है। अथवा जैसे अण्डेमें रहा हुवा पक्षीका जलमय शरीर कि जिसे अभी तक कोई चंचू वगैरह भाग प्रकट नहीं हुआ है वह चेतनवाला होता है वैसे ही पानीको भी सचेतन समझना चाहिये। इस विषयको विशेषतः स्पष्ट करनेवाले अनुमान इस प्रकार हैं।

१ जिस तरह हाथीके शरीरका मूल कारण वह प्रवाही कलल सचेतन है, वैसे ही शस्त्रसे आघात न पाया हुआ पानी भी सचेतन है। मूत्र तो शस्त्रसे आघात पाया हुआ होनेके कारण सचेतन हो नहीं सकता। २ जिस प्रकार अण्डेमें रहा हुआ रस सचेतन है उसी प्रकार पानी भी सचेतन है। ३ पानीरूप होनेके

कारण बर्फ, वगैरह कहीं कहीं पर अन्य पानीके समान सचैतन्य है। ४ जिस प्रकार स्वभावसे ही पैदा होता हुआ मेंडक सचेतन है उसी प्रकार जमीन खोदते हुये स्वाभाविक निकलनेवाला पानी भी सचेतन है। ५ जिस प्रकार कितनीएक दफा बादलोंके विकारमें अपने आप ही उत्पन्न होकर नीचे पड़ती हुई मछली सचेतन है वैसे ही आकाशमें रहा हुआ पानी भी सचेतन है। इस प्रकार अनेक युक्तियों द्वारा पानीको सचेतन समझना चाहिये।

६ जाड़ेकी ऋतुमें जब बहुत ठंडी पड़ने लगती है उस वक्त छोटे जलाशयमें कम, बड़े जलाशयमें कुछ अधिक, और उससे भी बड़े जलाशयमें विशेषतासे बाफ निकलती हुई देखनेमें आती हैं, वे जीवहेतुक ही होनी चाहियें। जिस प्रकार कम मनुष्योंकी भीड़में कम बाफ, अधिक मनुष्योंकी भीड़में अधिक बाफ और उससे भी अधिक मनुष्योंकी भीड़में उससे भी अधिक बाफ होती है उसी प्रकार जाड़ेकी मौसममें पानीसे निकलता हुआ उष्ण स्पर्श भी उष्ण स्पर्शवाली वस्तुसे पैदा होता है। यदि कोई यों कहे कि पानीमें वह स्पर्श स्वाभाविक है अतः पूर्वोक्त कथन मानने योग्य नहीं। क्योंकि वैशेषिक वगैरह वादियोंने कहा है कि पानीमें ठंडा स्पर्श ही होता है। तात्पर्य यह है कि तालाब कुवाँ वगैरह जलाशयोंमेंसे जाड़ेमें जो बाफ निकलती है वह जीवहेतुक है। जिस तरह जाड़ेमें ठंडे पानीसे न्हाते हुये मनुष्यके शरीरमेंसे बाफ निकलती है उसका कारण उसका तैजस शरीरवाला आत्मा है, वैसे ही जाड़ेमें पानीमेंसे निकलती हुई बाफका कारण भी पानीका तैजस शरीरवाला आत्मा है। इसके सिवाय पानीमेंसे बाफ निकलनेका अन्य कोई कारण नहीं। अतः पानी भी सजीव है। यह विषय युक्तिपूर्वक सरलतासे स्पष्ट समझा जा सकता है। कदाचित् यों कहा जाय कि कितनी एक दफा कूड़ेके ढेरमेंसे भी बाफ निकलती मालूम देती है और उस बाफका कोई हेतु नहीं माना जासकता, इससे पानीमेंसे निकलती हुई बाफ भी कूड़ेके ढेरमेंसे निकलती हुई बाफके समान ही क्यों न अहेतुक मानी जाय? इस बातका समाधान इस प्रकार है:—कूड़ेके ढेरमें

भी जो उष्णता रही हुई है और उसमेंसे जो वाफ निकलती है इसका कारण उसमें उत्पन्न हुये जीवोंके मृत शरीर हैं। अर्थात् कूड़ेके ढेरकी वाफ और उसका उष्ण स्पर्श ये दोनों ही अकारण नहीं हैं किन्तु सकारण ही हैं। यदि यहाँपर यह प्रश्न किया जाय कि जीवोंके मृत शरीर वाफके या उष्ण स्पर्शके कारण किस तरह हो सकते हैं? इसका उत्तर यह है—जैसे कि जले हुए पाषाण पर पानी छीड़कनेसे उसमेंसे वाफ निकलती है वैसे ही यहाँपर भी जो वाफ निकलता है उसका कारण ठंडी है। इस तरह अन्य जगह भी वाफ और उष्ण स्पर्शका कारण कहींपर सचित् पदार्थ हैं और कहींपर अचित पदार्थ है यह समझना चाहिये। इसी प्रकार जाड़ेकी मौसममें पर्वतके समीप और वृक्षोंके नीचे जो उष्णताका अनुभव होता है उसे भी मनुष्यके शरीरमें रहे हुये उष्ण स्पर्शके समान जीवहेतुक समझना चाहिये। ऐसे ही ग्रिष्मकालमें बाहरके सक्त तापके कारण जैसे मनुष्यके शरीरमें रहा हुआ तैजस शरीररूप अग्नि मंद पड़ जाता है और उससे मनुष्यका शरीर ठण्डा मालूम देता है वैसे ही पानीमें रहे हुये ठंडे स्पर्शके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् जैसे मनुष्य शरीरका ठंडा स्पर्श जीवहेतुक है वैसे ही पानीमें जान पड़ता ठंडा स्पर्श भी जीवहेतुक ही है। इस प्रकार अनेक युक्ति-योंसे पृथ्वीके समान पानीको भी सजीव समझ लेना चाहिये।

अब अग्निको भी सजीव समझना चाहिये। उसकी युक्ति इस प्रकार है–जिस तरह रात्रीके समय खद्योत (पठवीजना) अपने शरीरके परिणामसे प्रकाश देता है और वह प्रकाश जीव शक्तिका प्रत्यक्ष फल है वैसे ही अंगार वगैरहके प्रकाशको भी जीव शक्तिका फलरूप मानना यह किसी प्रकार कुछ अयुक्त नहीं है। अथवा जैसे बुखारकी गर्मी जीववाले शरीरके विना अन्य कहीं नहीं हो सकती, वैसे ही अग्निकी गरमीभी उसमें जीवकी विद्यमानता सिवाय नहीं होसकती। कहींपर किसी भी समय मृतशरीरमें बुखारकी विद्यमानता नहीं हो सकती। इस प्रकार उष्णताके साथ जीवकी विद्यमानताका सहचार मालूम होनेसे अग्निको सचित

माननेमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं। १ जैसे खद्योतके शरीरमें रहा हुआ प्रकाश जीववाला है वैसे ही अंगार वगैरहमें रहा हुआ प्रकाश भी जीवके संयोगसे ही उत्पन्न हुआ है।

२ जैसे मनुष्यके शरीरमें आया हुआ ताप जीव संयोगी माना जाता है वैसे ही अंगार वगैरहमें रहा हुआ ताप भी जीव संयोगी है ऐसा मानना चाहिये। सूर्य वगैरहका प्रकाश भी जीव संयोगी ही है अतः इस विषयमें भी किसी प्रकारका बाध नहीं आता।

३ जिस प्रकार आहार लेनेके प्रमाणके कारण मनुष्यके शरीरमें हानि और वृद्धि होती है वैसे ही उसी हेतुसे प्रकाशमें भी हानि और वृद्धि होनेके कारण उसे भी मनुष्यके शरीरके समान ही जीव संयोगी मानना चाहिये। इस प्रकार अन्य भी अनेक दलीलोंसे अग्निमें जीव होनेकी बात शंका रहित साबित हो सकती है।

वायुमें भी जीव है इस बातको साबित करनेवाले निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१ जिस प्रकार किसी चमत्कारिक शक्तिके कारण देवका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु वह चेतनवाला है एवं विद्या, मंत्र तथा अंजन वगैरहके प्रभावसे किसी सिद्ध पुरुषका शरीर देखनेमें नहीं आता परन्तु वह भी चेतनवाला है, इसी प्रकार वायुका शरीर नजरसे नहीं दीखता परन्तु पूर्वोक्त दोनों शरीरके समान वह भी चेतनवाला है ऐसा माननेमें किसी प्रकारकी हरकत नहीं आती। जिस प्रकार परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण देखनेमें नहीं आता और जले हुए पाषाणका टुकड़ा गरम लगता है परन्तु उसमें अग्नि नहीं देखनेमें आता उसी प्रकार वायुमें रहा हुआ रूप अति सूक्ष्म होनेके कारण वह हमारी नजरसे देखनेमें नहीं आता। २ जिस प्रकार गाय एवं घोड़ा वगैरह तिर्यंच पशु अपने आप ही किसीकी प्रेरणा विना ही वाँके चूंके और चाहे उस तरफ अनियमित रीतिसे चलते हैं वैसे ही वायु भी किसीकी प्रेरणा विना ही वाँका चूंका और चाहे उस तरफ अनियमिततासे चलनेवाला होनेके कारण जीव संयोगी है। यद्यपि जीव और पुद्गलकी गति अनुश्रेणि होनेसे परमाणु भी वक्र गति करता है, परन्तु वह नियमित रीत्या ही

वैसी गति करनेवाला होनेसे वह वायुके साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयमें जरा भी विघ्नकारक नहीं हो सकता । इस प्रकार शस्त्रसे किसी तरहका आघात न पाया हुआ वायु सजीव है ऐसा समझना चाहिये ।

वनस्पतिको सजीव समझनेकी युक्तियें इस प्रकार हैं—

१ जो जो स्वभाव मनुष्यके शरीरमें विद्यमान हैं वे ही स्वभाव वनस्पतिके शरीरमें भी स्पष्ट रीतिसे मालूम होते हैं, इस लिये वनस्पतिको भी मनुष्यके समान ही सजीव मानना चाहिये । क्यों कि वनस्पति में रहे हुये मनुष्य शरीरके जैसे स्वभाव वनस्पति की सजीवता सिवाय सम्भवित नहीं हो सकते । जिस वनस्पतिमें जिस तरहका मनुष्य स्वभाव रहा हुआ है, वह इस प्रकार है-जिस तरह मनुष्यका शरीर बालक रुप, कुमार रुप, युवारूप और वृद्ध रूपसे देखनेमें आता है और वैसा दीखनेसे वह स्पष्टतया चेतनवाला माना जाता है वैसे ही वनस्पतिका देह भी इन चारों दशाओंका अनुभव करता है । जैसे कि केतकका वृक्ष बालरूप, तरुणरूप, और वृद्धरुपमें देखनेमें आता है अतः वह पुरुषके शरीरके समान अवस्थाओंका अनुभव करनेसे सचेतन है । तथा जिस तरह मनुष्यका शरीर निरन्तर भिन्न भिन्न अवस्था ओंका अनुभव करता हुआ नियमित रीतिसे वढ़ा करता है वैसे ही अंकूर, किसलय, शाखा, प्रशाखा वगैरह अनेक अवस्थाओंका अनुभव करता हुआ वनस्पति शरीर भी बढ़ा करता है, अतएव वह सचेतन है । तथा जैसे मनुष्यके शरीरमें ज्ञानका सम्बन्ध है त्यों वनस्पतिके शरीरमें भी ज्ञानका सम्बन्ध है । प्रपुन्नाट, सिद्धेसर, कासुन्दक, बथुला, एवं इमली वगैरह वनस्पति निद्रा लेकर जागृत होती हैं, अतएव उनमें ज्ञानकी विद्यमानता मालूम हो सकती है । उनमें मूर्च्छा भी रही हुई मालूम देती है । क्योंकि वे वृक्ष अपनी जड़ोंके नीचे धनके वर्तनको दवा रखते हैं या उस वर्तनको अपनी जड़ोंसे वेष्ठित कर लेते हैं । तथा वड़, पीपल, और नींव वगैरहके अंकूर चातुर्मासके मेघकी गर्जनासे और ठंडे वायुके स्पर्शसे जम निकलते हैं, याने इन वनस्पतियोंमें

शब्दको पहचाननेकी या स्पर्शको परखनेकी शक्ति भी रही हुई है। अशोकके पेड़को पत्ते और फल तब ही आते हैं कि जब पायलवाली एवं उन्मत्ता स्त्री अपने कोमल पैरसे उसे ठुकरावे। फनसके पेड़को जब कोई युवती स्त्री आलिंगन या स्पर्श करे तब ही उसे फूल और पत्ते आते हैं। जब सुगंधित दारूका उसपर कुल्ला किया जाय उस वक्त बकुलके पेड़को पत्ते और फूल आते हैं। सुगंधी और स्वच्छ पानीका सिंचन करनेसे चंपाके पेड़को पत्ते और फूल आते हैं। कटाक्ष पूर्वक सामने देखनेसे तिलके वृक्षको पत्ते और फूल आते हैं। पंचम स्वरके उद्गारसे शीरीषके और विरहकके फूल झड़ जाते हैं। कमल वगैरह प्रातः कालमें ही खिलते हैं। घोषानकी वगैरहके फूल संध्यासमय ही खिलते हैं कुमुद वगैरह चन्द्रमाका उदय होनेपर ही खिलते हैं। एवं पासमें वृष्टि पड़नेसे समीका अवत्तरण हो जाता है। लता वगैरह भीतों पर चढ़ जाती हैं। लज्जावन्ती वगैरह वनस्पतियें हाथ लगाते ही सर्वथा प्रत्यक्षतया संकोचको प्राप्त होती हैं। एवं वनस्पति मात्र अमुक अमुक ऋतुमें ही फलप्रदान करती हैं। ये पूर्वोक्त समस्त गुण ज्ञान विना सम्भवित ही नहीं हो सकते, अतः वनस्पतियोंमें इन गुणोंकी विद्यमानता होनेसे उनमें ज्ञानका सद्भाव और इससे चैतन्यका अस्तित्व भी स्पष्ट ही साबित होता है। जिस तरह हाथ,पैर या अन्य कोई अवयव कटे बाद मनुष्यका शरीर सूखता है वैसे ही वनस्पतिका शरीर भी पत्ते,फल, एवं फूल वगैरह कटे बाद वह कुमला जाता है यह बात प्रत्यक्ष ही देखनेमें आती है। जिस तरह मनुष्यका शरीर माताका दूध, शाक, रोटी, चावल वगैरहका आहार करता है वैसे ही वनस्पतिका शरीर भी पृथ्वी और पानी वगैरहका आहार करता है। यदि वनस्पतिमें सजीवता न हो तो उसमें आहार करनेकी शक्ति किस तरह सम्भवित हो सके? अतः वनस्पतिको सचेतन माननेमें अब किसी प्रकारका बाध नहीं आसकता। तथा जिस प्रकार मनुष्यका आयुष्य अमुक परिमित परिमाणवाला होता है उसी प्रकार वनस्पतिका आयुष्य भी अमुक अवधिवाला होता है। वनस्पतिका

आयुष्य अधिकसे अधिक दस हजार वर्षका होता है। जिस तरह इच्छित वस्तुओंके संयोगसे मनुष्यका शरीर बढ़ता है वैसे ही अनिश्चित वस्तुओंके संयोगसे घटता है, उसी प्रकार और उसी हेतुसे वनस्पतिके शरीरमें भी न्यूनाधिकता हुआ करती है। मनुष्यके शरीरको रोग होनेके कारण जिस तरह कि उसमें पीलापन, पेटका बढ़ जाना, सूज जाना, सूक जाना, उंगलियों वगैरहका नष्ट हो जाना इत्यादि हो जाता है उसी तरह वनस्पतिके शरीरको भी इस तरह रोगोत्पत्ति होनेके कारण फूल, फल, पत्ते और छाल वगैरहमें उसी प्रकारके विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उन सबका रंग बदल जाता है, वे सब झड़ जाते हैं, और किसी समय उनमेंसे पानी भी झरता है अर्थात् मनुष्यके समान वनस्पतिको रोग भी हुआ करते हैं। जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें कोई जखम या घाव हो और वह मलहम पट्टी वगैरहसे भर जाता है या रोगी मनुष्यका शरीर औषधोंके प्रयोगोंसे निरोगी हो जाता है वैसे ही वनस्पतिके शरीरको भी औषधीका सिंचन या लेप करनेसे इसी प्रकारका फायदा होता हुआ मालूम देता है। जिस प्रकार मनुष्यका शरीर रसायन वगैरहका सेवन करनेसे बलवान और कान्तिवान् होता है वैसे ही वनस्पतिका शरीर भी खास कर आकाशके पानी वगैरहके सिंचनसे विशेष रसवाला और कान्तिवाला बनता है। खास खास वनस्पतियोंके लिये एक वृक्षायुर्वेद भी लिखा हुआ है। जिस तरह स्त्रियोंका दोहद (इच्छा) पूर्ण किये बाद पुत्रादिका प्रसव होता है वैसे ही वनस्पतिका दोहद पूर्ण किये बाद उसे फल और फूल वगैरह आते हैं। इस प्रकार वनस्पति और मनुष्यके देहमें विशेष साम्यता प्रत्यक्ष देख सकते हैं तो फिर मनुष्यके देहमें जिस तरह चैतन्यके विषयमें शंका नहीं उठा सकते वैसे ही वनस्पतिके शरीरसम्बन्धमें भी शंका किस तरह उठाई जा सके? इस विषयमें इससे भी प्रबल और क्या दलील पेश की जा सकती है? अन्तमें जिस तरह जन्म, जरा, मृत्यु और रोग वगैरहके अस्तित्ववाली स्त्री चेतनावाली है वैसे ही और उसी कारणसे वनस्पति भी चेतनावाली है। अब

इस विषयमें मतभेद होनेका कोई कारण नहीं। इस प्रकार पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, और वनस्पति, इन पांचोंमें चैतन्यकी विद्यमानता साबित हो सकती है और वह आकाश युक्तियों एवं प्रामाणिकतासे परिपूर्ण है। अथवा इन पांचोंमें चैतन्यका अस्तित्व पूर्वकालीन आप्त पुरुषोंने फरमाया है, अतः इन पांचोंको चैतन्य सहित माननेमें जरा भी शंका करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब जो जीव दो इंद्रियादि हैं-अर्थात् कृमि, चींटी भ्रमर, मछली, चिड़िया गाय और मनुष्य वगैरह हैं उनमें चैतन्यकी विद्यमानता प्रत्यक्ष जान पड़नेके कारण इस विषयके साथ सम्बन्ध रखनेवाली शंकाको जरा भी स्थान नहीं मिलता। अब जो लोग इस तरहकी प्रत्यक्ष सिद्ध बातके लिये भी मतभेद प्रकट करते हैं उनके लिये भी यहाँपर कुछ कह देना उचित है। यदि कोइ यह कहनेका साहस करे कि दो इंद्रिय वगैरह जीवोंमें कुछ चैतन्य नहीं है। वे जीव जो कुछ विशेष जानते हैं वे इंद्रियोंके लिये ही जान सकते हैं। इस बातका समाधान ऊपर तो हो ही चुका है, तथापि यहाँपर फिरसे दर्शाते हैं—आत्मा इंद्रियोंसे सर्वथा भिन्न पदार्थ है। क्योंकि जो बात या वस्तु जिस इंद्रियद्वारा मालूम होती है और फिर उस इंद्रियके नाश होनेपर भी जो उसी बात या उस वस्तुका स्मरण जिसमें दृढ़तासे पड़ा रहता है, जिसके द्वारा स्मरण किया जा सकता है वह वस्तु इंद्रियोंसे सर्वथा जुदी है और वही आत्मा है। यदि आत्मा इंद्रिय ही हो तो किसी भी एक इंद्रियका नाश होनेपर उसके द्वारा होनेवाले ज्ञानका भी नाश होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता तो कहीं भी जाननेमें नहीं आता, अतः आत्मा इंद्रियोंसे भिन्न है यह बात सर्वथा निश्चित और निर्विवाद है। आत्मा इंद्रियोंसे सर्वथा भिन्न है इस बातका एक यह भी कारण है कि कितनी एक दफा किसी शक्तिकी असावधानताके लिये इंद्रियोंकी विद्यमानता होनेपर भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यदि इंद्रियाँ ही आत्मा हों तो इंद्रियोंकी विद्यमानतामें कोई शक्ति असावधान हो तथापि उसमें ज्ञान होना चाहिये। परन्तु ऐसा भी कहीं नहीं जान पड़ता। अर्थात् हम भी बहुतसी दफा इस बातका अनुभव करते हैं कि

आंखें खुली होनेपर भी पासमेंसे क्या चला जा रहा है सो मालूम नहीं होता। कान खुले होनेपर भी समीपका गायन सुननेमें नहीं आता, यदि इसका कुछ कारण हो तो यह उस शक्तिकी असावधानता ही है और वह जो शक्ति है उसीका नाम आत्मा है। दूसरी एक यह भी बात है कि इंद्रियों द्वारा विदित होते पदार्थोंका अनुभव इंद्रियाँ नहीं करतीं परन्तु उनका अनुभव कोई दूसरा ही करता है। किसीको नींबू खाता देखकर हमारे मुँहमें पानी आता है, किसी सुन्दरी युवती स्त्रीको देखकर हममें विकार पैदा होता है, यदि इंद्रियोंके द्वारा विदित होते पदार्थोंका अनुभव भी इंद्रियाँ ही करती हों तो ऐसा न बनना चाहिये। देखें आँखें और जीभसे पानी टपके, देखें आँखें और विकार समस्त शरीरमें उत्पन्न हो, यह सब किस तरह बन सके? अतः इससे यह बात निश्चित हो सकती है कि इंद्रियोंसे भिन्न अनुभव करनेवाला कोई अन्य ही होना चाहिये, और जो वह अनुभव करनेवाला है वही आत्मा है। इस विषयमें अन्य भी एक यह अनुमान है। हम वस्तुमात्रको आँखोंसे देखते हैं और फिर यदि उसे लेनी हो तो हाथसे लेते हैं। यदि आत्मा इंद्रियरूप ही हो तो वस्तुको आँखसे देखे बाद उसे लेनेकी हाथको आज्ञा कौन कर सके? क्यों कि आँख तो मात्र देख ही सकती है परन्तु ले नहीं सकती, एवं लिवा भी नहीं सकती। अतः हाथको लेनेका और आँखको देखनेका हुकम करनेवाला कोई पदार्थ इनसे जुदा ही होना चाहिये और वह जो पदार्थ है वही आत्मा है। इस प्रकार अन्य भी अनेक प्रमाण हैं जो विशेषावश्यककी टीकामें दिये हुए हैं। वे सब ही एक आवाजसे आत्माकी सिद्धि कर रहे हैं। इस लिये अब आत्माके अस्तित्वमें किसी प्रकारकी जरा भी शंका नहीं रह सकती, यह बात समस्त वादियोंको समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार जैन दर्शन आत्माकी सिद्धि करता है।

'इति जीववाद'

जैन दर्शनमें अजीव तत्वकी व्याख्या और विभाग निम्न लिखे मुजब है—उपरोक्त प्रकारसे जीवके जो जो धर्म—स्वभाव-या गुण कहे हैं उससे विपरीत स्वभाववाले भावको अजीव कहते हैं। अर्थात् जिस भावमें मूलसे ही जानपन नहीं होता, जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श वगैरह गुण भिन्नतया और अभिन्नतया रहते हैं, जिसका पुनर्जन्म नहीं होता, जो पाप, पुण्य या किसी प्रकारके कर्मको नहीं करता और उसके फलको भोगता भी नहीं इस प्रकारका जो जड़रूप भाव है उसका नाम अजीव है। वह अजीव तत्त्व पाँच प्रकारका है—

१ धर्म (धर्मास्तिकाय) २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशस्तिकाय ४ काल ५ पुग्दलास्तिकाय। उनमें धर्मास्तिकायका स्वरूप इस प्रकार है—यह धर्म नामका पदार्थ समस्त लोकमें चारों तरफ व्यापित होकर रहा हुआ है। यह नित्य है, याने कभी भी इसका स्वभाव पलटता नहीं है, स्थायी है याने इसमें कभी भी न्यूनाधिकता नहीं होती, रूप रहित है, अर्थात् विना आकारका है, और परमाणु जितने ही इसके असंख्य प्रदेश हैं एवं यह धर्मास्तिकाय नामक पदार्थ जड़ और चैतन्यको गति करनेमें सहाय करता है। जो जो वस्तु आकारवाली हैं उन सबमें

१ इस धर्मास्तिकायके पर्यायशब्दोंका उल्लेख करते हुये श्री भगवतीजी (व्याख्या प्रज्ञाति) सूत्रके २० वें शतकके दूसरे उद्देशकमें इस प्रकार लिखा है—धम्मात्थिकायस्सणं भंते ! केवइया अभिवयणावण्णता ? गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता. तं जहाः—धम्मे तिवा, धम्मत्थिकाए इवा, पाणाइवाय वेरमणे ति वा, मुसावाय वेरमणे ति वा, एवं जाव० परिग्गह वेरमणे ति वा, कोह विवेगे ति वा, जाव० मिच्छादंसण सल्लविवेगे ति वा, इरिया समिई ति वा, भापा समि इति वा एसणा समि इति वा, आदाणभंडमत्तनिक्खेवणा समिईति वा × मणगुत्ती ति वा, वइगुत्ती तिवा, कायगुत्ती तिवा—जे यावऽण्णे तप्पगारा सव्वे ते धम्मत्थिकायस्स अभिवयणा."

" अर्थात्—हे भगवन्! धर्मास्तिकायाके कितने अभिवचन (पर्यायशब्द) जनाये हैं ?

" हे गौतम ! (उसके) अनेक अभिवचन बतलाये गये हैं। जैसे कि धर्म, धर्मास्तिकाय, प्राणातिपात विरमण—अहिंसा, मृषवाद विरमण–सत्य, इस प्रकार यावत् परिग्रह विमरण—अपरिग्रहता, क्रोध, विवेक, यावत् मिथ्या दर्शन शल्य विवेक, इर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान भाण्ड मतनिक्षेपना समिति, मनोगुप्ति, वचन गुप्ति, कायगुप्ति, (इत्यादि) अन्य भी जो तथा प्रकारके हैं वे सब धर्मास्तिकायके अभिवचन हैं " ।

इस उपरोक्त उल्लेखमें स्पष्ट प्रकारसे धर्मास्तिकाय और प्राणाति पात विरमण इसीसे सूत्रकारका आशय धर्मास्तिकाय, और अहिंसा वगैरहका समान भाव ज्ञापित करनेका हो यह बात मालूम होती है। अर्थात् जब इस सूत्रमें धर्मास्तिकायके विषयमें इस प्रकारका उल्लेख है तब यह सूत्र दूसरे सूत्रग्रन्थोंमें धर्मास्तिकायके सम्बन्धमें एक जड द्रव्य होनेकी व्याख्या भी जगह जगह उपलब्ध होती है—इससे इन दो व्याख्याओंमें कौनसी व्याख्या व्यवस्थित और कौनसी अव्यवस्थित है यह बात तो बहुश्रुतोंके हाथमें है।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि गुण रहे हुए हैं। क्योंकि आकार और रूप वगैरह गुणोंकी सदैव सहचरता रहती है, जहाँ जहाँ रूप होता है वहाँ सब जगहपर स्पर्श, रस और गन्ध भी होते हैं और इस प्रकार परमाणु तकमें भी इन चारोंका सहचरत्व रहता है। ये धर्मास्तिकाय नामक भावमें गुण और पर्याय रहे हुये हैं अतः इसे द्रव्य भी कहते हैं (जो स्वभाव वस्तुके साथ ही पैदा होनेवाला होता है उसका नाम गुण है और जो धर्म वस्तुमें क्रमसे पैदा होता है उसका नाम पर्याय है) गुण और पर्यायवाले भावको द्रव्य कहनेकी हकीकत तत्वार्थसूत्रमें भी उपलब्ध होती है। जिसका दूसरा भाग न हो सके ऐसे परमाणु खण्डको अस्ति अथवा प्रदेश कहते हैं और उसके समुदायको काय कहते हैं। अर्थात् अस्तिकाय शब्दका समुच्चय अर्थ 'प्रदेशका समूह' होता है। यह धर्मास्तिकाय नामक भाव समस्त लोकाकाशमें व्याप्त रहनेके कारण इसके प्रदेश भी लोकाकाशके प्रदेशोंके समान ही परिमाणवाले होते हैं। यह धर्मास्तिकाय नामक भाव गति

करते हुये जीव और पुग्दलको सहायक होनेके कारण उनका उपकारी है। अर्थात् यह भाव जीव और पुग्दलकी गतिका अपेक्षा कारण है। कारण तीन प्रकारके होते हैं और उनका स्वरूप इस प्रकार है— १ परिणामी कारण, २ निमित्त कारण, ३ निर्वर्तक कारण।

घटका परिणामी कारण मट्टी है, क्योंकि मट्टी स्वयं ही घटके आकारमें परिणत होती है—बदल जाती है। घटका निमित्त कारण दण्ड और चाक वगैरह हैं, क्योंकि इन निमित्तोंके सिवाय घड़ेको बनाया नहीं जा सकता और कुम्भार स्वयं घटका पैदा करनेवाला होनेसे निर्वर्तक कारण है। अन्य ग्रन्थमें भी कारणोंकी व्याख्या इसी प्रकार लिखी है। जैसे कि 'घटका निर्वर्तक कारण कुम्भार है, घटका निमित्त कारण उसका चाक है और घटका परिणामी कारण मट्टी है। इस प्रकार कारण मात्रके तीन भाग हो सकते हैं" इनमेंके निमित्त कारणके जो दो भाग हैं वे इस प्रकार हैं—एक निमित्त कारण और दूसरा अपेक्षा कारण। संसारमें देख पड़ती समस्त क्रियायें दो प्रकारकी हैं। एक प्रायोगीकी और दूसरी वैस्रसीकी। जिस क्रियाको करते हुये किसी प्रकारका प्रयोग करना पड़ता है उसे प्रायोगीकी क्रिया कहते हैं और जिस क्रियाके होनेमें किसी प्रकारके मानवी प्रयोगोंकी जरूरत न पड़े उसे वैस्रसीकी क्रिया कहते हैं। जिन साधिनोंमें ये दोनों प्रकारकी क्रियायें होती हों उसका नाम निमित्त कारण है और उन निमित्त कारणोंमें जो असाधारण निमित्त है उसका नाम अपेक्षा कारण है। चाक और उसे घुमानेकी लकड़ी इन सबमें पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी क्रियायें होती हैं अतः चाक वगैरह घटके निमित्त कारण हैं और धर्मास्तिकाय वगैरहमें मात्र एक वैस्रसीकी क्रिया होती है। इस लिये वह निमित्त कारण तो है परन्तु वह (धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय वगैरह) असाधारण निमित्त कारण होनेसे उनकी विशेषता बतलानेके लिये उन्हें अपेक्षा कारण कहा गया है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय वगैरह असाधारण निमित्त कारण है उसका हेतु यह है कि इनमें (धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय आदिमें रहा हुआ क्रियाका परिणाम जीव और अजीवकी गति वगैरहके

परिणामको पुष्ट करता है, अतएव ये गति वगैरह क्रियायें असाधारण निमित्त हैं। जिस प्रकारकी हकीकत धर्मास्तिकायके सम्बन्धमें बतलाई है इसी प्रकारका वृत्तान्त अधर्मास्तिकायके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। मात्र विशेषता इतनी ही है कि अधर्मास्तिकाय[1], जीव और जड़को स्थिर रखनेमें असाधारण निमित्त है। अर्थात् अपने आप ही स्थितिके परिणामवाले जड़ और चैतन्यको स्थिर रखनेमें यह अधर्मास्तिकाय अत्यन्त उपकार करता है। इसी प्रकार आकाशास्तिकायके सम्बन्धमें भी समझलेना चाहिये मात्र विशेषता इतनी ही है कि उस आकाशके अनन्त प्रदेश हैं, वह लोक और अलोक दोनोंमें व्याप कर रहा हुआ है, एवं अवगाह पानेवाले जड़ और चेतनको अवगाह देकर यह आकाश उनपर उपकार करता है। जो कई आचार्य कालको किसी खास जुदे भावरूपमें नहीं मानते किंतु जड़ और चेतनके पर्यायरूपसे मानते हैं उन्होंके मन्तव्यके अनुसार पांच द्रव्य हैं और वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और जीवास्तिकाय, इस तरह पांच

---

1 इस अधर्म—अधर्मास्तिकायके पर्यायशब्दोंका उल्लेख करते हुये श्री भगवतीजी (व्याख्या प्रज्ञप्ति) सुत्रके २० वे शतकके दूसरे उद्देशकमें इस प्रकार फर्माया है—" अधम्मत्थिकायस्स णं भंते। केवइया अभिवयणा पण्णत्ता ?

गोयमा! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता, तं जहा—अध-म्मेति वा, अधम्मत्थिकाएतिवा, पाणातिवाये जाव० मिच्छादंसणसल्लेति वा. इरियाअसमिती तिवा जाव. उच्चार पासवण × असमिती—ति वा, मण अगुत्ती-ति वा—वइ अगुत्तीतिवा, काय अगुत्ती—तिवा—याऽवण्णे तहप्पगारा सव्वे ते अधम्मत्थिकायस्स अभिवयणा."

अर्थात्—" हे भगवन्? अधर्मास्तिकायके कितने अभिवचन बतलाये हैं?

हे गौतम! " उसके अनेक अभिवचन बतलाये हैं। जैसे कि अधर्म, अधर्मास्तिकाय, प्राणातिपात--अहिंसा यावत मिथ्या दर्शनशल्य। इर्या असमिति यावत् उच्चार प्रस्रवण असमिति, मन अगुप्ति; वचन अगुप्ति, काय अगुप्ति, (इत्यादि) अन्य भी जो तथा प्रकारके हैं वे सब अधर्मास्तिकायके अभिवचन हैं।"

हैं। जो आचार्य कालको भी एक जुदा ही भाव मानते हैं उनके मन्तव्यके अनुसार वह-द्रव्य है और वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल इस तरह पांच हैं। जहांपर लोक नहीं है किन्तु मात्र एकला अलोक ही है वहांपर भी आकाश रहा हुआ है। अर्थात् लोक और अलोक इन दोनोंमें रहनेवाला यह एक आकाश द्रव्य ही है। अपने आप ही अवगाह (समास) प्राप्त करनेके लिये आतुर हुये जड़ और चेतन भावोंको अवगाह देकर यह आकाश उपकार करता है, परन्तु जो जड़ और चेतन भाव अवगाह प्राप्त करनेकी त्वरावाले नहीं हैं उन्हें उस प्रकार अवगाह नहीं देता। इस अपेक्षासे जैसे मगरमत्स वगैरहको चालन क्रियामें पानी एक असाधारण निमित्त कारण है त्यों यह आकाश भी अवगाह—(अवकाश) देनेमें असाधारण निमित्त कारण है। कदाचित् यह कहा जाय कि जो आकाश अलोकके भागमें रहा हुआ है वह किसीको भी अवगाह—अवकाश नहीं दे सकता इस लिये उसे अवगाह देनेवाला किस तरह माना जाय? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—यदि उस अलोकके भागमें भी गतिका कारण धर्मास्तिकाय और स्थितिका निमित्त अधर्मास्तिकाय रहे हुये होते तो जरूर आकाश अपनी अवगाह देनेकी शक्तिका उपयोग कर सकता, परन्तु वहाँपर (अलोक आकाशमें) ये दोनों द्रव्य न होनेके कारण अलोकके आकाशमें रहा हुआ भी अवगाह देनेका गुण प्रगट नहीं हो सकता। अर्थात् धर्मास्तिकाय और अधर्मा-

---

1 इस उपरोक्त उल्लेखमें स्पष्ट प्रकारसे अधर्मास्तिकाय और प्राणातिपात—हिंसा वगैरहकी सम पर्यायता बतलाई है और इसी कारण सूत्रकारका आशय अधर्मास्तिकाय और हिंसा वगैरहका समान भाव दर्शानेका हो ऐसा संभवित होता है। अर्थात् जब इस सूत्रमें अधर्मास्तिकायके सम्बन्धमें इस प्रकारका उल्लेख है तब इस सूत्र, दूसरे सूत्र और दूसरे ग्रन्थोंमें अधर्मास्तिकायके सम्बन्धमें एक जड़ द्रव्य होनेकी व्याख्या भी जगह जगह देखनेमें आती है, इससे इन दो व्याख्याओंमें कौनसी व्याख्या यथार्थ और अविकृत है यह बात बहुश्रुतोंके हाथमें है।

स्तिकायकी विद्यमानतामें ही आकाश अपना अवगाह देनेका सामर्थ्य बतला सकता है। इससे अलोक आकाशमें यह सामर्थ्य ही नहीं है ऐसा हम किस तरह मानें? कदाचित् यों मान भी लिया जाय किन्तु जब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी विद्यमानता होनेपर भी अवगाह प्राप्त करनेके लिये आतुर हुये भावोंको यदि वह आकाश अवगाह न दे तो। परन्तु यहाँपर तो ऐसा नहीं है अतः ऊपर किया हुआ प्रश्न ही निरर्थक है। काल यह ढाई द्वीपमें प्रवर्तनेवाला भाव है, परम सूक्ष्म है, इसके विभाग नहीं हो सकते और यह एक समयरूप है। समयरूप होनेसे ही इसके साथ अस्तिकाय शब्दका सम्बन्ध नहीं लग सकता, क्योंकि प्रदेशोंके समुदायका नाम अस्तिकाय है यह बात हम पहलेही कह चुके हैं। इस विषयमें शास्त्रमें भी कहा है कि '.काल फक्त मनुष्य लोकमें व्याप्त रहा हुआ भाव है और यह एक समयरूप होनेसे इसे अस्तिकाय शब्दका सम्बन्ध घट नहीं सकता, क्योंकि काय यह समुदायका ही नाम है " यह काल सूर्य, चंद्र, ग्रह और नक्षत्र वगैरहके उदयसे और अस्तसे मालूम हो सकता है। इसे भी कितने एक द्रव्यरूप मानते हैं। यह एक समयरूप, काल द्रव्यरूप भी है और पर्यायरूप भी। यह द्रव्यरूपसे नित्य है और पर्यायरूपसे अनित्य। अभीतकका समस्त काल और अबसे बादका कालरूपसे एक समान होनेके कारण उसे नित्य कहा जाता है और उसमें प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश होनेके कारण उसे अनित्य भी कहते हैं। जिस प्रकार एक परमाणु उसमें होते हुये परिवर्तनकी अपेक्षा अनित्य है और उसका परमाणुत्व कदापि न जानेके कारण नित्य भी है, इसी तरह यह एक समयरूप काल भी नित्य और अनित्य है। यह काल नामक भाव किसी पदार्थका निर्वर्तक कारण नहीं है एवं परिणामी कारण भी नहीं। किन्तु अपने आप ही पैदा होते हुए पदार्थोंका अपेक्षा कारण है। क्योंकि वे पदार्थ अमुक कालमें ही होने चाहियें इस प्रकारके नियमका कारण काल है। पदार्थ मात्रमें वर्तना वगैरह क्रियाओंका करनेवाला काल होनेसे यह उनका उपकार कर्त्ता है। अथवा पदार्थ

मात्रमें मालूम देती हुई वर्तना आदि क्रियायें कालकी विद्यमानता की निशानी हैं। तत्वार्थसूत्रमें बतलाया है कि—कालके लिये वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व वगैरह भाव वस्तु मात्रमें मालूम हुआ करते हैं। अपने आप ही वर्तते हुए पदार्थोंको वर्तनेमें सहाय करनेवाली और कालमें रही हुई एक प्रकारकी शक्तिको वर्तना कहते हैं—प्रत्येक पदार्थकी प्रथम स्थितिका नाम वर्तना है। जो कोई पदार्थ अपना मूल स्वभाव छोड़े विना ही किसी-की प्रेरणासे या सहज ही किसी प्रकारके परिवर्तनको प्राप्त करता है उस परिवर्तनका नाम परिणाम है। जैसे कि वृक्षकी जड़ और अंकूर ये अवस्थायें परिणामरूप हैं, पहले अंकूर था अब शाखायें निकलीं और अबसे वे फूल और फलको प्राप्त करेंगी। इसी प्रकार जो बालक था अब वही तरुण है और अबसे वही वृद्ध होगा। इस तरहके अनेक व्यवहारोंमें वृक्षका वृक्षत्व और पुरुषका पुरुषत्व कायम रहते हुये भी जो अनेक प्रकारका परिवर्तन है वैसा ही कालके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

परिणामके दो प्रकार हैं—एक अनादि परिणाम और दूसरा सादि परिणाम। अनादि याने जिसका आरम्भसमय मालूम नहीं होता और सादि याने जिसका आरम्भ मालूम हो सकता है। धर्मास्तिकाय वगैरह अमूर्त पदार्थोंमें जो परिणाम होता है या जो मालूम देता है वह अनादि है और बादल एवं इंद्रधनुष्य वगैरह मूर्त (आकारवाले) पदार्थोंमें एवं इसी प्रकारके घट, कमल और स्तंभ वगैरह पदार्थोंमें जो परिणाम होता है वह सादि है। ऋतुके विभागके कारण और समय परिवर्तनके कारण एक समान वृक्षोंमें भी एक ही समय विचित्र परिवर्तन होता है। यह सब कुछ परिणामवादमें आ जाता है। किसी तरहके प्रयोग द्वारा या स्वाभाविक ही जीवोंके परिणमनको क्रिया कहते हैं। काल नामक भाव उस क्रियाके होनेमें सहायरूप है। जैसे कि घड़ा फूट गया, सूर्यको देखता हूँ और वृष्टि होगी, इत्यादि परस्पर मिश्रण रहित व्यवहार जिसकी अपेक्षासे प्रवर्तते हैं उसका नाम काल है। एवं यह बड़ा है और यह छोटा है इन दोनों व्यवहारोंका निमित्त भी

काल ही है। इस तरह वर्तना, परिणाम और क्रिया वगैरहके व्यवहारोंसे मनुष्यलोकमें कालकी विद्यमानता मालूम होती है। मनुष्य लोकसे बाहरके विभागोंमें कालद्रव्यकी विद्यमानता मालूम नहीं देती। वहाँपर सद्रूप पदार्थ मात्र अपने आप ही उत्पन्न होते हैं, नाश होते हैं, और स्थिति करते हैं। वहाँके पदार्थोंका अस्तित्व स्वाभाविक ही है, किन्तु उसमें कालकी अपेक्षा नहीं। वहाँपर हमारे समान एक जैसे पदार्थोंकी कोई भी क्रिया एक साथ न होनेके कारण उनकी किसी भी क्रियामें कालकी जरूरत नहीं पड़ती। एक जैसे पदार्थोंमें जो परिवर्तन एक साथ ही होता है उसीका कारण काल है परन्तु भिन्न २ पदार्थोंमें एक ही साथ होते हुये परिवर्तनका कारण काल नहीं हो सकता। क्योंकि उन भिन्न २ भावोंकी क्रियायें एक ही कालमें नहीं होतीं एवं नष्ट भी नहीं होतीं। अतः मनुष्यलोकसे बाहरके विभागमें होते हुये किसी भी प्रकारके परिवर्तनका कारण काल नहीं हो सकता। वैसे ही वहाँपर जो छोटे बड़ोंका व्यवहार होता है वह स्थितिकी अपेक्षासे है और स्थिति विद्यमानताकी अपेक्षासे है एवं विद्यमानता स्वाभाविक है। अतः इस व्यवहारके लिये भी वहाँपर कालकी आवश्यकता मालूम नहीं देती। कितने आचार्य जो कालको खास तौरसे भिन्न द्रव्य नहीं मानते उनके मन्तव्यके अनुसार वर्तना और परिणाम वगैरह, पदार्थमात्रमें होते हुये परिवर्तन हैं, और वह किसी पदार्थसे जुदा नहीं है अतः कालकी अपेक्षा नहीं रहती।

पुद्गल तत्व.

तत्वार्थ सूत्रमें बतलाया है कि 'पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण-रूपवाले हैं'[1]। जहाँ जहाँपर स्पर्श हो वहाँ सब जगह रस, रूप और गन्ध भी होते हैं, इस प्रकारकी इन चारोंकी सहचारिता स्पष्ट मालूम होती है और यह सहचारिता बतलानेके लिये ही तत्वार्थके इस सूत्रमें सबसे पहले स्पर्शको रखा है, अतः पृथ्वीके

---

१ तत्वार्थ सूत्र अध्याय पाँचवेंका २३ वां सूत्र देखिये। "स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः।

समान पानी, वायु और तेजमें भी ये चारों गुण हैं, एवं पृथ्वीके परमाणुके समान मनमें भी ये चारों गुण विद्यमान हैं। क्योंकि मन सर्व व्यापी वस्तु नहीं है। जो वस्तु सर्वव्यापी नहीं होती उसमें ये चारों गुण होते हैं। अतः मनमें भी इन चारों गुणोंका अस्तित्व घट सकता है।

स्पर्श आठ हैं और वे इस प्रकार हैं—कोमल, खरदरा, भारी, हलका, ठंडा, गरम, चिकना, और रुक्ष। इन आठ स्पर्शोंमेंके चार ही स्पर्श (चिकना, रुक्ष, ठंडा, और गरम) परमाणुओंमें रह सकते हैं और बड़े बड़े स्कंधोंमें ये आठों स्पर्श यथोचितपनसे हो सकते हैं। रस पांच प्रकारके हैं—और वे इस तरह हैं 'कड़वा, तीखा, (चर्चरा) कषायित, खट्टा, और मधुर—मीठा'। खारे रसका मधुर रसमें समावेश समझ लेना चाहिये ऐसा बहुतसे मनुष्योंका कथन हैं। कितने एक कहते हैं कि खारा रस एक दूसरे रसके संसर्गसे पैदा होता है। गन्धके दो भेद इस तरह हैं—एक सुगन्ध और दूसरा दुर्गन्ध। वर्ण भी अनेक प्रकारके हैं। जैसे कि काला, पीला, नीला, और सुफेद वगैरह। ये चारों गुण याने स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण प्रत्येक पुद्गलमें रहते हैं, तदुपरान्त शब्द, बन्ध, सूक्ष्मपन, मोटापन, आकार, खन्डोखन्ड होना अथवा एक दूसरेसे जुदा होनापन, अन्धकार, छाया, आतप, और प्रकाश ये भी सब पुद्गलमें रहते हैं। इसी प्रकारका वर्णन तत्वार्थसूत्रमें भी किया गया है। शब्द याने ध्वनि—आवाज होता है। एक दूसरेके साथ परस्पर लिप्त हो जानेकी क्रियाको बन्ध कहते हैं। वह बन्ध कहीं पर तो किसी प्रयोगसे होता हुआ मालूम देता है और कहीं पर सहज स्वाभाविक ही होता है। जैसे लाख और काष्ठका परस्पर बन्ध होता है, या जैसे परमाणु परमाणुओंके संयोगसे परस्पर जो बन्ध होता है वैसे ही औदारिक वगैरह शरीरोंमें भी उन उन अवयवोंका परस्पर बन्ध होता है। पूर्वोक्त स्पर्श वगैरह चार और दस शब्द वगैरह एवं चौदह गुण पुद्गलमें ही होते हैं। पुद्गलके दो प्रकार हैं—एक परमाणुरूप और दूसरा स्कंध रूप, याने आँखोंसे देखा जाय वैसे दलवाला। उनमेंके पर-

माणुका स्वरूप इस प्रकार है—परमाणु सूक्ष्म होता है, नित्य होता है, उसमें एक रस, एक वर्ण, और एक गन्ध होता है और दो स्पर्श होते हैं । उसका कद इतना सूक्ष्म होता है कि जिससे वह आँखोंसे नहीं देखा जा सकता तथापि उसकी विद्यमानता उससे बनी हुई वस्तुओं परसे मालूम हो सकती है । वह वस्तु मात्रका कारण है और वह बारीकीमें अन्तिम कद है । परमाणुका परमाणुत्व कायम रहनेसे अर्थात् परमाणुत्वकी अपेक्षा परमाणु नित्य है और उसके रस स्पर्श गन्ध और वर्णमें परिवर्तन होनेसे वह अनित्य है । वह बिलकुल छोटेसे छोटी चीज है, अतएव उसका नाम अणु परम-अणु पड़ा है । उस प्रत्येक परमाणुमें पांच रसमेंसे कोई एक रस, दो गन्धमेंसे कोई एक गन्ध, पांच वर्णोंमेंसे कोई एक वर्ण और आठ स्पर्शोंमेंसे परस्पर अविरुद्ध इस प्रकारके दो स्पर्श होते हैं । अर्थात् चिकना और गरम, चिकना और ठंडा, रूक्ष और ठंडा तथा रूक्ष और गरम इन चारोंमेंसे कोई न कोई दो स्पर्श होते हैं । यद्यपि वह नजरसे नहीं दीख सकते तथापि दो परमाणुओंकी बनी हुई वस्तुसे लेकर और अनन्त परमाणुओंकी बनी हुई वस्तुतककी समस्त वस्तुयें परमाणुओंकी विद्यमानताको करनेके लिये काफी हैं । स्कन्धोंके जुदे जुदे विभाग हो सकते हैं और उनमेंसे कितने एक स्कन्ध लिये और छोड़े भी जा सकते हैं एवं व्यवहारमें भी आ सकते हैं । इस प्रकार जीवसहित धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल और पुद्गल ऐसे छह द्रव्य हैं । इन छहोंमेंसे पहले चार याने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये एक द्रव्य हैं । अर्थात् ये अखण्ड द्रव्य हैं । ये किसी भी वस्तुके कारण नहीं और न ही इनमेंसे कोई वस्तु बनती हैं । जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य अनेक द्रव्य हैं । अर्थात् ये दोनों अनेक वस्तुओंके कारण हैं और इन्हींसे अनेक वस्तुयें बनती हैं । पुद्गल सिवाय पाँचों द्रव्य अमूर्त हैं याने आकाररहित हैं और पुद्गल द्रव्य मूर्त याने आकारवान है ।

---

१ 'तत्वार्थसूत्र अध्याय पांचवेंका चौवीसवाँ सूत्र देखिये !—शब्दगन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमःछायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ।'

यदि यहाँपर यह कहा जाय कि जीव पदार्थ रूपरहित होनेपर भी उसका उपयोग-गुण प्रत्यक्षतया मालूम होनेके कारण उसका (रूप रहित जीवका) भी अस्तित्व माना जा सकता है। परन्तु चेतनरहित धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको सर्वथा अरूपी होनेसे उनकी विद्यमानतामें किस तरह श्रद्धा रखी जाय? इस प्रश्नके उत्तरमें मालूम किया जाता है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष न देखी जा सकती हो उसका अस्तित्व ही न हो ऐसा कोई नियम नहीं। संसारमें पदार्थमात्रका न दीखना दो प्रकारसे होता है-एक तो पदार्थ सर्वथा न हो और न देखा जाय, जैसे कि घोड़ेके सींग। और दूसरा पदार्थ सद्रूप हो तथापि देखा न जाय। जैसे जो पदार्थ विद्यमान हो तथापि देखनेमें न आवे उसके आठ प्रकार हैं।

१ एक तो कोई भी पदार्थ बहुत दूर हो तो देखनेमें नहीं आता, कोई प्रवासी चलता चलता बहुत दूर चला जाय और फिर वह न देखनेमें आय तो हमसे यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उस प्रवासीकी विद्यमानता ही नहीं है। इसी प्रकार समुद्रका किनारा विद्यमान होनेपर भी अतिदूर होनेके कारण देखनेमें नहीं आता, इससे वह है ही नहीं ऐसा कैसे कहा जाय? पूर्व-कालमें होनेवाले हम हमारे पूर्वजोंको देख नहीं सकते इससे क्या हम यह कह सकते हैं कि वे हुये ही नहीं? एवं पिशाच वगैरहको हम देख नहीं सकते तो क्या इससे हम उसकी विद्यमानताका इनकार कर सकते हैं? ये सब दृष्टान्त अतिदूरके सम्बन्धमें हैं। पहले दो उदाहरण देशातिदूरके, तीसरा उदाहरण कालातिदूरका और अन्तिम उदाहरण स्वभावातिदूरका है।

२ जो वस्तु अति नजीक होती है वह भी नहीं देखी जा सकती हमारी आँखोंमें अंजन आँजा हुआ होता है तथापि हम उस अंजनको देख नहीं सकते, क्योंकि वह अति नजीक है। इससे हम यह नहीं कह सकते कि हमारी आँखोंमें सुरमा ही नहीं।

३ इंद्रियका नाश होनेसे कितनी एक विद्यमान वस्तुओंको भी हम देख नहीं सकते। जैसे कि अन्धे मनुष्य रूप रंगको नहीं देख सकते और बधिर मनुष्य आवाज नहीं सुन सकते तो क्या इससे

कोई यह कह सकता है कि रंग, रूप या आवाज है ही नहीं ? ।

४ मनकी अस्थिर स्थितिके कारण भी विद्यमान पदार्थोंका खयाल नहीं आ सकता जैसे कि कोई धनुष्यधर बाणोंके चलाने में ही चित्तको लगाकर बाण चला रहा हो उस वक्त उसके समीपसे बड़ी धामधूमके साथ यदि कोई राजा भी चला जाय तथापि उसे यह बात मालूम नहीं पड़ती । क्यों कि उस वक्त उसका चित्त राजाको देखनेमें स्थिर नहीं है, इससे वह धनुष्य-धर या अन्य कोई मनुष्य यह नहीं कह सकता कि उसके न-जीकसे कोई राजा गया ही नहीं । जिनका मन स्थिर नहीं है वैसे पागल मनुष्य तो कुछ जान ही नहीं सकते, इससे क्या कोई मनुष्य विद्यमान पदार्थोंके माननेमें आनाकानी कर सकता है ?

५ जो बहुत सूक्ष्म पदार्थ होता है वह भी नहीं देखा जा सकता जैसे कि घरकी जालियोंमेंसे बाहर निकालता हुआ धुंवाँ और बाफके त्रसरेणु हमसे देखे नहीं जा सकते, वैसे ही परमाणु और द्व्यणुक एवं बारीक बारीक निगोद भी देखे नहीं जा सकते । क्योंकि ये सब बहुत ही बारीक हैं । इससे कोई यह नहीं कह सकता कि त्रसरेणु, द्व्यणुक, परमाणु, या निगोदका अस्तित्व ही नहीं ।

६ कुछ आड़ आ जानेसे भी विद्यमान वस्तु देखनेमें नहीं आती । जैसे कि दीवार बीचमें आनेके कारण उसके पीछे रहे हुये पदार्थ नहीं देखे जाते । इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ पर प-दार्थ ही नहीं, अथवा हमारी मतिमंदताके कारण कोई किसी यथार्थ बातको भी हम न जान सकें तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह बात ही नहीं । इसी प्रकार हमारे कान, हमारी गर्दन मस्तक और पीठ, तथा चंद्रमाका उस तरफका दूसरा भाग इन सब वस्तुओंको हम मात्र किसी न किसी आड़ताके कारण ही नहीं देख सकते । इससे क्या हमसे यह कहा जा सकता है कि इन वस्तुओंका अस्तित्व ही नहीं ? तथा समुद्रके पानीके नापका परि-माण हम नहीं निकाल सकते इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसका कुछ नाप ही नहीं । स्मरण शक्ति कम होनेके कारण हम देखी

हुई वस्तुको भी याद नहीं कर सकते। इससे यों कैसे कहा जाय कि वह वस्तु ही नहीं ? ऐसे ही मूर्खताके कारण हम किसी सत्य हकीकतको भी नहीं जान सकते इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह सत्य हकीकत ही नहीं।

७ विशेष तेजवाले पदार्थोंकी विद्यमानतामें कम तेजवाले पदार्थ ढ़क जानेके कारण हम उन्हें देख नहीं सकते। जैसे कि सूर्यकी विद्यमानतामें तारा और ग्रहोंको कोई नहीं देख सकता। तथा अन्धकारके लिए कमरेमें पड़े हुए पदार्थ भी नहीं देख सकते इससे यह नहीं कहा जा सकता कि अन्धःकारमें कोई पदार्थ ही नहीं।

८ कितनी एक दफा एक समानताके कारण हम स्वयं वस्तु समूहमें डालकर उस वस्तुको नहीं पहचान सकते, उड़दकी राशीमें उड़दकी एक मुट्ठी भरकर डाल दिये वाद और तिलोंके ढेरमें एक मुट्ठी तिलकी डाल देने बाद हमसे वह मुठीभर डाले हुये दाने जुदे नहीं पहचाने जा सकते, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें मुट्ठी भरकर हमनें दाने डाले ही नहीं। पानीके कुन्डमें नमक या मिस्री डाले वाद वह उसमें घुल जाती है अतः हम उसे पीछे निकाल नहीं सकते, इससे कोई यह नहीं कह सकता कि, कुन्डमें नमक या मिस्री डाली ही न थी। इस तरह यहाँपर कथन किये मुजब विद्यमानवस्तु भी न मालूम देनेके ये आठ कारण हैं। ये आँठों कारण साँख्यमतमें भी बतलाये हैं। अर्थात् जिस प्रकार विद्यमान वस्तु भी इन आठ कारणोंके लिये मालूम नहीं हो सकती उसी प्रकार धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय वगैरह विद्यमान होते हुए भी स्वभावके कारण मालूम नहीं देते यह मान्यता उचित है, परन्तु उसका अस्तित्व ही नहीं ऐसा कहना उचित नहीं।

अब यदि यों कहा जाय कि जो वस्तु किसी कारणके लिये हमसे नहीं जानी जाती वह भी किसी न किसीके जाननेमें या देखनेमें आई होती है किन्तु यह धर्मास्तिकाय वगैरहको तो किसीने भी जाना या देखा नहीं, अतः उसकी विद्यमानता किस तरह मानी जाय ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है-जिस तरह विद्यमान होते

हुए भी किसी कारणके लिये न जान पड़ती हुई वस्तु किसी न किसीके जाननेमें आनेवाली होनेसे अस्तित्ववाली मानी जा सकती है वैसे ही विद्यमान होते हुये भी धर्मास्तिकाय वगैरह मात्र केवलज्ञानीको मालूम होनेसे उसका अस्तित्व क्यों नहीं माना जाय? अथवा कभी भी न दीखनेवाले परमाणु सिर्फ उनसे बननेवाली वस्तुओंके लिये अस्तित्ववाले माने जाते हैं वैसे ही हमसे नहीं देखे जाते हुए धर्मास्तिकाय वगैरह भी उनमें होनेवाली प्रवृत्तियों द्वारा उनका अस्तित्व क्यों न माना जाय? धर्मास्तिकाय वगैरहके कारण जो जो प्रवृत्तियाँ होती हैं वे इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय गतिवान पदार्थोंको सहायता करता है, अधर्मास्तिकाय स्थितिवाले पदार्थोंको सहाय करता है, आकाशास्तिकाय, अवगाह प्राप्त करनेवाले पदार्थको अवगाह देता है, और काल नामक भाव वर्तते हुए पदार्थोंके वर्तनमें सहाय करता है। पुद्गलोंके विषयमें हमें कुछ कथन करनेकी जरूरत नहीं। क्योंकि वे प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं और अनुमान द्वारा भी मालूम हो सकते हैं। अब यदि यों कहा जाय कि आकाश आदि तो उनकी प्रवृत्तिके लिये विद्यमानतावाले माने जा सकते हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको अस्तित्ववाला किस तरह माना जाय? धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको विधमानतावाला माननेकी युक्ति इस प्रकार है—

जैसे चलनेकी इच्छावाली मछलीको चलनेमें नदी, तालाव, समुद्र वगैरह जलाशयका पानी सहाय करता है वैसे ही गति परिणामवाले जड़ या चेतनको गति करनेमें धर्मास्तिकाय सहायक है। मछलीको पानी जवर्दस्ती नहीं चलाता वैसे ही धर्मास्तिकाय तत्व भी किसी पदार्थको जवरदस्ती गति नहीं कराता। वह तो मात्र जैसे उड़नेमें पक्षीको आकाश निमित्त रूप है वैसे ही गति होनेमें निमित्तरूप है, याने अपेक्षा कारण है। जैसे बैठ जानेकी इच्छावाले मनुष्यको बैठनेमें जमीन सहायता देती है वैसे ही अधर्मास्तिकाय तत्व भी स्थितिके परिणामवाले पदार्थमात्रको स्थिर होनेमें सहाय करता हैं। जमीन किसी भी पदार्थको जवरदस्ती नहीं बैठाती वैसे ही अधर्मास्तिकाय भी किसी भी

पदार्थको जबरदस्ती स्थिति नहीं कराता। जिस तरह कुम्भ बननेमें कुम्भकार और चाक निमित्त कारण हैं वैसे ही पदार्थमात्रको स्थिति करानेमें अधर्मास्तिकाय निमित्त कारण है। जिस प्रकार खेती करते हुये किसानको वर्षा सहाय करती है वैसे ही आकाश भी अवगाहकी त्वरावाले पदार्थको अवगाह देता है। वरसाद कोई खेती नहीं करता एवं किसानको जबरदस्ती करनेके लिये भी नहीं कहता वैसे ही आकाश भी अवगाहकी इच्छा न रखते हुये पदार्थको जबरदस्ती अवकाश नहीं देता। जैसे बगलीकी प्रसूतिमें मेघका गर्जारव निमित्तरूप है, जैसे संसारका त्याग करते पुरुषको त्याग सम्बन्धी उपदेश निमित्तरूप है वैसे ही आकाश भी अवगाह देनेमें निमित्तरूप है। धर्मास्तिकाय वगैरहकी प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—और इनके द्वारा ही उनकी विद्यमानता माननी यह युक्तियुक्त है।

गतिमें सहाय करना यह धर्मास्तिकायका काम है और स्थितिमें सहाय करना यह अधर्मास्तिकायका कार्य है, किन्तु इन दोनों जगह सहाय करनेका कार्य अवगाहरूप आकाशका नहीं हो सकता। ये तीनों ही तत्व भिन्न हैं अतः इनके गुण भी भिन्न २ हैं। इन तत्वोंका विभिन्नत्व युक्तिद्वारा या शास्त्रद्वारा समझ लेना चाहिये। इस विषयमें, शास्त्रमें इस प्रकार कहा है कि—" हे भगवन्! द्रव्य कितने कहे हैं? हे गौतम! छह द्रव्य कहे हैं। वे जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय-जीवास्तिकाय, और अध्धा समय, याने काल "।

यदि कोई यों कहे कि पक्षी अधर ऊंचे उड़ता है, अग्निकी गति ऊंची होती है, और वायु भी तिरछी गति करता है, यह सब कुछ स्वभावसे ही अनादि कालसे चला आता है, इसमें कुछ धर्मास्तिकायकी सहायताकी आवश्यकता नहीं मालूम होती, परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है, क्योंकि जैन सिद्धान्तके अनुसार ऐसी एक भी गति नहीं कि जो धर्मास्तिकायकी सहायता विना ही हो सकती हो। पक्षी, अग्नि, या वायुकी गतिमें भी धर्मास्तिकायकी सहायता रही हुई है। इसी प्रकार

ऐसी एक भी स्थिति नहीं कि जो अधर्मास्तिकायकी सहायता विना ही हो सकी हो या हो सकती हो। अर्थात् कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि जिसकी गति और स्थिति धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय विना हो सकती हो। ऐसा होते हुये भी याने उस प्रकारके उदाहरण विना ही कोई भी प्रामाणीक मनुष्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका विरोध कैसे कर सकता है? धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय किस किस प्रकारका उपकार करते हैं? इस बातका खुलासा और युक्ति इस प्रकार है—तत्वार्थ[1] सूत्रमें यह विषय बतलाया गया है कि "धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय गति तथा स्थितिमें सहाय करते हैं। और उनका उपकार भी यही है" जैसे कि जहाँ कहीं अच्छे सदाव्रत मिलते हों वहाँ पर भिक्षुक लोगोंका रहनेका मन होता है, अर्थात् वे सदाव्रत कुछ भिक्षुओंका हाथ पकड़ कर उन्हें रहनेके लिये नहीं कहते, परन्तु वे सदाव्रत भिक्षुओंके रहनेमें निमित्तरुप हैं वैसे ही गति और स्थितिमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय भी निमित्तरुप हैं। इस बातकी पुष्टी करनेवाली बात इस प्रकार है—

जैसे कि मत्स्यमें चलनेका सामर्थ्य है और चलनेकी इच्छा भी है परन्तु निमित्त कारण रुप पानी विना वह गति नहीं कर सकता, वैसे ही जड़ और चेतनमें चलनक्रिया करनेका सामर्थ्य है और इच्छा भी है तथापि निमित्त कारण विना उनकी गति और स्थिति हो नहीं सकती। उस गति और स्थितिमें जो वस्तु निमित्तरूप होती है उसीका नाम धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय है। आकाशतत्व वस्तुमात्रको अवकाश देता है, अर्थात् वह भी अवकाश देनेमे निमित्तरूप है और उसका स्वरूप भी अवकाश या अवगाह है।

यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि अवगाह गुण जैसे आकाशमें है वैसे ही पुद्गलादिमें भी है इसलिये उसे एकले आकाशका ही धर्म कैसे कहा जाय? जैसे दो अंगुलियोंका संयोग दोनों अंगुलियोंका

1 तत्वार्थ सूत्र पांचवे अध्यायका १७ वाँ सूत्र देखिए" "गति, स्थितिः उपग्रहो धर्माऽधर्मयोः उपकारः"।

धर्म है वैसे ही अवगाह गुण आकाशमें और पुद्गलादिमें भी है। अतः वह दोनोंका धर्म गिना जाना चाहिये इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—यद्यपि अवगाह गुण आकाश और पुद्गलादि इन दोनोंमें है तथापि आकाशमें अवगाह मिलनेके कारण आकाश ही प्रधान है और पुद्गलादि आकाशमें अवगाह प्राप्त करनेवाले होनेके कारण अप्रधान हैं, अतः यहाँपर प्रधान आकाशके अवगाहधर्मको ही माना गया है और आकाशको ही अवगाहमें उपकारी गिना गया है। इस प्रकार अवगाह देनेमें उपकारी आकाशकी भी सिद्धि हो सकती है। यद्यपि आकाश आँखों या अन्य किसी इंद्रिय द्वारा देखनेमें नहीं आता तथापि फक्त उसके अवगाहगुणके कारण ही उसकी विद्यमानता मानी जा सकती है। शंखका आवाज होनेमें शंखके समान मनुष्य और उसके हाथ एवं मुख, ये सब कारण रूप हैं तथापि मात्र प्रधानताके लिये उसमेंसे निकलता हुआ आवाज शंखका ही गिना जाता है। तथा यवका अंकूर ऊगनेमें यवके समान जमीन पानी और पवन ये सभी कारण हैं तथापि मात्र प्रधानताके लिये वह ऊगता हुआ अंकूर यवका ही कहा जाता है, वैसे ही अवगाहगुण आकाश और पुद्गलादि इन दोनोंमें होने-पर भी प्रधानताके लिये वह गुण आकाशका ही कहा जाता है और इसके द्वारा ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

वैशेषिक मतवाले कहते हैं कि शब्द यह आकाशका गुण है और आकाशकी निशानी भी यही है। परन्तु यह उनका कथन असत्य है क्योंकि आकाश और शब्दके बीचमें बड़ा भारी विरोध है। आकाश रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रहित है और शब्द रूप-रस, गन्ध और स्पर्शवाला है। इस प्रकार जिन दो वस्तुओंमें पर-स्पर विरोध हो वे कदापि गुण और गुणी नहीं हो सकते। शब्द-की प्रतिध्वनि होती है और वह स्वयं भी दूसरे पुद्गलसे दब जाता है अतः शब्दमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श होना ही चाहिये और शब्दके ऐसा होने पर वह आकाशका गुण हो नहीं सकता।

वस्तुमात्रमें जो प्रतिक्षण वर्तनेकी क्रिया हो रही है उसके द्वारा ही कालकी विद्यमानता मालूम हो सकती है। यह वर्तनेकी

क्रिया प्रत्येक द्रव्य और पर्यायमें अस्तित्व धारण करती है और इसका अस्तित्व कालके विना हो नहीं सकता अतः वर्तनेकी क्रिया की विद्यमानता ही कालकी विद्यमानताको सावित करती है। लौकिकमें भी कितनेएक कालवाचक शब्द सुप्रसिद्ध हैं जैसे कि—युगपत् अयुगपत् क्षिप्रम् चिरम् चिरेण परम् अपरम् कत्स्यति वृत्तम् वर्तते ह्यः श्वः अद्य संप्रति परुत् परारि नक्तम् दिवा ऐषम् प्रातः सायम् इत्यादि

इससे भी पदार्थमें होते हुये परिणामका हेतु भूतकाल ही लोकप्रसिद्ध होनेसे उसके अस्तित्वमें किस प्रकार शंका हो सकती है? यदि कोई कालनामक तत्व ही न हो तो फिर इन लोकप्रसिद्ध शब्दोंका क्या अर्थ किया जाय? वास्तविक रीतिसे ये पूर्वोक्त काल सूचक शब्द ही कालकी सिद्धिके लिये काफी हैं। तथा एक समान जातिवाले वृक्ष आदिमें जो एक ही वक्त ऋतु और समयके कारण विचित्र परिवर्तन होता हुआ मालूम देता है यह भी काल, तत्वकी नियामकता विना नहीं वन सकता, तथा घड़ा फूटगया, घड़ा फूटता है, और घड़ा फूटेगा, ये तीनों कालके जुदे जुदे तीन व्यवहार कालतत्वके सिवाय किस तरह हो सकते हैं? वैसे ही इसकी उमर वड़ी है और उसकी उमर छोटी है यह भी कालकी विद्यमानता विना किस तरह वन सकता है? अतः इन समस्त ऋतु, कूल कारणोंके लिये कालकी विद्यमानता मानना सर्वथा सुगम और शंकारहित है।

पुद्गलोंमेंसे कितनाएक भाग प्रत्यक्षरूप है, कितनेएककी विद्यमानता अनुमानद्वारा जानी जा सकती है और उनकी विद्यमानताके विषयमें आगममें भी उल्लेख है। घट पट, चटाई, पटड़ा-गाड़ी और चरखा वगैरह स्थूल पुद्गलोंमें पदार्थ प्रत्यक्ष रूप हैं। जो जो पुद्गल वारीक और अति वारीक हैं उनकी सिद्धि अनुमान द्वारा हो सकती है। वारीक वारीक रज या रजःकणोंके सिवाय वडी २ वस्तुयें वन नहीं सकतीं, अतः ये वड़ी वड़ी वस्तुयें ही दो परमाणुके मिलान जैसे वारीक और परमाणु जैसे अति वारीक पदार्थोंकी विद्यमानताको सावित करनेके लिये पर्याप्त हैं। शास्त्रमें

भी लिखा है कि 'पुद्गलास्तिकाय' इस प्रकार पुद्गलास्तिकायके अस्तित्वमें किसी प्रकारकी क्षति नहीं आती। वैशेषिक मतवाले कहते हैं कि पृथ्वी, पानी, तेज और वायु इन चारोंके समस्त परमाणु जुदे जुदे हैं अर्थात् इन चारोंके परमाणुओंमें भिन्न २ गुण रहे हुये हैं। परन्तु जैन सिद्धान्त इस बातको सत्य नहीं मानता। जैन सिद्धान्त बतलाता है कि परमाणुमात्र एक समान हैं याने प्रत्येक परमाणुमें एक समान गुण रहे हुये हैं। जो गुण पृथ्वीके परमाणुओंमें हैं वही गुण वायुके परमाणुमें भी हैं। अर्थात् जैन सिद्धान्तके अनुसार वैशेषिकोंके समान परमाणुके कुछ भिन्न २ प्रकार नहीं हैं। परमाणुओंमें जो कुछ भिन्नता मालूम देती है वह कुछ उनके जुदे जुदे प्रकारके लिये नहीं परन्तु उनमें होते हुये परिवर्तनके लिये है, इस लिये भिन्न भिन्न परिवर्तनवाले परमाणुओंको जुदे जुदे प्रकारके माननेकी अपेक्षा जुदे जुदे परिवर्तनवाले ही मानना उचित है। जैसे कि हींग और नमक ये दोनों ही पृथ्वीके परमाणुओंसे बने हुये हैं और इन दोनोंका ज्ञान स्पर्शन, नेत्र, जीभ, और नासीकासे हो सकता है। जब इन दोनोंको पानीमें डालदिया जाय तब इनका ज्ञान, नेत्र और स्पर्शनसे नहीं हो सकता परन्तु सिर्फ जीभ और नासीकासे ही हो सकता है। उन परमाणुओंमें जो इस प्रकारका परिवर्तन हुआ है वह कुछ उनके जुदे जुदे प्रकारके लिये नहीं परन्तु उनमें होनेवाले एक प्रकारके संसर्गसे हुआ है। अर्थात् जो हींग और नमक पानीमें न डाला था—उसके और जो हींग एवं नमक पानीमें डाला है उसके परमाणु कोई जुदे जुदे दो प्रकारके नहीं है उन दोनोंके परमाणु एक ही प्रकारके हैं तथापि मात्र संसर्गके कारण उनमें ऐसा विचित्र परिवर्तन देखनेमें आता है। इसी प्रकार पृथ्वी, पाणी, और तेज, वायु इन सबके परमाणु एक सरीखे हैं तथापि फक्त संसर्गके कारण ही उनमें विचित्र परिवर्तन हुआ करते हैं और वे सब प्रत्येक इन्द्रियसे मालूम नहीं हो सकते इससे उन सबको भिन्न प्रकारके परमाणु मानना यह बात किसी भी प्रकार युक्तियुक्त नहीं। यह बात पहले ही विदित

कर दी गई है कि शब्द भी पुद्गलका ही गुण है, इस बातको विशेषतः समझनेके लिये निम्न युक्तियां काफी होंगी—शब्द और आकाशमें अनेक प्रकारके विरोध होनेसे उन दोनोंका किसी प्रकार गुण-गुणी भाव संघटित नहीं हो सकता। शब्द, छाती, कंठ, मस्तक, जीभका मूल, दाँत, नासिका, होट और तालु इत्यादि स्थानोंसे पैदा होता है और पैदा होते वक्त ढ़ोल तथा झालर वगैरहको कंपित करता है अतः वह मूर्तिमान याने आकारवाला है और आकाश तो आकार रहित है एवं नित्य है।

शब्द मनुष्यके कानको वहिरा कर सकता है परन्तु आकाश तो ऐसा नहीं कर सकता। तथा फेंके वाद कहीं टकराये हुए पत्थरके समान पीछे फिरता है, सूर्यतापके समान जहाँ तहाँ जासकता है, शब्द अगरकी धूपके समान विस्तृत हो सकता है याने फैल सकता है, शब्द, तृण और पत्तोंके समान वायुद्वारा लेजाया जा सकता है,। शब्द दीपक प्रकाशके समान सब दिशाओंमें फैल सकता है,। शब्द, दूसरे किसी बड़े शब्दकी विद्यमानतामें सूर्यकी विद्यमानतामें तारोंके समान आच्छादित हो सकता है, और वह किसी छोटे (वारीक) शब्दको सूर्य जैसे तारोंको ढ़क देता है वैसे ही ढ़क दे सकता है। इन समस्त कारणोंसे शब्द आकाशका गुण नहीं हो सकता। आकाश अरूपी होनेसे उसका गुण भी अरूपी ही होना चाहिये। इस प्रकार यदि शब्द अरूपी हो तो ऊपर कथन किये मुजब जो जो स्थितियें शब्दके सम्बन्धमें बतलाई हैं वे किसी भी प्रकार घट नहीं सकतीं और ये तमाम परिस्थितियें सबको प्रत्यक्षरूप होनेसे असत्य भी नहीं मानी जा सकतीं। इस तरह शब्द पुद्गलका ही गुण है इसमें जरा भी संदेह नहीं। अब यदि कोई यों कहे कि शंखमें और शंखके फूटनेबाद उसके टुकड़ोंमें हम जिस प्रकार रूपको देख सकते हैं वैसे ही हम शब्दमें भी रूपको क्यों नहीं देख सकते? इस प्रश्नका उत्तर इतना ही काफी होगा कि शब्दमें रहा हुआ रूप अति बारीक है अतः हम उसे आखोंसे देख नहीं सकते। जिस प्रकार दीपकके बुझ जाने बाद उसकी शीखाके रूपको और पुद्गलरूप गन्धके परमाणुके

रूपको हम नहीं देख सकते वैसे ही शब्दके रूपकी अत्यन्त बारीकता होनेसे वह भी हमारे देखनेमें नहीं आता। इस प्रकार सर्व रीतिसे शब्दकी पुद्गलता साबित हो चुकी है। अब अन्धकार और छाया ये भी पुद्गलरूप होनेसे इसकी पुद्गलता इस प्रकार साबित की जा सकती है—जैसे दीवार पुद्गलरूप है अतः वह आँखमें रही हुई देखनेकी शक्तिको आड़ कर सकती है वैसे ही अन्धकार भी आँखमें रही हुई देखनेकी शक्तिको आड़ करनेवाला होनेसे पुद्गलरूप है। जैसे वस्त्र पुद्गलरूप है अतएव किसी भी वस्तुको वह आच्छादित कर सकता है वैसे ही अन्धकार भी वस्तुमात्रको आच्छादित करनेवाला होनेसे पुद्गलरूप है। इस प्रकार अन्धकारके पुद्गलपनमें किसी भी तरहका संदेह नहीं रहता। तथा जैसे शीतलवायु पुद्गलरूप है अतएव हमें ठण्डक देकर खुशी करता है वैसे ही छाया भी हमें ठण्डक देकर खुशी करनेवाली होनेसे पुद्गलरूप है। इस युक्तिसे छायाका भी पुद्गलपन साबित हो सकता है। जैसे छाया और अन्धकार पुद्गलरूप हैं वैसे ही वस्तु मात्रकी प्रति छाया या प्रतिबिम्ब भी पुद्गलरूप हैं। क्योंकि वह छाया या प्रतिबिम्ब प्रतिछाया घट आदिके समान आकारवान् है। अब कदाचित् यों कहा जाय कि यदि सीसेमें पड़ता हुआ प्रतिबिम्ब भी पुद्गलरूप हो तो वे पुद्गल (प्रतिबिम्बके परमाणु) ऐसे कठिन सीसेको भेदन करके उस तरफ किस तरह जा सके? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जैसे कठिन शिलामें पानीके पुद्गल घुस जाते हैं कठिन लोहेमें अग्निके पुद्गल प्रवेश कर जाते हैं, और कठिन शरीरमें पानीके पुद्गल चले जाते हैं उसी प्रकार कठिन सीसेमें भी प्रतिबिम्बके पुद्गल घुस जाते हैं। शिलामेंसे पानी झरनेके कारण, लोहेका गोला लगता होनेके कारण और शरीरमेंसे प्रस्वेद निकलता होनेके कारण शिलामें पानी, लोहेमें अग्नि और शरीरमें भी पानीके पुद्गलोंकी विद्यमानता होना निर्विवाद है वैसे ही सीसेमें भी हमारा प्रतिबिम्ब मालूम होनेसे वह प्रतिबिम्ब पुद्गलरूप हो तब ही यह बात संघटित हो सकती है। आतप याने धूप तो पुद्गल-

रूप है ही इसमें किसीका भी मतभेद नहीं, क्योंकि वह आताप अग्निके समान हमें संतप्त करता है और गरम लगता है। चन्द्र और सूर्य आदिका प्रकाश भी पुद्गलरूप है, क्योंकि वह प्रकाश ठंडे पानीके समान हमें आनन्द प्रदान करता है और अग्निके समान गरम भी रहता है। तथा जिस प्रकार प्रकाश करनेवाले दीपकका प्रकाश पुद्गलरूप होता है वसे ही प्रकाश करनेवाले चन्द्र और सूर्यका प्रकाश भी पुद्गलरूप है। यह राग वगैरह मणि रत्नोंका प्रकार अनुष्णाशीत याने ऊष्ण भी नहीं और शीत भी नहीं ऐसा है। इस प्रकार अन्धकार छाया और प्रकाश ये सब ही पुद्गलरूप सावित हो चुके हैं और साथ ही जैन दर्शनमें माने हुए अजीव तत्वकी व्याख्या भी यहाँ ही समाप्त हो जाती है।

पुण्य

कर्मके शुभ पुद्गलोंका नाम पुण्य है। जिस कर्मके पुद्गल तीर्थंकरत्व और स्वर्ग आदिके प्राप्त करानेमें निमित्तरूप होते हैं उन पुद्गलोंको शुभकर्मके पुद्गल कहते हैं। ये कर्मके पुद्गल जीवके साथ लिप्त होते हैं और उसका दूसरा नाम कर्मकी वर्गणा (कर्म वर्गणा) भी है।

पाप और आश्रव

पुण्यसे विपरीत प्रकारके पुद्गलोंको पाप पुद्गल कहते हैं। मिथ्यात्व, विषयासक्ति, प्रमाद और कषाय वगैरह पाप बन्धके कारण हैं और इन्हीं बन्धके कारणोंको जैनशास्त्रमें आश्रवका नाम दिया गया है। पापके पुद्गलोंको अशुभकर्मके पुद्गल कहते हैं क्योंकि वे पुद्गल वगैरह अशुभ फलके कारण हैं ये पाप पुद्गल भी जीवके साथ ही लिप्त रहते हैं। पुण्य और पापकी विद्यमानता माननेमें जो बहुतसे मतभेद हैं उन सबका यहाँपर निराकरण होनेसे वे सब बन्ध-

तत्वमें समा जाते हैं, तथापि यहाँपर पुण्य और पापको विशेषतः जुदे बतलाये हैं। इसके सम्बन्धमें जो मतभेद है वह इस प्रकार है। कितने एक कहते हैं कि पापतत्व नहीं है, परन्तु एकला पुण्य ही है। कितने एक कहते हैं कि पुण्यतत्व नहीं है किन्तु एकला पाप ही है। कितने एक कहते हैं कि पुण्य और पाप ये दोनों भिन्न २ तत्व नहीं हैं परन्तु पुण्यपाप नामक साधारण एक ही तत्व है। इस एक ही तत्वमें पुण्य और पापका मिश्रण हुआ है तथा यही तत्व सुख और दुःखके द्वारा मिश्रित हुये फलका कारण बनता है। कितने एक वादियोंका मत है कि सर्वथा कर्मतत्व है ही नहीं, जो कुछ यह संसारका प्रपंच चल रहा है वह मात्र स्वभावके कारण ही चला करता है।

ये सब ऊपर बतलाये हुए मत यथार्थ नहीं हैं, इसका कारण इस प्रकार है—पुण्य और पाप ये दोनों सर्वथा जुदे जुदे याने परस्पर सम्बन्ध रहित स्वतंत्र तत्व हैं, क्योंकि इन दोनोंके फल सर्वथा भिन्न २ और परस्पर सम्बन्ध रहित अनुभव किये जाते हैं। पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख है। प्रत्येक मनुष्य इन सुखदुःखोंका सर्वथा भिन्न २ ही अनुभव करता है। परन्तु परस्पर एक दूसरेमें सम्मिलित होकर ये सुखदुःख नहीं अनुभव किये जाते। जिस तरह भिन्न भिन्न और स्वतंत्र फलोंको देखकर उन फलोंके भिन्न २ वृक्षोंका अनुमान किया जा सकता है वैसे ही सुख और दुःखका जुदा २ और स्वतंत्र अनुभव होनेके कारण इन दोनों फलोंके भी दो जुदे जुदे और स्वतंत्र कारण या हेतु होने चाहियें यह अनुमान हो सकता है। और यह अनुमान किसी प्रकारकी शंकारहित और सच्चा होनेसे इसके द्वारा पुण्य और पाप नामक दो जुदे २ स्वतंत्र तत्वोंकी स्थापना हो सकती है। और इसी एक युक्तिसे उपरोक्त समस्त मत असत्य ठहरते हैं।

जो लोग कर्मको नहीं मानते ऐसे नास्तिक और वेदान्ती इस प्रकार कहते हैं " पुण्य और पाप ये दोनों आकाश पुष्प जैसे हैं परन्तु ये कोई वास्तविक तत्व नहीं हैं अतः इन दोनोंके फलरूप

स्वर्ग और नरक तो होंगे ही कैसे ? " उनके इस कथनकी असत्यता इस प्रकार साबित होती है—यदि पुण्य और पाप ये दोनों आकाश पुष्पके समान ही हों और किसी खास तत्वरूपसे न हों तो संसारमें जो सुख और दुःख हुआ करते हैं उनकी उत्पत्ति किस तरह हो ? आपकी मान्यताके अनुसार तो सुख और दुःख कदापि किसीको न होना चाहिये, क्योंकि कारणके विना कोई कार्य नहीं हो सकता। परन्तु आपका यह कथन हमें सर्वथा विरुद्ध मालूम देता है। क्योंकि संसारका प्रत्येक प्राणी क्षणक्षणमें सुख और दुःखका अनुभव किया करता है। यदि आप गहरा विचार करेंगे तो मालूम होगा कि मनुष्य समानहक्क होनेपर भी एक मनुष्य शेठाई और एक गुलामी भोगता है। एक मनुष्य लाखोंका पालन पोषण करता है, एक आपना पेट भी नहीं भर सकता और कितने एक देवताओंके समान निरन्तर मौज मजा किया करते हैं एवं कितने एक नारकोंके समान दारुण दुःख भोगते हुये त्राहि २ होकर पुकार कर रहे हैं। इस प्रकार सुख और दुःखका अनुभव प्रत्येक प्राणीको होनेसे उसके कारणरूप पुण्य और पाप तत्वोंका स्वीकार करना आवश्यक है और इन दोनों तत्वोंका स्वीकार किये बाद इनके फलरूप स्वर्ग और नरकको भी मानना चाहिये। जैसे विना बीज अंकुर हो नहीं सकता वैसे ही विना पुण्य सुख और विना पाप दुःख नहीं हो सकता। अतः इन दोनों तत्वोंको अवश्य मानना चाहिये। अब कदाचित् यदि कोई यों कहे कि-जैसे घड़ा, चर्खा, और साड़ी वगैरह आकारवाली वस्तुयें आत्मामें होते हुये आकार रहित ज्ञानका कारण बनती हैं वैसे ही स्त्री, चन्दन और माला वगैरह श्रेष्ठ श्रेष्ठ स्थूल वस्तुओंको अमूर्त सुखका कारण मानना चाहिये और विष, कांटा तथा सर्प वगैरह खराब २ स्थूल वस्तुओंको अमूर्त दुःखका कारण मानना चाहिये, परन्तु इन प्रत्यक्षरूप वस्तुओंको छोड़कर परोक्षरूप पुण्य और पापको सुख तथा दुःखका कारण कल्पित करना यह किसी भी तरह युक्तियुक्त मालूम नहीं देता। यह पूर्वोक्त कथन भी असत्य ही है और इसकी असत्यता इस प्रकार साबित होती है—जो एक वस्तु एक मनुष्यको विशेष

सुख या दुःख देती है वही वस्तु दूसरे मनुष्यको कम सुख या दुःख देती है और जो एक वस्तु किसी एक मनुष्यको सुखका कारण बनती है वही वस्तु दूसरे मनुष्यको दुःखका कारण बनती है। खीर खानेवाला एक मनुष्य आनन्द भोगता है दूसरा मनुष्य उसी खीरको खाकर दुःख भोगता है—रोगी बनता है। यदि आपके कथनानुसार स्थूल वस्तुयें स्वयं ही सुख और दुःखका कारण बनती हों तो फिर एक ही वस्तु एकको सुख और दूसरेको दुःखका कारण किस तरह हो सके? अतः इस प्रकारके सुख और दुःखके अनुभव होनेका कारण कोई अन्य ही होना चाहिये—जो परोक्ष है और नजरसे दीखते हुये इन स्थूल पदार्थोंके जैसा स्थूल नहीं है। यदि इस प्रकारके याने एक ही वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःखके अनुभवका कोई भी कारण ही न हो तो या तो ऐसा अनुभव ही न होना चाहिये अथवा ऐसा अनुभव हमेशह होना चाहिये। क्योंकि जिस वस्तु या प्रवृत्तिका कुछ भी कारण न हो वह या तो होनी ही न चाहिये और या हमेशह होनी चाहिये ऐसा अकारण वादका नियम है। परन्तु यहाँ तो ऐसा होता हुआ मालूम नहीं देता। अतः सुखादिकके अनुभवके कारणको अवश्य ही मानना पड़ेगा और जो वह कारणरूप ठहरेगा वह पुण्य और पापके सिवाय अन्य कोई न हो सकेगा। [1]शास्त्रमें कहा है कि "सामग्री-की समानता होनेपर भी जो उसके फलमें विशेषता मालूम होती है अर्थात् जो सामग्री किसीको अधिक और किसीको कम सुख दुःख पैदा करती है अथवा जो एक सामग्री एकको सुखी-और वही सामग्री दूसरेको दुःखी करती है, यह सब किसी खास कारण सिवाय नहीं हो सकता। किसी कारण बिना ऊपर बतलाया हुआ विचित्र अनुभव नहीं हो सकता, हे गौतम! जैसे बिना कारण घट नहीं बन सकता वैसे ही किसी कारण बिना ऊपर बतलाया हुआ विचित्र अनुभव नहीं हो सकता। अतः इस अनुभवका कुछ खास कारण होना चाहिये और वह" जो कारण है उसे ही कर्म

१ विशेषावश्यक भाष्यके—गणधर वादकी गाथा १—६—१—३ (पृ) ६८९ देखिये।

कहते हैं। तथा पुण्य और पापकी सिद्धि अन्य रीतिसे भी इस प्रकार हो सकती है—यह बात तो सबको विदित ही है कि संसारमें प्रवर्तती हुई प्रत्येक प्रवृत्ति फलवाली मालूम होती है, जैसे किसान को खेती करनेका फल धान्य वगैरह मिलता है वैसे ही दान वगैरह प्रशस्त क्रिया करने और हिंसा वगैरह खराब क्रिया करनेका फल प्रत्येक करनेवालेको मिलना ही चाहिये और जो वह फल मिलता है वह पुण्य और पापके सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता। अतः इस युक्तिसे भी पुण्य और पापकी विद्यमानता सिद्ध होती है।

अब यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार खेतीका फल धान्य वगैरह प्रत्यक्षरूप है वैसे ही दान वगैरह प्रशस्त क्रियाका फल दान देनेवालेकी लोकमें कीर्ति और प्रशंसा है और हिंसा आदि-अप्रशस्त क्रियाओंका फल मांस भक्षण और तृप्ति है ऐसा मानना चाहिये, अर्थात् इन दोनों क्रियाओंके पुण्य और पाप जैसे परोक्ष फल कल्पित न करके उपरोक्त प्रत्यक्ष फल ही काल्पित करना विशेष युक्तियुक्त है। तथा लोकसमूह भी ऐसी ही प्रवृत्ति करता हुआ मालूम देता है कि जिसका फल प्रत्यक्ष मिलता हो, अर्थात् दान वगैरहका देना ऐसा उधार धन्दा करनेवाले बहुत कम मनुष्य हैं अतः खेती वगैरह प्रवृत्तिके समान उस दान वगैरह क्रियाका फल भी प्रत्यक्ष ही है और यही मान्यता लोक समूहको भी मान्य है। जैन सिद्धान्तकी दृष्टिसे उपरोक्त कथन सर्वथा असत्य मालूम होता है और वह असत्यता इस प्रकार साबित हो सकती है—आपके कथनानुसार खेती और व्यापारकी हिंसारूप क्रिया करनेवाले बहुत मनुष्य हैं और स्वार्थत्यागपूर्वक दान वगैरह पवित्र क्रिया करनेवाले बहुत कम मनुष्य हैं, इससे ही यह साबित होसकता है कि इस हिंसारूप क्रियाका फल दुःखका कारण पाप है, क्योंकि संसारमें हिसाब लगानेसे मालूम होता है कि सुखी मनुष्योंकी अपेक्षा दुःखी आत्मायें ही बहुत हैं और वे अनेक प्रकारकी हिंसामय क्रियायें कर रहे हैं। यदि आपकी मान्यताके अनुसार हिंसामय प्रवृत्तिका फल पाप न हो और

संसारमें मिलता हुआ ही कुछ प्रत्यक्ष फल हो तो वे सब पाप रहित होनेसे मृत्यु पाते ही सीधे मुक्ति तरफ जाने चाहियें और वहाँसे कदापि पीछे पुनर्जन्म न मिलना चाहिये। यदि ऐसा बन सके तो संसारका रुपयेमें पन्द्रह आने भाग इस प्रकारका होनेसे शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर सके और फिर संसारमें बहुत ही कम याने जो सुखी हैं वे ही हमारे नजरमें आ सकें। इससे संसारमें अनन्त जीव हैं, यह हकीकत असत्य होनी चाहिये और हमें एक भी कोई दुःखी मनुष्य न दीखना चाहिये। परन्तु ऐसा तो देखनेमें नहीं आता, याने संसारमें मालूम होता है कि सुखी मनुष्यकी अपेक्षा दुःखी मनुष्य अनेक गुने अधिक हैं और सुखी तो बहुत ही कम हैं। इस प्रकारकी संसारकी दशापरसे तो प्रत्युत यह निश्चित हो सकता है कि जो ये दुःखी मनुष्य मालूम होते हैं वे ही पूर्वजन्ममें की हुई हिंसामय प्रवृत्तियोंके फलरूप हैं। और वे ही लोग पापकी विद्यमानता बतलानेके लिये काफी हैं। जो थोड़े घने मनुष्य सुखी मालूम देते हैं वे पूर्व जन्ममें की हुई दान वगैरह शुभ प्रवृत्तिके फलरूप हैं और उन्होंकी कम संख्या ही पुण्यकी विद्यमानताके लिये पर्याप्त है। अब कदाचित् यह कहा जाय कि दानादिक शुभ क्रियाका फल दुःख और हिंसादिक अशुभ क्रियाका फल सुख इस तरहका विपरीत नियम क्यों न हो सके? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—यदि ऐसा विपरीत नियम सत्य होता तो संसारमें दुखी प्राणी बहुत कम नजर आने चाहियें और सर्वत्र सुखी ही सुखी मनुष्य मालूम होने चाहियें। क्योंकि दानादिक शुभ क्रिया करनेवाले बहुत कम हैं और हिंसादिक अशुभ क्रिया करनेवाले उनसे अनेक गुने अधिक हैं।

ऐसा होनेसे पूर्वोक्त विपरीत प्रकारका नियम सत्य नहीं हो सकता। तथा पुण्य और पापकी सिद्धिके लिये यह एक दूसरी भी युक्ति मौजूद है—सब जीव एक सरीखे हैं तथापि एकका शरीर सुन्दर, सुडौल, दीखनेमें अच्छा पाँचों इन्द्रियोंसे परिपूर्ण और निरोगी होता है एवं दूसरेका शरीर कद्रूप, बेडौल, किसीको देखनेमें पसन्द न पड़े वैसा किसी अंग प्रत्यंगकी त्रुटिवाला और रोगी

होता है। कोई मनुष्य है, कोई पशु है, इत्यादि अनेक प्रकारकी विचित्रता जीवोंमें कारण विना सम्भावित नहीं हो सकती। इस विचित्रताका जो कारण है बस वही पुण्य और पाप है। यदि यों कहा जाय कि—"बाप जैसा वेटा और वड़ वैसा टेटा" इस प्रकारके लौकिक न्यायसे इस विचित्रताका कारण हो सकते हैं, परन्तु उसका कारण परोक्ष पुण्य पाप नहीं हो सकता। इसका उत्तर इस प्रकार है। यदि इस विचित्रताके कारण मा-बाप ही हो सकते हों तो अन्धे मा-बापोंकी देखनेवाली सन्तान, देखनेवाले मा-बापोंकी अन्धी सन्तान, कद्रूप मा-बापोंकी सुडौल सन्तान, और सुडौल मा-बापोंकी कद्रूप सन्तान होना, इस प्रकारकी विचित्रता होनेका क्या कारण? अथवा एक ही मा बापके दो पुत्रोंमें एक चतुर और दूसरा मूर्ख, एक सुन्दर और दूसरा कुरूप, एक अपंग और दूसरा अंगोपाँग सहित, एक काना और दूसरा दो आँखों-वाला इत्यादि विचित्रता होनेका क्या कारण? इस विषयमें गहरा विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस विचित्रताके कारण मा-बाप नहीं परन्तु जीवोंके अपने स्वयं किये हुये कर्म याने पुण्य और पापही हो सकते हैं। शरीरके सौन्दर्य आदिका कारण पुण्य और शरीरके कद्रूपपन वगैरहका कारण पाप है। अर्थात् इस युक्तिसे भी पुण्य और पापका अस्तित्व साबित होता है। अथवा अन्तमें हम यह कहते हैं कि इन दो तत्वों याने पुण्य और पापकी विद्यमानता सर्वज्ञ पुरुषने कथन की है अतः प्रत्येक मुमुक्षु मनुष्यको सर्वज्ञके कथनानुसार मानना चाहिये। इस विषयमें यहाँपर लिखनेसे भी विशेष चर्चा हो सकती है। परन्तु विस्तारके भयसे हम इसे वढ़ाना नहीं चाहते। जिस सुज्ञ जिज्ञासुको इस विषयमें विशेष जाननेकी जिज्ञासा हो उसे विशेषावश्यककी टीका देख लेना चाहिये।

आश्रव.

आश्रव तत्वका स्वरूप इस प्रकार है—

जिस प्रकार घड़ेमेंसे पानी टपकता है उसी प्रकार जिसमेंसे कर्म टपकते हैं उसे आश्रव कहते हैं। जिन कारणोंसे कर्म टपकते या चूते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमदा, कषाय और योग.। सत्यदेव, सत्यगुरु, और सत्यधर्म, इन तीनों-को सत्य न मानकर असत्य माननेका नाम मिथ्यात्व है। हिंसा आदि अशुभ क्रियाकी प्रवृत्तियोंसे न हटना इसका नाम अविरति है। विषय वासनाओंका सेवन करना और मदिरापान करना इसे प्रमाद कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारोंका संसर्ग करना इसका नाम कषाय है। मन वचन और तनकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं।

पूर्वोक्त मिथ्यात्व आदि पाँच कर्मबन्धके (जिनके द्वारा ज्ञान न हो या कम हो ऐसे ज्ञानावरणीय आदि कर्मबन्धके) कारण हैं और इन बन्धके कारणोंको ही जैन शासनमें आश्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, और कषायके साथ सम्बन्ध रखने-वाली तन, मन, और वचनकी प्रवृत्तियाँ ही शुभ और अशुभ कार्यका कारण होनेसे आश्रवरूप हैं। आश्रव कर्मबन्धका हेतु है इस लिये पहले हेतु और बाद कार्य रहना चाहिये। अर्थात् पहले आश्रव और पीछे कर्मबन्ध, इस प्रकार इन दोनोंकी विद्यमा-नता होनी चाहिये। परन्तु ऐसा माननेसे यह हरकत आती है कि कहीं भी बन्धके बिना आश्रव रह ही नहीं सकता। इस लिये पहले कर्मबन्ध और पीछे आश्रव ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा माननेमें भी जो आश्रव कर्मबन्धका हेतु कहा है वह अनु-चित ठहरेगा। क्योंकि कदापि पहले कार्य और पीछे कारण—हेतु, इस प्रकारका कार्यकारणका क्रम हो नहीं सकता, अतः आश्रव और कर्मबन्ध इन दोनोंके स्थान किस तरह निश्चित करने चाहियें? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जैसे बीज और वृक्ष इन दोनोंमें पहले कौन और पीछे कौन, इस बातका अन्त नहीं आ सकता, परन्तु इनका प्रवाह सदैव जारी रहता है, वैसे ही आश्रव और

वन्धमें भी पहले कौन और पीछे कौन इस वातका अन्त नहीं आ सकता। इनका पारस्परिक प्रवाह निरन्तर चला ही करता है। परन्तु इतनी वात विशेष है कि वर्तमानकालके आश्रवका हेतु पूर्वकालीन कर्मवन्ध है और होनेवाले कर्मवन्धका हेतु वर्तमान कालका आश्रव है। ये दोनों प्रवाह रीतिसे अनादिकालीन होनेसे इनके क्रम निश्चित करनेका मत्थापच्ची करना सर्वथा निकम्मा और व्यर्थ है। इन दोनोंका प्रवाह भी किसी प्रकारकी वाधासे रहित है। पूर्वकालके वन्धकी अपेक्षा आश्रव कार्यरूप है और यही कार्यरूप आश्रव होनेवाले कर्मवन्धकी अपेक्षा कारणरूप है। इसी दृष्टिसे यहाँपर आश्रवको कर्मवन्धका कारण कहा है। अतः आश्रव और वन्धके क्रममें किसी प्रकारका दूषण नहीं आ सकता। मुख्यतया यह आश्रव दो प्रकारका है। पुण्यका हेतु और अपुण्यका हेतु। तरतमताके कारण इसके छोटे छोटे भेद तो वहुत ही हैं। तन, मन, वचनकी शुभ या अशुभ प्रवृत्तिकी अर्थात् आश्रवकी विद्यमानता मनुष्य स्वयं अपने अनुभवसे ही जान सकता है और उसके द्वारा ही तथा अनुमानसे भी उसकी विद्यमानताकी कल्पना कर सकता है। आश्रवकी विद्यमानताके लिये शास्त्र भी साक्षी देते हैं, अतः आश्रवतत्वके अस्तित्वमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं आता।

सम्वर और बन्ध

अव सम्वर और वन्धतत्वका विवरण इस प्रकार कहते हैं— आश्रवके विरोधको जैनशास्त्रमें सम्वर कहा है। जीव और कर्म इन दोनोंका दूध और पानीके समान जो परस्पर सम्वन्ध है उसे वन्ध कहते हैं।

सम्यक् दर्शनके द्वारा मिथ्यात्व, त्यागके द्वारा अविरति, प्रमाद, क्षमादि गुणोंके द्वारा कषाय तथा मन, तन और वचनके दमन द्वारा और पवित्र विचारोंके द्वारा मन, तन, और वचनकी प्रवृत्तियोंका जो निरोध किया जाता है उसे सम्वर कहते हैं। यथार्थ सम्वर तो आत्मामें कर्मग्रहणके हेतुका अभाव है। वह सम्वर दो

प्रकारका है। एक सर्व सम्वर-सर्वथा-सम्वर और दूसरा देश सम्वर-थोड़ा थोड़ा सम्वर। जिस समय ज्ञानी पुरुष छोटी या बड़ी समस्त प्रवृत्तियोंको देख कर सर्वथा अक्रिय-क्रिया रहित हो जाता है उस समय वह सर्वथा सम्वर (सर्व प्रकारसे सम्वर-सर्व सम्वर) में होता है। और जबसे मनुष्य मात्र चारित्र सुधारकी तरफ झुकता है तबसे वह थोड़ा थोड़ा सम्वर (देश सम्वर) किये जाता है। बन्ध तत्वका वर्णन इस प्रकार है—

जिस प्रकार दूध और पानी दोनों इकट्ठे हुये बाद जैसा उन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होता है वैसा ही जीवके प्रदेश और कर्मके परमाणुओंमें जो सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा आत्मा परतंत्रताको प्राप्त हो ऐसे कर्मके (पुद्गलके) परिणामको बन्ध कहते हैं। गोष्ठामाहिल नामक कोई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि जैसा शरीर और उसके ऊपर रहे हुये कपड़ोंका सम्बन्ध है, सर्प और उसके ऊपर रही हुई कांचलीका सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध आत्मा और उसके ऊपरके कर्मोंका है। परन्तु जैन दर्शन इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं मानता। जैन दर्शन कहता है कि इकट्ठे हुये दूध और पानीका जैसा सम्बन्ध होता है या मिले हुये अग्नि और लोहेका जैसा सम्बन्ध होता है वैसा ही सम्बन्ध जीव और कर्मके परमाणुओंमें है। यदि यहाँपर यह कहा जाय कि जीव अमूर्त है उसका किसी भी तरहका आकार नहीं, उसे हाथ, पैर, भी नहीं हैं, तो फिर किस तरह कर्मके परमाणुओंको ग्रहण करता है? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जीव और कर्ममें अनादिकालका सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध भी कुछ ऐसा वैसा ही नहीं किन्तु मिले हुये दूध और पानीके समान है। अतः इस प्रकारके सम्बन्धसे बने हुये आत्माको हम अमूर्त नहीं मानते किन्तु मूर्त ही याने आकारवान ही मानते हैं। तथा कर्मके परमाणु कुछ हाथसे नहीं पकड़े जाते, वे तो मात्र वृत्तियों याने विचारों द्वारा ही खींचे जाते हैं। जिस तरह कोई मनुष्य शरीरपर तेल मसलवा कर वस्त्ररहित बैठा हो उस वक्त हाथ पैर हिलाये बिना ही उसके शरीरपर चारों ओरसे उड़ती हुई रज आ चिपटती है वैसे ही रागद्वेष

और मोहकी प्रवृत्तिवाले आत्माके एक २ प्रदेशपर चारों तरफ भरे हुये कर्मके परमाणु चिपट जाते हैं। ऐसी स्थितिमें रहे हुये—संसारमें परिभ्रमण करते हुए आत्माको हम अनेकान्तवादी इस अपेक्षासे मूर्त भी मानते हैं। इस पूर्वोक्त युक्तिसे हाथ पैर रहित आत्मा कर्मके परमाणुओंको किस तरह ग्रहण कर सकता है? यह कल्पना असत्य साबित होती है। कर्मका वन्ध दो प्रकारका है एक प्रशस्त वन्ध और दूसरा अप्रशस्त वन्ध है। तथा कर्मका वन्ध चार प्रकारका भी है, प्रकृतिवन्ध, स्थिति बन्ध, रसवन्ध और प्रदेशवन्ध। प्रकृति याने स्वभाव, जैसे ज्ञानावरण नामक कर्मका स्वभाव ज्ञानको आच्छादित करने याने उसका आविर्भाव न होने देनेका है। स्थिति याने कर्मको ठहरनेकी मर्यादा, जैसे कि अमुक कर्म अमुक वक्त तक ठहर सकता है। इस मर्यादाके होनेका कारण वृत्तिकी तीव्रता और मन्दता है। रस याने आत्माकी शक्तिको दावनेकी कर्ममें रही हुई ताकत, जैसे कि अमुक प्रकारका ज्ञानावरण कर्म, आत्माके अमुक ही ज्ञानको दवा सकता है। प्रदेश याने कर्मके अणुओंका समूह। इस प्रकार मुख्यतासे कर्मवन्धके ये चार भेद हैं। तथापि इनके आठ और एकसौ अट्ठावन प्रकार भी हो सकते हैं। आठ प्रकार तो इनकी मूल प्रकृतिके हैं और ये इस तरह हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र, और आयुष्य। इनकी उत्तर प्रकृतिके सब मिलकर १५८ भेद हैं और वे भी वृत्तिकी तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता, तथा मन्दता, मन्दतरता, मन्दतमताके कारण वहुत प्रकारके हो जाते हैं—

जिज्ञासु मनुष्यको ये समस्त कर्मबन्धके प्रकार कर्मग्रन्थसे जान लेने चाहियें।

निर्जरा और मोक्ष

अब बन्धतत्वका स्वरुप कथन किये बाद निर्जरातत्वका स्वरूप कहते हैं—

जो जो कर्म जीवपर लिप्त हो गये हैं उनके झड़ जानेको निर्जरा कहते हैं और जीव एवं शरीरका जो सर्वथा वियोग-फिरसे कदापि संयोग न हो इस प्रकारका वियोग उसे मोक्ष कहते हैं।

बारह प्रकारके तप द्वारा जीवके साथ लगे हुये ज्ञानावरणादि कर्म झड़ जाते हैं इसे निर्जरा कहते हैं और यह निर्जरा दो प्रकारकी है—सकाम और अकाम। जो मनुष्य अपनी इच्छासे कठिन तप करते हैं, ध्यान धरते हैं और बाईस प्रकारके परीषहोंको सहते हैं। तथा मस्तकके केशोंका लुंचन करते हैं एवं अनेक प्रकारसे अपने देहका दमन करते हैं तथा अठारह शीलांगोंको धारण करते हैं, किसी प्रकारके परीग्रहको धारण नहीं करते, शरीरके प्रति जरा भी मूर्च्छा नहीं रखते और शरीरका मैल तक भी साफ नहीं करते इस प्रकारके आत्मलीन-महानुभावों एवं महा तपस्वीयोंकी निर्जराको सकाम निर्जरा कहते हैं। जो मनुष्य अनिश्चित्त किसीकी पराधीनतासे अनेक-प्रकारके शरीर और मनके लाखों दुःखोंको सहन कर सकते हैं उनकी निर्जराको अकाम निर्जरा कहते हैं।

मोक्षतत्वका स्वरुप इस प्रकार है-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर, इंद्रिया, आयुष्य, आदि बाह्य प्राण, पुराय, अपुराय, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, जन्म, पुरुषत्व स्त्रीत्व और नपुंसकत्व कषाय वगेरह संघ अज्ञान और आसिद्धत्व वगैरह का सर्वथा विभाग इन पूर्वोक्त सर्व वस्तुओंका फिर कदापि संयोगही न हो इस प्रकारका जो वियोग है उसे मोक्ष कहते हैं।

यदि यों कहा जाय कि आत्माको शरीरका वियोग सम्भवित हो सकता है क्योंकि उसका संबंध ताजा ही हुआ है। परन्तु राग द्वेषका वियोग होना सम्भवित नहीं क्योंकि जो वस्तु अनादिकी है उसका कदापि नाश नहीं हो सकता। जैसे कि आकाश अनादि

है उसका नाश नहीं हो सकता वैसे ही आत्माके साथ राग और द्वेषका सवन्ध भी अनादि है अतः सर्वथा उसका वियोग कैसा होगा? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है।

जिन जिन भावोंमें थोड़ी भी न्यूनता हो सकती हो उन भावोंका किसी दिन सर्वथा अभाव भी होना चाहिये। जैसे कि जाडेकी ठंड़ीमें हमारे रोंगटे खडे हो जाते हैं और जब वह ठंडी मिटकर धूप निकल आती है तब हमारे रोंगटे बैठते चले जाते है और विशेष धूप होनेपर हमारे उन रोंगटे मेंसे एक रोंगटा खड़ा नहीं रहता, अर्थात् रोमांच में जिस प्रकार न्यूनता होते हुये उसका सर्वथा अभाव हो जाता है वैसेही यहाँपर राग, द्वेष वगैरहकी न्यूनता होते हुये उसकाभी सर्वथा अभाव होना सुशक्य है। यद्यपि प्राणीमात्रको रागादिका संबंध अनादिकालसे लगा हुआ है तथापि कितने एक मनुष्योंको राग करनेके स्थानों (स्त्री—कुटुंब वगैरह) का यथार्थ स्वरूप मालूम हुये बाद उसपरसे क्रमशःरागसे विरुद्ध भावना करनेसे उनका अनुराग कम होता चला जाता है, यह बात सब मनुष्योंको सुविदित होनेके कारण विवाद रहित है अतएव यह पूर्वोक्त अनुमानको पुष्ट करती है, अर्थात् राग द्वेष वगैरहमें भी न्यूनता होनेका अनुभव होनेसे किसी समय संमयादिकी आवश्यक सामग्रीका संयोग होनेपर और शुभ भावनाका बल जोर पकड़नेपर राग द्वेष आदिका भी सर्वथा क्षय होना कुछ अनुचित मालूम नहीं देता। इस लिये जैसे जीवको शरीरका सर्वथा वियोग हो सकता है वैसे ही रागद्वेषादिका भी सर्वथा वियोग हो सकता है और इस बातमें किसी प्रकारका दूषण नहीं आ सकता।

इस सम्बन्धमें यदि कोई यों कहे कि जैसे ज्ञानावरणीय कर्मका उदय होनेपर ज्ञानमें न्यूनता होनेका अनुभव होता है और उस-कर्मका अत्यन्त उदय होनेपर कुछ ज्ञानका सर्वथा नाश होता हुआ मालूम नहीं देता, इससे जिस भावकी कुछ थोड़ीसी भी न्यूनता हो सकती हो उस भावका किसी समय सर्वथा अनस्तित्वभी होना चाहिये इस तरहका नियम सुरक्षित नहीं रहता और ऐसा

होनेसे ही यह नियम रागद्वेषादिमें भी उपयुक्त नहीं हो सकता। अतः रागद्वेषादिसे विरुद्ध भावना करनेपर भी आत्माको राग वगैरहका सर्वथा वियोग किस तरह सम्भवित हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है।

आत्मामें जो जो गुण हैं वे दो प्रकारके हैं एक तो आत्मामें स्वभावसे ही रहनेवाले और दूसरे बाह्यनिमित्तके कारण आत्मामें उत्पन्न होनेवाले। जो ज्ञान गुण है वह आत्मामें स्वभावसे ही रहा हैं वे आत्मामें बाह्य निमित्तके कारण आये हुये हैं। जो गुण स्वाभाविक रहे हुये हैं उनके सम्बन्धमें पूर्वोक्त न्यूनताका नियम प्रचलित नहीं होता। किन्तु जो गुण बाह्य निमित्तके कारण आये हुये हैं उन्हें लिये कही यह नियम प्रचलित हो सकता हो। क्यों-कि जो आत्मामें नैसर्गिक गुण रहे हुये हैं। वे स्वभावरुप होनेके कारण कदापि नष्ट नहीं हो सकते। परन्तु जो गुण निमित्त के कारण हुए होते हैं वे समस्त निमित्तके खिसके जानेपर खिसक जानेवाले होनेसे उनके लिये उपरोक्त न्यूनतावाला नियम प्रचलित हो सकता है। अर्थात् आत्मा परिणामी नित्य है अतः चाहे जैसा ज्ञानावरणीय का उदय हुआ हो तथापि आत्माके स्वभावभूत ज्ञानका नाश नहीं हो सकता और जो राग द्वेषादि लोभ वगैरह के कारणोंसे आत्मामें आ घुसे हों वे समस्त लोभ वगैरहका नाश होनेपर एक क्षणभर भी नहीं टिक सकते। जो भाव जिस निमित्त के लिये आये हो वे भाव अपने उस सहचर निमित्तके न रहनेपर कदापि नहीं रह सकते। यह नियम सर्वत्र प्रचालित हो सकता है और यहाँपर रागद्वेपको भी यही नियम लागू पडता है। इससे शरीरके समान आत्माको राग और द्वेषका भी सर्वथा वियोग हो सकता है। जो पहले वतलाया है कि जो अनादिका होता है उसका कदापि नाश नहीं हो सकता यह नियम भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि 'प्राग्भव' नामक अभाव अनादिका होनेपर भी नाश पाता है यह वात सव ही प्रामाणिक स्वीकारते हैं। तथा सुवर्ण और मिट्टी इन दोनोंका सम्बन्ध अनादि कालका होने-पर भी क्षार और अग्नि तापके प्रयोगसे उसका नाश हो

सकता है यह बात सबको विदित ही है, अतः जो अनादिकालीन हो उसका नाश न हो सके यह नियम सत्य नहीं। अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि रागादि गुण आत्मासे भिन्न हैं? या अभिन्न हैं? यदि इन्हें आत्मासे सर्वथा भिन्न ही माना जाय तो जैसे मोक्षको प्राप्त हुये आत्मा रागादिसे भिन्न हैं याने वीतराग हैं वैसे ही प्रत्येक आत्मा रागादिसे भिन्न होनेके कारण वीतराग होना चाहिये और जो उन सबको आत्मासे भिन्न ही माना जाय तो फिर जिस प्रकार घटका नाश होनेपर साथ ही उसके गुणोंका भी नाश हो जाता है वैसे ही रागादिका नाश होनेपर आत्माका भी नाश होना चाहिये। क्योंकि जो दो वस्तु परस्पर सर्वथा अभेद धारण करती हों उनमेंसे एकका नाश होनेपर दूसरीका भी नाश होना चाहिये। अतः रागादि आत्मासे सर्वथा भिन्न या अभिन्न न मानकर किसी अपेक्षासे भिन्न और किसी अपेक्षासे अभिन्न इस प्रकार भिन्न अभिन्न मानना चाहिये। इस प्रकार माननेसे किसी भी प्रकारका दूषण नहीं आता। यदि यह प्रश्न किया जाय कि आत्माको शरीर और कर्मादिका सर्वथा वियोग होनेपर लोकके अन्ततक ऊँचे जानेका क्या कारण? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा समझना चाहिये-जैसे कुम्भकार चाकको एक दफा गति देता है और फिर वह सिर्फ उस गतिके वेगसे ही फिरा करता है, एक वक्त हिन्डोला हिलानेके बाद उस वेगके कारण वह आपसे आप ही हिला करता है, एक दफा प्रारम्भमें ही तीरको गति देनेसे वह फिर बहुत दूरतक पहुँच जाता है, इसी प्रकार कर्मोंका नाश हुये बाद उनके वेगके कारण आत्मा भी लोकके अन्ततक पहुँच जाता है।

जैसे एक तूंबेपर मट्टीका लेप लगाया हो और वह फिर पानीमें डालते ही डूब जाता है, इसके बाद ज्यों ज्यों पानीके सहवाससे उसके ऊपर लगे हुये मट्टीके लेप धुलते जाते हैं-उखड़ते आते हैं त्यों त्यों वह तूंबा ऊपर आता है और तमाम मिट्टी सर्वथा धुल जानेपर वह तूंबा सर्वथा पानी के ऊपर आकर तैरता है, वैसे ही आत्मा भी ज्यों ज्यों कर्मका भार कम करता जाता है

त्यों त्यों ऊंचे आता है और जब उसके ऊपरका कर्मभार सर्वथा उखड़ जाता है तब वह तूंबेके समान लोकके ऊपरी भागतक पहुँच जाता है। जिस प्रकार एरंडकी पकी हुई फली फूटनेके साथ ही उसके अन्दरके बीज ऊपर उड़ते हैं, वैसे ही कर्मोंके बन्धनोंका नाश होते ही आत्मा उच्च गति करता है। जीवोंका मूल स्वभाव ऊंचे जानेका है और जड़ोंकी मूल प्रकृति नीचे जानेकी है। जिस प्रकार स्वभावसे ही पत्थरका टुकड़ा नीचे पड़ता है, वायु तिरछी गति करता है और अग्निकी ज्वाला ऊंची जाती है, वैसे ही आत्माकी उर्ध्व गति भी स्वाभाविक याने नैसर्गिक ही है। जीवोंकी जो अधोगति उर्ध्वगति (स्वर्गादिगति) और तिरछी गति होती है वह उनके कर्मोंके कारण ही है और कर्म रहित जीवोंकी जो उर्ध्वगति लोकके अन्ततक होती है वह स्वाभाविक है। यदि कोई यह कहे कि ऊंचे जाता हुआ कर्म रहित जीव लोकके अन्त भागतक जाकर ही क्यों अटक जाता है? उससे आगे क्यों नहीं जाता? इसका उत्तर इस प्रकार है—लोकसे बाहार याने उस स्थानसे आगे धर्मास्तिकाय नामक तत्व नहीं है इससे वह अधिक ऊंची गति नहीं कर सकता और धर्मास्तिकाय विना किसीकी भी गति हो नहीं सकती यह बात हम पहले ही विदित कर चुके हैं। यह विषय तत्वार्थ सूत्रके भाष्यमें बतलाया गया है। कदाचित् यह मान लिया जाय कि

---

१ मुक्त आत्माके उर्ध्वगमनके विषयमें कथन करते हुये तत्वार्थ सूत्रमें (पृ० २४४ में) इस प्रकार विदित किया है—

"तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति।
पूर्व प्रयोगा—ऽसंगत्व—बन्धच्छेदो—र्ध्व गौरवैः ॥ १ ॥

पूर्व प्रयोगः—कुलालचक्रे दोलायामिषौ चाऽपि यथेष्यते।
पूर्व प्रयोगात् कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ २ ॥

असंगत्वः— मृल्लेप संग निर्मोक्षाद् यथा दृष्टाऽप्स्वलाबुनः।
कर्मसंग विनिर्मोक्षात् तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ ३ ॥

कर्मरहित आत्मा मात्र पूर्व वेगके कारण ही ऊंचे जा सकते हैं।

पूर्वप्रयोग—जिस प्रकार एक दफा फिराये बाद कुम्भकारका चाक अपने आप ही फिरा करता है, एक दफा हिलाये बाद हिन्डोला अपने आप ही हिला करता है, और एक दफे फेंके बाद बाण अपने आप ही बहुत दूर तक पहुँच जाता है वैसे ही आत्माको एक दफा कर्मोंद्वारा फिराया हुआ होनेसे वह अब भी (अकर्मक दशामें भी) ऊंची गति कर सकता है। २

'असंगत्वः—जैसे मट्टीसे लिप्त हुआ तुम्बा पानीमें डूब जाता है और फिर ज्यों २ उसके ऊपरका मिट्टीका लेप धुलकर उखड़ता जाता है त्यों २ वह ऊंचे आता है और वह मैल सर्वथा उखड़ जानेपर उस तुम्बेको हम पानीके ऊपर तैरता देखते हैं वैसे ही इस आत्माके ऊपर चिपके हुये कर्म, कषायादिका मल, सर्वथा उखड़ जानेपर आत्मा लोककी सर्वथा ऊपरी सपाटीकी तरफ गति करे यह स्वाभाविक बात है। ३

बन्धच्छेदः—जिस प्रकार एरन्डकी फली और यन्त्रके चक्रोंमें

बंधच्छेदः— एरण्ड-यन्त्र पेडासु बन्धच्छेदाद् यथा गतिः।
कर्मबन्धनविच्छेदात् सिद्धस्याऽपि तथेष्यते ॥ ४॥

उर्ध्व गौरवः—उर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः।
अधोगौरवधर्माणः पुग्दला इति चोदितम् ॥ ५॥
यथाऽधस्तिर्य गूर्ध्वं च लोष्ठ-वाय्व-ऽग्नि- वीचयः।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनः ॥ ६ ॥
अधास्तिर्यक् तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः।
उर्ध्वमेव तु तद्धर्मा भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ ७ ॥
ततोऽप्यूर्ध्वं गति स्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याऽभावात् सहि हेतुर्गतेः परम् ॥ ८ ॥

आठों कर्मोंका समूल नाश होनेके साथ ही लोकके अन्ततक ऊंचे चला जाता है। इसके ऊंचे जानेके जो हेतु हैं वे इस प्रकार हैं—१ पूर्वप्रयोग। २ असंगता। ३ बन्धच्छेद ४ और उर्ध्वगौरव (इन चारों हेतुओंको उदाहरण पूर्वक समझाते हैं।)

बन्धच्छेद होनेसे गति होती है वैसे ही कर्मबन्धनका सर्वथा उच्छेद होनेसे सिद्ध जीव भी उर्ध्वगति करता है। ४

ऊर्ध्वगौरवः—श्री जिनेश्वरोंने कहा है कि—जीवोंका मूल धर्म उर्ध्वगौरव है याने ऊंचेजानापन है और पुद्गलोंका मूल धर्म अधोगौरव याने नीचे जाना है। ५

जिस प्रकार पत्थरका टुकड़ा अपने स्वभावसे ही नीचे गति करता है, वैसे ही वायु वक्र गति करता है, अग्नि और पानीकी तरंगे ऊंच गति करते हैं उसी प्रकार आत्माकी जो यह उर्ध्वगति होती है वह स्वाभाविक है। ६

जीवोंका नरकादिकी तरफ गमन करना—नीचे जाना, वक्र जाना, मनुष्यादिमें जाना, और ऊंचे याने स्वर्गादिकी तरफ जाना यह सब कुछ कर्मजन्य है और जो लोकके सर्वथा ऊपरके अन्तिम किनारेकी ओर जाना है यह उसका (कर्म रहित जीवका) स्वाभाविक धर्म है। ७

कदाचित यह प्रश्न किया जाय कि जीव लोककी सर्वथा ऊपरी किनारेको छोड़कर आगे भी क्यों नहीं जाता? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वहाँपर आगे गतिका निमित्त धर्मास्तिकाय नहीं और धर्मास्तिकायके बिना गति हो ही नहीं सकती। ८

तथापि यदि मोक्ष जाते हुये आत्माओंको सर्वथा शरीर और इन्द्रियें आदि प्राणरहीत माना जाय—तो उनका जीवत्व ही उड़ जाता है और अजीवका मोक्ष न होनेसे जीवका मोक्षभी कैसे सम्भवित हो सकता है? अतः मोक्षकी दशामें भी जीवका जीवत्व कायम रखनेके लिये जीवको शरीरवाला और इन्द्रियवाला मानना चाहिये। इसका उत्तर इस प्रकार है—प्राण दो प्रकारके हैं, एक द्रव्यप्राण और दूसरे भावप्राण। यद्यपि मोक्षमें भावप्राण नहीं होते तथापि भावप्राणोंकी विद्यमानता होती है। उन भावप्राणोंको धारण करता हुआ जीव वहाँ भी जिया करता है, अतः द्रव्यप्राणोंका वियोग होनेपर भी उसके जीवतत्वमें किसी प्रकारकी भी त्रुटि नहीं होती। वे भावप्रमाण इस तरह हैं—क्षायिकसम्यत्क्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकवीर्य,

क्षायिकदर्शन, और क्षायिकसुख । उन जीवोंमें कि जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख रहता है। मोक्षमें जो अनन्त सुख है वह परमानन्द मय है और वह सुख संसारमें मालूम देनेवाले सुखसे सर्वथा भिन्न है। जिस सुखका अनुभव मोक्ष प्राप्त किये हुये जीव करते हैं उस सुखका अनुभव मनुष्यों एवं देवोंको भी सुहस्स नहीं होता। यदि भूत, भविष्य, वर्तमानकालीन सब देवोंके अनन्त सुखको इकट्ठा किया जाय तथापि वह मोक्षसुखके अनन्त भागमें भी नहीं आ सकता। सिद्धके जीवोंका सुख इतना अधिक है कि यदि उसका अनन्तवाँ भाग कल्पित किया जाय तथापि वह समस्त आकाशमें समा नहीं सकता। इस विषयमें योगशास्त्रमें इस प्रकार बतलाया है।

"देव दानव और मनुष्योंके इन्द्र तीन लोकमें जिस सुखका अनुभव करते हैं वह सुख मोक्षसुखके अनन्तवे भाग जितना भी नहीं हो सकता" वह जो सुख है सो स्वाभाविक है, शाश्वत है, एवं इन्द्रियोंके अनुभवसे भिन्न है, क्योंकि उसका अनुभव मात्र आत्मा ही कर सकता है। मोक्षमें ऐसा सुख होनेसे उसे चारों पुरुषार्थमें बड़ा पुरुषार्थ कहा गया है।

मोक्षको प्राप्त हुये जीव—सिद्धोंके जीव सुखका अनुभव करते हैं या नहीं? इस विषयमें तीन मत इस प्रकार हैं। वैशेषिक मतवाले ऐसा मानते हैं कि मुक्तिको प्राप्त हुये आत्माके बुद्धि, सुख, दुःख, वगैरह गुण नाश होनेके कारण वह किस तरह सुखी हो सकता है? बौद्धमतवाले कहते हैं कि मोक्षमें चित्तका सर्वस्वी विनाश हो जानेके कारण आत्मा स्वयं ही नहीं रह सकता तो फिर सुखकी तो बात ही क्या? साँख्यमतवाले कहते हैं कि मोक्षमें सुख हो तो इससे आत्माको क्या? क्योंकि वह स्वयं भोगनेकी शक्ति ही धारण नहीं करता, इससे वहाँका आत्मा सुखी किस तरह हो सकता है? इन तीनोंमेंसे प्रथम मतवालेको इस प्रकार उत्तर दिया जाता है—

वैशेषिकमतवाले जो यह कहते हैं कि मोक्ष दशामें बुद्धि-सुख

वगैरह गुण नष्ट हो जानेसे उस दशाको प्राप्त हुये आत्मामें विशुद्ध ज्ञान या विशुद्ध सुख किस तरह हो सकता है? क्योंकि मोक्षका सुख इस प्रकार है—जीवके नव विशेष गुण हैं, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, भावना और द्वेष। इन नव गुणोंका सर्वथा नाश होनेपर जीव अपने स्वरूपमें आ सकता है और उस जीवका अपने स्वरुपमें आना यही मोक्ष है। ये नव गुण एक सन्तानरूप होनेसे दीपक सन्ततिके समान सर्वथा नाश पा सकता हैं।

इस प्रकारके अनुमानमें किसी तरह का दूषण नहीं आ सकता एवं इसके सामने इसका विरोध करनेवाला भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। इन गुणोंकी सन्ततिका नाश होनेके कारण इस तरह हैं—निरन्तर शास्त्रका अभ्यास करनेसे आत्माको तत्वज्ञानकी याने अपने स्वरूपकी और संसारके प्रपंचकी खबर पड़ती है, ऐसा होनेसे उसका मिथ्याज्ञान नाश पाता है, मिथ्याज्ञानका नाश होनेसे उसके फलरुप राग द्वेषादिका विलय होता है। रागद्वेषादिका नाश होनेसे तन, मन, और वचनकी नवीन प्रवृत्तिका निरोध होता है और उस निरोधके कारण धर्म एवं अधर्मकी नवीन उत्पत्ति होती अटकती है। जो धर्म और अधर्म पहले किये हुये हैं उनका क्षय उनके द्वारा बने हुये शरीर और इन्द्रियों तथा शारीरिक और इन्द्रियजन्य सुखादि फल भोगनेसे हो जाता है। एवं जो धर्म और अधर्म अबसे पीछे भूतमें हुये हैं उनका क्षय भी उनके द्वारा मिलते हुये उनके फलोंका उपभोग करनेसे होता है। इस प्रकार इन गुणोंकी सन्ततिका नाश होनेका क्रम है और इनमें इन्द्रियोंसे उपन्न होते हुये बुद्धि, सुख और दूसरे भी गुण आ जाते हैं। इस तरह मोक्षकी दशामें आत्मामें बुद्धि या सुख वगैरह रह-नहीं सकते तो फिर आत्माको अनन्त सुखवाला और अनन्त ज्ञानवान् किस तरह माना जाय? इस तरहके वैषेशिक मतवालोंके प्रश्नका उत्तर ऐसे समझना चाहिये—

उपरोक्त जो बुद्धि आदि नव गुणोंके नाश होनेका निवेदन किया है, उसके सम्बन्धमें हम यह पूछना चाहते हैं कि क्या वे गुण

आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं? या वे गुण और आत्मा ये दोनों एक ही हैं? यदि उन गुणोंको आत्मासे सर्वथा जुदा ही माना जाय तो उसका घोड़ा और उसके हाथीके समान आत्माके साथ कुछ भी सम्बन्ध न होनेसे उन्हे आत्माका गुण ही किस तरह कहा जाय? यदि वे गुण और आत्मा दोनों सर्वथा एक ही हों तो फिर गुणोंका नाश होनेपर साथ ही आत्माका भी नाश होना चाहिये और जो ऐसा हो तो फिर मोक्ष ही किसका होगा? अब कदाचित् यदि आत्मा और वे गुण इन दोनोंके बीचमें किसी अपेक्षासे भेद और किसी अपेक्षासे अभेद—यों माना जाय तो फिर आपका माना हुआ एकान्तवादका सिद्धान्त निर्मूल सिद्ध होगा। आप इन गुणोंकी सन्ततिको जो नाशवन्त कहते हैं यह बात बिलकुल विरुद्ध याने असत्य है। क्योंकि जिस सन्ततिका प्रवाह परस्पर कार्यकारण भावका सम्बन्ध धारण करता है वह सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य हो नहीं सकता। यदि उस प्रवाहको सर्वथा नित्य या अनित्य ही माना जाय तो फिर वह कार्य कारणरूप नहीं हो सकता। जो वस्तु नित्यानित्य होती है उसीमें क्रिया करनेकी बात संघटित हो सकती है। तथा आपने जो दीपककी सन्ततिका सर्वथा नाश होनेका उदाहरण दिया वह भी यहाँपर घट नहीं सकता। क्योंकि उसकी सन्ततिका सर्वथा नाश होता ही नहीं, किन्तु उसमें मात्र रूपान्तर होता है, याने तैजस परमाणु अपना चमकता हुआ रूप छोड़कर संयोग और सामग्रीवशात् अन्धकाररूपमें परिणत होते हैं। जैसे पदार्थमात्र अपने पूर्वरूपका परित्याग करता है और भविष्यके नवीन रूपको धारण करता है तथा अपने निजत्वको नहीं छोड़ता वैसे ही दीपक भी इन तीनों प्रकारकी स्थितिमें वर्तता है अतः उसका सर्वथा नाश किस प्रकार हो सकता है? इस विषयमें यहाँपर बहुत कुछ कहा जा सकता है तथापि इसे विस्तारसे "अनेकान्तप्रघट्टक" में कहेंगे। तथा आप जो बुद्धि वगैरह गुणोंका सर्वथा नाश होता बतलाते हैं तो क्या वे गुण इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले हैं? या अतीन्द्रिय? जिन्हें-इंद्रियां भी न पहुँच सकें ऐसे हैं? यदि आप इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले बुद्धि वगैरह

गुणोंका नाश मानते हैं तो हमें भी कुछ बाध नहीं आता क्योंकि हम भी यही मानते हैं कि मोक्ष दशामें इन्द्रियों या इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले अनुभव इनमेंसे कुछ भी विद्यमान नहीं रहता। यदि आप ऐसा मानेंगे कि मोक्ष दशामें अतींद्रिय गुणोंका भी नाश हो जाता है तो उसमें जो दूषण आता है वह इस प्रकार है—

संसारमें जो कोई भी मनुष्य मोक्षार्थी है वह ऐसा समझकर ही मोक्ष प्राप्तिकी प्रवृत्ति करता है कि मोक्षदशामें अनन्त और किसी भी सुखकी समानता धारण न करे ऐसा सुख और ज्ञान कायम रहता है। मोक्षार्थियोंमें किसी को भी ऐसी इच्छा नहीं होती कि मोक्षप्राप्तिके बाद जो ज्ञान और सुख वगैरह वर्तमानमें विद्यमान हैं उससे भी हाथ धोने पड़ेंगे! और एक पत्थरके समान दशा भोगनी पड़ेगी। यदि सचमुच ही मोक्ष दशामें पत्थरके समान जड़ जैसा होकर पड़े रहना पडता हो तो संसारमें एक भी मनुष्य मोक्षके वास्ते प्रवृत्ति करे ही नहीं। ऐसे मोक्षसे तो यह संसार ही अच्छा है कि जिसमें थोड़ा थोड़ा तो सुख मिला करता है। अतः वैशेषिक मतवालोंने जो मोक्षका स्वरूप कल्पित किया है वह किसीको भी रुचिकर नहीं हो सकता। कहा भी है कि "वृन्दावनमें निवास करना अच्छा, गीदड़ोंके साथ रहना अच्छा, परन्तु गौतमऋषी, वैशेषिकोंकी मानी हुई मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये खुपी नहीं।" इसी प्रकार मोक्षके सम्बन्धमें मिमांसा मतवाले भी कहते हैं कि—"जबतक वासना वगैरह आत्माके समस्त गुणोंका सर्वथा नाश नहीं होता तबतक दुःखका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। सुख और दुःखका कारण धर्म और अधर्म हैं ये दोनों ही संसाररूप घरके स्तम्भ हैं। इन दोनों स्तम्भोंका नाश होनेपर शरीर वगैरह टिक नहीं सकते और ऐसा होनेसे ही आत्माको सुखदुःख नहीं हो सकता, अतएव वे मुक्त आत्मा कहलाते हैं। जब आत्मा मोक्षकी दशाको पहुँचता है तब वह कैसा होता है? इसका उत्तर इस प्रकार है—वह मुक्तात्मा अपने स्वरूपमें रहा हुआ है, समस्त गुणोंसे मुक्त होता है और उस वक्तका उसका रूप संसारके बन्धनोंसे एवं दुःख तथा क्लेश रहित

होता है, छह ऊर्मियोंसे पर होता है ऐसा पण्डितलोक कहते हैं। काम, क्रोध, मद, गर्व, लोभ और दम्भ ये छह उर्मियाँ हैं।" तथा वे (मिमांसा मतवाले) कहते हैं कि—"जबतक आत्मा शरीरधारी होता है तबतक उसे सुख और दुःख होता है शरीर,रहित आत्माको सुखदुःखका स्पर्श तक भी नहीं होता।" मिमांसामतवालोंका पूर्वोक्त मोक्षविषयक अभिप्राय वैशेषिक मतवालों जैसा ही असत्य मालूम होता है। हम (जैन) वैशेषिकमतवालोंसे पूछते हैं कि आप मोक्ष दशामें सुख मात्रका सर्वथा अभाव ही मानते हैं. या जो सुख शुभकर्मके परिणाम रूप हैं उन्हींके फलका अभाव मानते हैं? यदि शुभकर्मके परिणाम रूप सुखका ही अभाव मानतो हो तो इस बातमें हमारा आपसे कुछ भी कथन नहीं है। क्यों कि हम भी यह मानते हैं कि मोक्ष दशामें किसी भी कर्मसे पैदा होनेवाला सुख नहीं रहता। यदि आप मोक्षदशामें सुख मात्रका आभाव मानते हैं तो यह बात हमें मंजूर नहीं हो सकती। क्योंकि आपका यह पक्ष असत्य है। आत्मा सुखस्वरूप है अतः सुख यह आत्माका स्वभाव है और ऐसा होनेसे ही आत्माके स्वभावरूप इस सुखका कदापि नाश नहीं हो सकता। जैसे हम वैषयिक सुखोंको अत्यन्त चाहते हैं वैसे ही सब अपने २ आत्माको भी अत्यन्त चाहते हैं अतएव यह साबित हो सकता है कि आत्मा सुखमय है। यदि वह सुखमय न होता तो उसे कोई भी न चाहता। तथा विचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुमुक्षु मात्र सुखके लिये ही प्रवृत्ति कर रहे हैं और वह सुख मोक्ष दशामें ही मिल सकता है। मोक्षदशामें जो सुख रहा हुआ हैं वह अवधिरहित है और अखंड तथा अधिकमें अधिक है, उससे अधिक सुख अन्यत्र कहीं संभवित नही हो सकता। जिस जिस गुणमें तरतमता मालूम देती है उस गुणकी तरतमता किसी भी जगह जरूर अटकनी चाहिये। जैसे परिणामकी तरतमता आकाशमें अटकी है वैसे ही सुखकी भी तरतमता मोक्ष दशामें अटकी है, अतएव मोक्षदशाका सुख अवधि रहित है ऐसा कहा गया है। तथा हम वैशेषियोंको विदित करते हैं कि

उन्होंकी मानी हुई वेदकी श्रुतियां भी मोक्ष दशाके सुखका वर्णन इस प्रकार कर रही है—" ब्रह्मका रूप आनन्द है, और वह मोक्ष दशामें प्रगट होता है। उस समयका ब्रह्मका रूप देखकर समस्त बन्धन टूट जाते हैं और उसी वक्त–मोक्षदशामें आत्मा निजमें नित्य आनन्दका लाभ प्राप्त करता है। " तथापि दूसरी श्रुति इस प्रकार है—जहांपर मात्र बुद्धि ही पहुँच सकती है, इंन्द्रियाँ न पहुँच सकें ऐसा कदापि नाश न पानेवाला सुख जहांपर रहता है उसका नाम मोक्ष है और उस मोक्षको अपूर्ण मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते।" अतः मोक्ष सुखमय है इस बातमें अब कुछ विवाद या शंका नहीं रहती, इस लिये वैशेषिकोंको भी मोक्षको सुखमय मानना चाहिये और ऐसा करके वेदकी श्रुतिका मान रक्षण करना चाहिये। अब सांख्य मतवालोंका मोक्षके सम्बन्धमें जो अभिप्राय है वह इस प्रकार है—

वे कहते हैं कि यह पुरुष [आत्मा] शुद्धचैतन्यरूप है और एक सलाईको भी वक्र करनेके लिये अशक्त है अतः वह अकर्त्ता है, तथा साक्षात् भोगनेवाला भी नहीं। वह तो जड़ और क्रिया करनेवाली प्रवृत्तिका समाश्रुत है और इसीसे उसपर अज्ञानका पटल छाया हुआ है। ऐसा होनेसे ही जो सुख वगैरह फल प्रकृतिमें रहनेवाला है उसका प्रतिबिम्ब आत्मामें पड़ता है उसे ही वह अपना मान लेता है और ऐसे मोहके कारण ही प्रकृतिको सुखस्वभाववाली मानता हुआ आत्मा संसारमें निवास करता है। जब आत्माको इस बातका विवेक होता है कि—" यह प्रकृति दुःखका हेतु है और इसके साथ सम्बन्ध रखनेमें कुछ लाभ नहीं।" उस वक्त वह [आत्मा] प्रकृतिके किये हुये कर्म फलको नहीं भोगता। प्रकृति भी यही समझती है कि। "इस आत्माने मेरी त्रुटि जानली है और अब यह मेरा किया हुआ कर्मफल नहीं भोगता" तब वह कुष्ट रोगवाली स्त्रीके समान उससे दूर दौड़ती है।

जब प्रकृतिकी शक्ति ठंडी पड़ जाती है तब आत्मा अपने मूल स्वरूपमें आ जाता है और इसीका नाम मोक्ष है। अर्थात् मोक्ष

दशामें रहा हुआ आत्मा अनन्त चैतन्यमय है किन्तु आनन्दमय नहीं। क्योंकि आनन्द यह प्रकृतिका स्वभाव है और मोक्ष-दशामें उसका सर्वथा नाश ही हो जाता है। सांख्यमतवाले मोक्षके सम्बन्धमें इस प्रकार अभिप्राय रखते हैं। इस बातका उत्तर जैन मतावलम्बी इस प्रकार देते हैं—

सांख्यमतवाले यह मानते हैं कि ज्ञान यह बुद्धिका धर्म है और बुद्धि जड़ स्वरूप प्रकृतिमेंसे प्रगट होती है। अर्थात् ज्ञान और आत्माका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं—आत्मा मात्र अज्ञान है। जैसे यह आत्मा अज्ञान है वैसे ही उसके समान मुक्त आत्मा भी अज्ञान है। जो अज्ञानके कारण प्रकृतिमें रहा हुआ सुख वगैरह आत्मा निजका मानता है उसी अज्ञानके कारण मुक्त हुआ आत्मा भी प्रकृतिमें रहे हुये सुख वगैरह फलको निजका क्यों नहीं मानता? क्योंकि वह मुक्त आत्मा भी ज्ञान रहित होनेसे अज्ञान-रूप अन्धकारसे आच्छादित है। इस प्रकार ज्ञान और आत्माका सम्बन्ध न मानकर उसका (ज्ञानका) प्रकृति जैसी जड़ वस्तुके साथ सम्बन्ध माननेसे उपरोक्त दूषण आता है। कदाचित् सांख्य लोक अज्ञानका अर्थ रागादि करें तथापि नहीं मिट सकता। क्योंकि वे रागादिक प्रकृतिके धर्म हैं अतः वे आत्मासे सर्वथा जुदे हैं और ऐसा होनेसे ही वे आत्माको आच्छादित नहीं कर सकते। यदि अत्यन्त जुदे होनेपर भी वे रागादि आत्माको आच्छादित कर सकते हों तो फिर मुक्त आत्मा भी उनसे आच्छादित होना चाहिये। वह भी उनसे अत्यन्त ही जुदा है तथा संसारी आत्माको कर्त्ता न मानकर मात्र भोगनेवाला ही मानना इस बातमें भी बहुतसे दूषण आते हैं। लोकोंमें भी 'जो करे सो भरे' यह बात सुप्रसिद्ध है, इससे विपरीत करनेवाला और एवं भोगनेवाला कोई दूसरा, यह कैसे हो सकता है? तथा हम (जैन) सांख्योंसे यह पूछते हैं कि प्रकृति और पुरुषका संयोग किसने कराया—क्या आत्माने किया? या प्रकृतिने किया? यदि आप यह मानते हैं कि प्रकृति और आत्माका संयोग प्रकृतिने ही किया हुआ है, तो आपकी यह बात यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृति तो सर्वत्र ही रही हुई है इससे यदि

वह सर्वत्र ही आत्मा और प्रकृतिका संयोग कराया करती हो तो फिर मुक्त हुये आत्माओंको भी प्रकृतिका वियोग किस तरह हो सके? प्रकृति सर्वत्र रही हुई होनेके कारण आत्मामात्रका अपने साथ सम्बन्ध करानेमें समर्थ है, अतः एक भी आत्मा उससे रहित न होना चाहिये। अब यदि यह कहा जाय कि आत्मा स्वयं प्रकृतिका संयोग करता है तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा स्वयं शुद्धचैतन्य स्वरूपवान् होनेके कारण प्रकृतिको अपने साथ रखनेका विचार तक भी किस तरह करे? यदि कदाचित् आत्माका ऐसा विचार होता भी हो तो उसका कुछ कारण है या नहीं? और जो कारण माना जाय तो क्या वह प्रकृतिरूप है, या आत्मारूप? क्योंकि सांख्यमतवाले प्रकृति और आत्माके सिवाय तीसरी चीज नहीं मानते। यदि प्रकृतिको कारणरूप माना जाय तो फिर शुद्ध आत्माको प्रकृतिका सम्बन्ध करानेवाली प्रकृति है वैसे ही मुक्त हुये आत्माको भी वह प्रकृति अपने साथ क्यों न मिला सके? क्योंकि आत्मा तो दोनों एक ही सरीखे हैं अतः एकके साथ संयोग कर सके और दूसरेके साथ न कर सके यह बात असंभवित है। यदि प्रकृतिके सम्बन्धका कारण आत्माको माना जाय तो वह आत्मा कि जो कारण रूपसे कार्यमें आता है प्रकृति सहित है या प्रकृति रहित? यदि वह आत्मा भी प्रकृति सहित हो तो उसके साथ प्रकृतिका सम्बन्ध किस तरह हुआ? इस बातका जो उत्तर मिलेगा उसमें भी उपरोक्त ही प्रश्न उठेंगे। ऐसा होनेसे इस विषयका कहींपर भी निराकरण न हो सकेगा। यदि प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित आत्मा, आत्मा और प्रकृतिके लग्नका कारण बनता हो तो यह बात भी अनुचित है। क्योंकि विशुद्धात्मा इस प्रकारकी उपाधिमें पड़ नहीं सकता और कदाचित् पड़े भी तो इस बातका भी कारण शोधना चाहिये और इस प्रकार कारण शोधते शोधते कदापि अन्त नहीं आ सकता। अतः यह कारणपक्षकी हकीकत ठीक नहीं है। अब यदि यह माना जाय कि प्रकृति और आत्माके सम्बन्धका कुछ भी कारण नहीं, तो मुक्त हुये आत्माका भी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध क्यों न हो? तथा इस

विषयमें यह एक और भी प्रश्न उठता है कि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध करता हुआ आत्मा अपने पूर्व स्वभावको छोड़ता है या नहीं? यदि वह अपने पूर्व स्वभावको छोड़ता हो तो वह अनित्य हो जायगा और ऐसा बनना साँख्यमतमें बड़ा दूषणरूप है। यदि वह अपने पूर्व स्वभावको छोड़ता ही न हो तो प्रकृतिके साथ मिल ही किस तरह सकता है? तरुण होनेवाले मनुष्यको अपनी बाल्य अवस्था छोड़नी ही चाहिये, वैसे ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध धारण करनेवाले आत्माको अपना पूर्व स्वभाव छोड़ना ही चाहिये। इस प्रकार किसी भी तरह साँख्यमतमें आत्माके साथ प्रकृतिका संयोग ही संघटित नहीं हो सकता तो फिर उसके वियोगकी तो बात ही क्या? साँख्यमतवालोंने पहले यह बात कही थी कि आत्माको जब विवेक होता है फिर वह कर्मफलको नहीं भोगता, इत्यादि यह बात भी उचित नहीं है। हम (जैन) इस विषयमें यह पूछना चाहते हैं कि विवेक याने क्या? यदि यह कहा जाय कि अपने स्वरूपमें रहे हुये प्रकृति और पुरुषका जो भिन्न २ ज्ञान है उसे विवेक कहते हैं, तो वह विवेक किसको होता है? आत्माको होता है या प्रकृतिको? हम कहते हैं कि उस विवेकका होना इन दोनोंमेंसे एकको भी होना संघटित नहीं होता। क्योंकि साँख्यमतवालोंके हिसाबसे वे दोनों ही अज्ञान हैं। तथा साँख्यमतावलम्बियोंने जो यह बतलाया था कि 'प्रकृति स्वयं कुष्ट रोगवाली स्त्रीके समान दूर भाग जाती है' इत्यादि, यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रकृति तो स्वयं जड़ है, इससे उसमें दूर भाग जानेकी अक्कल या बुद्धि किस तरह आवे? तथा वह प्रकृति नित्यरूप होनेके कारण मोक्ष दशाको प्राप्त हुये आत्माओंको भी अपने साथ क्यों न मिला सके? जैसे किसी मनुष्यने वायुको प्रतिकूलतया समझा हो तथापि वायु उस मनुष्यका पीछा नहीं छोड़ता वैसे ही प्रकृतिको भी आत्माने निर्माल्य समझा हो तथा प्रकृति उसका पीछा किस तरह छोड़ सकती है? क्योंकि प्रकृति नित्य होनेके कारण सदैव रहनेवाली है। इस प्रकार किसी भी आत्माका प्रकृतिसे वियोग होना संघटित नहीं हो सकता तो मोक्ष कहाँसे हो? यदि प्रकृतिको सदैव रहने-

वाली न माना जाय तो उसकी नित्यता किस तरह घट सकती है? जो वस्तु सर्वथा नित्य होती है उसका पूर्वरूप कदापि नहीं बदलता और उसमें नवीन भविष्यका रूप भी नहीं आ सकता। परिवर्तनकी बात उसीमें घट सकती है कि जो वस्तु परिणामी नित्य हो। यदि पूर्वोक्त दूषणको दूर करनेके लिये प्रकृतिको परिणामी नित्य मान लिया जाय तो आत्माको भी वैसा ही मानना चाहिये। क्योंकि जब वह प्रकृतिके साथ मिला हुआ होता है तब उसे सुखका भोगनेवाला माना गया है और मोक्षमें उसे वैसा नहीं माना गया। तथा पहले उसे अमुक्त दशामें और फिर मुक्तदशामें आया हुआ माना जाता है। इस प्रकार आत्माके परिणाम परिवर्तनशील होनेसे उसे भी परिणामी नित्य मानना चाहिये, वैसे ही आत्माको सुखी एवं दुखी वगैरह भी मानना चाहिये। यदि उसे जरा भी परिवर्तनशील न माना जाय तो वह अमुक्तसे मुक्त किस तरह होगा? । इस प्रकार सर्वथा मोक्षके अभावकी नौबत उपस्थित होगी। तात्पर्य यह है कि सांख्योंका माना हुआ मोक्ष यथार्थ रीतिसे घट नहीं सकता अतः मोक्षको अनन्त सुख और अनन्त ज्ञानवाला मानना युक्तियुक्त है।

बौद्ध मतवाले मोक्षके सम्बन्धमें जो अभिप्राय रखते हैं वह इस प्रकार है—वे कहते हैं कि ज्ञानकी क्षणिक धाराओंके सिवाय अन्य कोई जुदा और स्थिर रहनेवाला आत्मा नहीं है, इससे ज्ञानमें और सुखमें मोक्षकी बातें करना सर्वथा व्यर्थ है। जो मनुष्य-आत्मदर्शी (आत्माको माननेवाले) हैं वे मुक्तिको प्राप्त ही नहीं कर सकते। इसका कारण यह है—जो मनुष्य आत्माको स्थिर और नित्य मानता है उसे आत्मा पर स्नेह होता है, उस स्नेहके लिये वह आत्मदर्शी मनुष्य आत्मसुखोंमें एवं उसके साधनोंमें दोषोंकी दृष्टि न करके मात्र गुणोंको ही देखता है और ममतापूर्वक सुखके साधनोंको ग्रहण किये जाता है। इस तरह जबतक आत्मदर्शन है तबतक संसारही है। इसके सम्बन्धमें कहा है कि "जो मनुष्य आत्माको देखता है उसमें 'अहं' इस प्रकारका नित्य रहनेवाला स्नेह उत्पन्न होता है उस स्नेहके कारण

वह उन सुखोंमें तृप्ति पाता है और सुखकी तृष्णा उसे दोषोंको नहीं देखने देती। फिर वह आत्मदर्शी ममताद्वारा सुखके साधनोंको ग्रहण करता है इससे उसे आत्माका अभिनिवेश-अहंताका कदाग्रह उत्पन्न होता है याने जबतक आत्मदर्शन हो तबतक संसारही रहता है। आत्माकी विद्यमानता मालूम हुये बादही मैं और दुसरा (अहं और त्वं) ऐसा भाव होता है इस तरहके ज्ञानके कारण राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं और ये दोनो ही समस्त दोषोंकी जड़ें हैं" अतः मुक्तिको प्राप्त करनेवाले मनुष्यका स्त्रीपुत्र वगैरह परिवारको अनात्मिक (हमारा नहीं) मानना चाहिये और यह समस्त बाह्य संयोग अनित्य है, अशुचि है, तथा दुःखरूप है ऐसा विचार करना चाहिये। ऐसा चिन्तन करनेसे आत्मामें स्नेह उत्पन्न न होगा और उस प्रकारके विशेष अभ्याससे ही वैराग्य पैदा होगा, इससे चित्त आश्रव रहित होगा और इसीका नाम मुक्ति है। अब कदाचित् कोई यों कहे कि ऊपर लिखे मुजब विचार न किये जायें और मात्र शरीरको दुःख देनेरूप तप तपा जाय तो भी सकल कर्मोका नाश होनेसे मोक्ष होना संभवित है, अतः तपके द्वारा ही क्यों न मोक्ष प्राप्त किया जाय? इसके उत्तरमें बौद्ध कहते हैं कि शरीरको दुःख देना यह कोई तप नहीं है; ये तो जैसे नारकी लोक अपने पूर्वके पापके कारण अनेक तरहका दुःख देनेवाला भी अपने पूर्वकर्मोंका फल ही भोगते हैं परन्तु वह कुछ तप नहीं करते, अतः ऐसे तपके द्वारा मोक्ष कैसे मिल सकता है? तथा कर्म तो अनेक प्रकारके हैं, क्योंकि उनके द्वारा अनेक प्रकारके भिन्न २ फल मिल रहे हैं अतः अनेक प्रकारके कर्मोंका नाश एक प्रकारके तपसे कैसे हो सकता है? कदाचित् यों कहा जाय कि तपमें अनेक प्रकारकी शक्तियोंका संमिश्रण होनेसे तपके द्वारा कर्मोंका नाश क्यों न हो सकेगा? इस बातके उत्तरमें बौद्ध मतानुयायी कहते हैं कि—यदि इस प्रकार कर्मोंका नाश होकर मोक्ष हो सकता हो तो थोड़ेसे क्लेशसे भी समस्त कर्मोंका नाश होना चाहिये। क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जाय तो यहांपर भी तपमें अनेक शक्तियोंका

मिश्रण है इसका क्या होगा ? अतः तपसे कर्मोंका क्षय होकर मोक्ष प्राप्त हो यह बराबर संघटित नहीं होता । यही बात दूसरे ग्रंथमें श्लोकों द्वारा बतलाई है। तात्पर्य यह कि जैन मतानुयायी मानते हैं वैसा मोक्ष युक्तियुक्त मालूम नहीं देता इससे निरात्मभावनाकी प्रबलताके कारण चित्तकी जो क्लेश रहित अवस्था होती है उसे ही मोक्ष मानना उचित है। इस प्रकार मोक्षके सम्बन्धमें यह बौद्धोंका अभिप्राय हैं। अब जैनमतानुयायी इस अभिप्रायका उत्तर इस तरह देते हैं।

आप लोग आत्माको स्थिर नहीं मानते और जो मात्र ज्ञानकी धारायें ही मानते हैं उनमें भी बहुतसे दूषण इस प्रकार आते हैं— ज्ञानके प्रवाहतो क्षण क्षणमें पलटते रहते हैं, इसमें जो प्रवाह-क्रिया करनेका निमित्त बनता है वह क्षणिक होनेके कारण क्रियाका फल भोगनेके लियें रह नहीं सकता और जो प्रवाह दूसरे क्षणमें क्रियाका फल भोगता है वह उस क्रिया फलका कर्त्ता नहीं होता। अर्थात् आपके माने हुये क्षणिकवादमें कर्त्ता कोई और भोक्ता कोई यह बड़ेमें बड़ा दूषण आता है। क्योंकि जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता होता है यह नियम सभीको संमत है। तथा आपके इस क्षणिकवादमें स्मरण शक्ति भी किस तरह घट सकती है ? क्योंकि जिसने देखा है या जिसने सुना है वह ज्ञान प्रवाह क्षणिक होनेसे टिक नहीं सकता और उसकी जगह जो दूसरा ज्ञान प्रवाह आता है उसने पूर्वका देखा या सुना नहीं है इससे एकका देखा हुआ दूसरा किस तरह याद कर सके? संसारमें इस प्रकारका नियम है कि जिसने किया हो वही याद रख सकता है और यह नियम सबने मंजूर किया हुआ है।अतः इस प्रकारके दोष बहुत हैं। क्षणिक वादको न मानकर स्थिर वाद मानना यह युक्ति युक्त है । जिस प्रकार मालामें रहे हुये समस्त मनके टिक सकते हैं वैसे ही ये ज्ञानकी धारायें भी सूतके धागेके समान एक आत्मामें पिरोई हुई हो तो ही व्यवस्थित रह सकती हैं और ऐसा माननेसे ही उपरोक्त समस्त दूषण दूर होते हैं । अतः आत्माको क्षणिक न मानकर स्थिर वृत्तिवाला मानना चाहिये और ऐसा मानने बाद

नहीं हो सकता। जो मूर्ख और अज्ञानी हैं उन्हींके लिये प्रचलित हो सकता है। जो मनुष्य अज्ञानी है वह जैसे मूर्ख रोगी कुपथ्य करता है वैसे आत्माके स्नेहके कारण संसारमें जानता हुआ दुःखके मिश्रणवाले सुख साधनोंमें प्रवृत्ति करता है, परन्तु जो ज्ञानी पुरुष है एवं हिताहितका जाननेवाला हैं वह जैसे चतुर रोगी निरंतर पथ्यका सेवन करता है और कुपथ्यका परित्याग करता है वैसे ही अतात्विक सुखके साधन स्त्री पुत्र वगैरहका परित्याग करके आत्माके स्नेहके कारण सर्वथा सुखमय मुक्तिके मार्गमें प्रवृत्ति करता है। इस लिये आत्माके स्नेहके कारण आपने (बौद्धोंने) जो दूषण बतलाया है वह ठीक नहीं है। तथा आपने जो यह कहा है कि "मुक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्यको अनात्मताकी ही भावना करनी चाहिये" यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार सर्वथा नित्यताकी भावना मुक्तिका कारण नहीं हो सकती वैसे ही सर्वथा अनित्यताकी भावना भी सर्वथा मुक्तिका कारण नहीं हो सकती। ऐसी एकान्त नित्यता या एकान्त अनित्यताकी भावना व्यर्थ है, तथा इस प्रकारकी भावना भी एक स्थिर अनुसंधान करनेवाले के सिवाय हो नहीं सकती, अतः यदि आपको मोक्षके सम्बन्धमें बात-चीत करनी हो तो आत्माको एक स्थिर अवश्य मानना चाहिये। तथा जो बन्धा हुआ होता है वही छूट सकता है, इस लिये जो मोक्षको प्राप्त करनेवाला हो उसे स्थिर मानना ही चाहिये। आपके माने हुये क्षणिक वादमें कोई ज्ञान सन्तान बन्धा हुआ है, कोई ज्ञान सन्तान मुक्तिके कारणोंको जानता है और कोई तीसरा ही ज्ञान सन्तान मुक्तिको प्राप्त करता है। इस प्रकारका अव्यवस्थित नियम है। करे कोई और जाने कोई, एवं प्राप्त करनेवाला कोई और ही, इस तरह दोके बीच तीसरा ही खा जाय इस प्रकारका नियम किसीको भी इष्ट नहीं हो सकता। बुद्धिवान् मनुष्य मात्र यह विचार कर प्रवृत्ति करता है कि मेरा कुछ श्रेय हो, परन्तु आपके क्षणिक वादमें समस्त ही क्षणिक होनेसे एवं ज्ञानकी धारायें परस्पर किसी तरहका सम्बन्ध न रखनेवाली होनेके कारण एक भी ज्ञान सन्तान इस तरहका विचार

नहीं कर सकता, और ऐसा होनेसे वह प्रवृत्ति भी किस तरह कर सके? कदाचित् मानलो कि जो ज्ञानकी धारा क्षणिक है तो क्या वह इस तरहका विचार करके अपने कल्याणकी प्रवृत्ति नहीं कर सके? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

वह ज्ञानकी धारा कि जो मात्र एक क्षण ही रहती है सर्वथा विकल्प विहीन होनेसे सब कुछ किस तरह कर सकती है? एक ही क्षणमें पैदा होना, विचार करना और मोक्षके लिये प्रवृत्ति करना, यह सब कुछ बनना सर्वथा असम्भवित है। अब कदाचित् यों मान लिया जाय कि ज्ञानका सन्तान सब कुछ कर सकता है और मुक्तिको भी प्राप्त कर सकता है तो फिर इसमें क्या दूषण आता है? इसका समाधान यह है कि बौद्धलोग क्षणिक ज्ञान धारा और सन्तान इन दोनोंको एक ही मानते हैं, अतः जो दूषण ज्ञानधारा पर आक्रमण करता है वही दूषण यहाँ भी समझ लेना चाहिये। तथा हम (जैन) यह कहते हैं कि जब बौद्ध लोग वस्तु मात्रका स्वभाव क्षण विनाशी मानते हैं तो फिर उन्हें मोक्षके लिये प्रयास करना ही नहीं चाहिये। क्योंकि रागादिके नाशको वे मोक्ष कहते हैं और वह नाश तो अपने आप ही होनेवाला है, अतः क्षणिक वादमें मोक्षके लिये प्रयास करनेकी कोई आवश्यकता मालूम नहीं देती। इससे क्रियाकाण्डकी योजना या आचरण निकम्मी है। यदि चर्चा करनेके लिये यह मान लिया जाय कि मोक्षके वास्ते नियोजित किये हुये क्रियाकाण्ड निकम्मे नहीं हैं, तो हम इस विषयमें निम्न लिखित प्रश्न पूछते हैं

क्या वे क्रियाकाण्ड रागादि क्षणका नाश करते हैं? या अबसे पीछे होनेवाले रागादिको होने नहीं देते? वा रागादिकी शक्तिका क्षय करते हैं? वा सन्तानका उच्छेद करते हैं? किंवा सन्तानको पैदा ही नहीं होने देते? अथवा आश्रवरहित चित्त सन्ततिको पैदा करते हैं? यदि बौद्धोंकी तरफसे यह कहा जाय कि क्रियाकाण्ड रागादि क्षणका नाश करते हैं तो यह कथन अयुक्त है। क्योंकि बौद्धोंके सिद्धान्तमें नाश होना वस्तुका ही स्वभाव होनेसे उस नाशका कोई हेतु कल्पित करना यह अनुचित है। यदि यह कहा

जाय कि वे क्रियाकाण्ड भविष्यमें होनेवाले रागादिका अभाव करते हैं तो यह भी अयुक्त ही है। क्योंकि अभाव किसीसे हो नहीं सकता, वह कुछ मट्टी जैसा पदार्थ नहीं है कि जो बनाया जा सके वा उत्पन्न किया जाय। यदि वे यों कहें कि वे अनुष्ठान रागादिकी शक्तिका नाश करते हैं तो यह भी रागादि क्षणके नाशके अथवा अभावके समान ही अयुक्त और बौद्ध सिद्धान्तसे विरुद्ध है। इसी प्रकार चौथे एवं पांचवें कथनमें भी यही दूषण उपस्थित होता है। तथा आप वास्तविक सन्तान नहीं मानते इससे उसका उच्छेद करनेसे या पैदा न होने देनेसे भी क्या लाभ? क्योंकि वह सन्तान तो मृतक समान ही है और कहीं भी मेरे हुयेको मारना देखनेमें नहीं आता, अतः सन्तानके उच्छेदरुप मोक्ष भी संघटित नहीं हो सकता। कदाचित् आप अन्तमें यों कहें कि वे अनुष्ठान आश्रव रहित चित्त सन्तातिको पैदा करते हैं तो आपकी यह दलील कुछ यथार्थ मानी जाय। परन्तु इस विषयमें भी हमें कुछ थोड़ासा पूछना तो जरूर ही है। हम यह पूछना चाहते हैं कि वह चित्त सन्तति दूसरी चित्तसन्ततिके साथ सम्बन्ध रखती है या नहीं? यदि वह दूसरी चित्त सन्ततिके साथ सम्बन्ध रखनेवाली हो तब तो ठीक ही है और ऐसा होनेपर ही मोक्ष घट सकता है। परन्तु यदि वह चित्त सन्तति दूसरी सन्ततिके साथ सम्बन्ध न रखती हो तो मोक्षका नियम घट नहीं सकता। क्योंकि चित्त सन्ततिको क्षणिक माननेसे प्रथम कथन किये मुजब 'करे कोई और तथा भोगे कोई और' इस तरहका बड़ा भारी दूषण आता है। तथा आपने जो यह कहा था कि कायक्लेश 'तपरुप नहीं हो सकता' यह भी सत्य नहीं है। क्योंकि कायक्लेशमें जो अहिंसाकी प्रधानता होती है वह कर्मके परिणामरुप होनेपर भी तपरुप ही है जो कायक्लेश व्रतसे अविरुद्ध है वह निर्जराका हेतु होनेसे तपरुप माना जाता है।

इस प्रकार तपकी व्याख्या करनेसे नारकियोंके कायक्लेशका तपमें समावेश नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें हिंसादिके आवेशकी प्रधानता होती है, अतः नारकियोंके कायक्लेशके साथ सत्पुरुषों के देह दमनकी समानता करना सर्वथा अनुचित और अयुक्त है।

तथा आपने जो यह फर्माया था कि थोड़े तपमें भी अनेक शक्ति-योंका मिश्रण होनेसे उसीके द्वारा कर्मका क्षय क्यों न हो सके ? यह भी ठीक है क्योंकि मोहका सर्वथा क्षय हुये वाद अन्तिम समयमें अर्थात् अक्रिय अवस्थाके अन्तिम समयमें सर्वथा अल्प शुक्ल ध्यानरुप तप द्वारा समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है। इस वातकी सिद्धिमें जीवन्मुक्ति और परममुक्ति काफी है। परन्तु ऐसे थोड़े तपमें जो कर्मोंका नाश करनेकी शक्ति आती है। उसे प्राप्त करनेमें वहुत कुछ कायक्लेश सहन करना पड़ता है अनेक उपवास करने पड़ते हैं और मरणान्त कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। अतः सव ही तपोंमें कुछ इस प्रकारकी शक्ति नहीं होती। इससे जहाँपर थोड़ासा तप हो वहाँ सर्वत्र कर्मक्षय होनेका दूषण लग नहीं सकता, इसलिये अन्तमें यह मानना चाहिये कि स्थिर रहनेवाली ज्ञानकी धारा (अर्थात् विविध प्रकारके परिणामको प्राप्त करता हुआ भी स्थिर रहनेवाला आत्मा) अनेक तरहके तपके अनुष्ठानसे मोक्षको प्राप्त कर सकता है और उसे ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, और अनन्त सुखमय मोक्ष मिल सकता है।

स्त्री मोक्षवाद

मोक्षके सम्बन्धमें दिगम्बर जैन जिस प्रकारका अभिप्राय रखते हैं वह इस प्रकार है—वे कहते हैं कि श्वेताम्बर जैनोंने मोक्षका जो स्वरूप कथन किया है वह विलकुल सत्य है, परन्तु ऐसा मोक्ष मात्र पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। श्वेताम्बर भी मानते हैं कि इस प्रकारके मोक्षको नपुंसक आत्मा नहीं प्राप्त कर सकते। क्योंकि वे इतने दुर्बल होते हैं कि उनमें ऐसे उच्च स्थानको प्राप्त करनेकी शक्ति नहीं होती। वैसे ही हम भी (दिगंवर) कहते हैं कि स्त्रियाँ बहुत ही दुर्बल होनेसे और नपुंसकोंके समान ही शक्ति विहीन होनेके कारण वे मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकतीं। इस वातका निराकरण श्वेताम्बर जैन इस प्रकार करते हैं—

आप स्त्रियोंको जो दुर्बल कमजोर मानते हैं इसका क्या कारण? क्या उनमें चारित्र आदि गुण नहीं हैं ? क्या उनमें अमुक प्रकारका विशेष बल नहीं है ? क्या उन्हें पुरुष प्रणाम नहीं करते इससे वे कमजोर हैं? क्या वे पढ़ाना वगैरह नहीं करतीं इससे निर्बल हैं? या उनके पास किसी प्रकारकी कोई बड़ी ऋद्धि सिद्धि न होनेसे वे कमजोर हैं ? या उनमें कपट वगैरहकी अधिकता होनेसे वे कमजोर हैं ? । यदि आप यह कहते हैं कि स्त्रियोंमें चारित्र नहीं होता अतएव वे कमजोर हैं तो इसमें भी हमें एक प्रश्न पूछना पड़ता है। उनमें चारित्र न होनेके क्या कारण ? क्या वे वस्त्र रखती हैं इस लिये उनमें चारित्र नहीं होता ? वा उनमें शक्ति नहीं होती इस लिये चारित्र नहीं होता ? यदि आप यह कहें कि वे वस्त्र रखती हैं अतः उनमें चारित्र नहीं होता तो आपकी बात यथार्थ नहीं । क्योंकि वस्त्र रखनेसे चारित्र न हो इसका भी कोई कारण होना चाहिये । क्या वस्त्र रखने मात्रसे ही चारित्र नहीं रहता या वस्त्रका परिग्रह रखनेसे चारित्र नहीं रहता ? हमें यह विचार करना चाहिये कि स्त्रियाँ वस्त्र रखती हैं उसका कारण क्या है ? वे वस्त्रका परित्याग नहीं कर सकतीं इस लिये वस्त्र रखती हैं या संयमकी साधना सुखपूर्वक हो सके इस लिये रखती हैं ? यदि यह कहा जाय कि वे वस्त्रका परित्याग नहीं कर सकतीं इस लिये वस्त्र रखती हैं तो यह बात ठीक नहीं । क्योंकि स्त्रियाँ तो धर्मके लिये प्राणोंतकका भी परित्याग करती हुई देखनेमें आती हैं तो फिर एक चीथड़ेका परित्याग करनेमें वे अशक्त हैं यह किस तरह माना जाय ? यदि यों कहा जाय कि संयमकी साधनाके लिये ही वे वस्त्र धारण करती हैं तो फिर उनमें चारित्र नहीं यह कैसे कहा जाय ? तथा जिस प्रकार स्त्रियाँ संयमकी साधनाके लिये वस्त्रको धारण करती हैं वैसे ही पुरुष भी क्यों न धारण कर सकें? यदि यह कहा जाय कि वे अबला होनेके कारण यदि वस्त्र धारण न करें तो उन पर पुरुषोंकी ओरसे जुल्म होनेका सम्भव है और उनके संयमकी विराधना होनेका भय है एवं पुरुष वस्त्र न धारण करें तो उनके संयममें किसी प्रकारका बाध नहीं आता अतः पुरुषको संयमकी साधना-

के लिये या उसका रक्षण करनेके लिये वस्त्रकी आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु स्त्रियोंको संयम रक्षणके लिये वस्त्र रखने ही पड़ते हैं। अतः वस्त्र रखना भोजनके समान संयमका साधन होनेसे उसकी विद्यमानतामें चारित्रका अभाव किस तरह हो सकता है? यदि यों कहा जाय कि उनके पास वस्त्ररूप परिग्रह होनेसे उनमें चारित्र नहीं होता, तो इस विषयमें भी हमें एक प्रश्न करना पड़ता है कि क्या उन्हें वस्त्रमें मूर्च्छा है कि जिससे वह वस्त्र परिग्रह रूप है? मात्र वे वस्त्रको धारण करती हैं इस लिये वह परिग्रह रूप है? या वे मात्र वस्त्रको स्पर्श करती हैं इस लिये वह परिग्रह रूप है? किंवा उसमें जीवोंकी उत्पत्ति होती है अतः वह परिग्रह रूप है? यदि यों माना जाय कि उन्हें वस्त्रमें मूर्च्छा है अतः वह परिग्रहरूप है तो इस विषयमें हम पूछते हैं कि शरीर मूर्च्छाका कारण है या नहीं? यह तो आप कह ही नहीं सकते कि शरीर मूर्च्छाका कारण नहीं है, क्योंकि यह विशेष दुर्लभ है और अन्तरंग है याने वस्त्रकी अपेक्षा यह अधिक नजीकका सम्बन्धी है। अब यदि शरीरको मूर्च्छाका हेतु माना जाय तो वह किस तरह? यदि शरीर मुर्च्छाका कारण हो तो उसे न छोड़नेका क्या कारण? क्या उसका परित्याग बड़ी मुश्किलसे हो सकता है ऐसा है, या वह मुक्तिका निमित्त है? यदि उसका त्याग बड़ी मुश्किलसे होता है ऐसा हो तो क्या यह नियम सबके लिये समान है या अमुक मनुष्योंके लिये ही है? बहुतसे मनुष्य अग्निमें प्रवेश करके या अन्य किसी प्रकारसे शरीरका भी परित्याग करते हुये मालूम देते हैं, अतः उसका परित्याग करना सभीके लिये मुश्किल है यह कैसे कहा जाय? यदि उसके त्यागकी कठिनता कितने एक मनुष्योंको ही मालूम देती हो तो शरीरके ही समान वस्त्रोंका भी परित्याग करना कितने एक मनुष्योंके लिये मुश्किल है यह भी माना जा सकता है। यदि यों कहा जाय कि शरीर मुक्तिका निमित्त है अतः इसका त्याग नहीं हो सकता, तो शरीरके ही समान वस्त्र भी बहुतसी कर्मक्रियाओंमें कारणरूप होनेसे उस प्रकारके कितने एक शक्ति रहित मनुष्योंके लिये उपयोगी है ऐसा क्यों न

माना जाय? यदि आप यह कहेंगे कि वस्त्रको स्पर्श करने मात्रसे ही वह परिग्रहरूप हो जाता है तो यह कथन ठीक नहीं है। यदि ऐसा ही हो तो सक्त ठंडीमें ध्यान धरते हुए किसी साधुको देखकर आज बड़ी ठंडी पड़ती है ऐसा समझकर कोई भक्तजन उस साधुको कुछ कपड़ा ओढ़ा दे तो वह निस्पृही साधु भी परिग्रहवाला होना चाहिये। यदि वस्त्रको स्पर्श करने मात्रसे ही वह परिग्रहरूप हो जाता हो तो निरन्तर जमीनपर चलनेसे वह भी परिग्रहरूप होनी चाहिये और यदि ऐसा हो तो तीर्थंकर वगैरहका मोक्ष किस तरह हो सकेगा? कदाचित् यह कहा जाय कि वस्त्रमें जीवकी उत्पत्ति होती है अतः वह परिग्रहरूप है तो फिर शरीरमें दूसरे जीवोंकी याने कृमि कीट वगैरहकी उत्पत्ति होती है अतः शरीरको भी परिग्रहरूप मानना चाहिये। कदाचित् यों कहा जाय कि शरीरमें अन्य जीवोंकी उत्पत्ति होती है यह बात सही है परन्तु उनकी यतना की जाती होनेके कारण शरीर परिग्रहरूप नहीं माना जा सकता, तो फिर वस्त्रमें भी उत्पन्न होते हुये जूं वगैरह जीवोंकी यतना की जाती होनेके कारण तथा उस वस्त्रको यतनापूर्वक सीने एवं धोनेसे जीवकी उत्पत्ति मिट जाती है, इसलिये उसे भी शरीरके समान ही अपरिग्रहरूप मानना चाहिये। इसलिये वस्त्र होनेपर भी चारित्रको किसी प्रकारका बाध न आनेके कारण वस्त्रकी विद्यमानताके साथ चारित्रकी विद्यमानता माननेमें कोई दूषण मालूम नहीं देता। यदि आप यह कहेंगे कि स्त्रियोंमें शक्ति नहीं है अतः वे चारित्रको नहीं पाल सकतीं, तो आपका यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि अनेक स्त्रियाँ ऐसी हैं कि जो कठिनसे कठिन व्रत पाल सकती हैं और कठिनसे कठिन तप तप सकती हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें चारित्र पालन करनेकी शक्ति नहीं। अर्थात् स्त्रियोंमें चारित्र नहीं होता इसलिये वे मोक्ष प्राप्त करनेमें योग्य नहीं हो सकतीं यह कथन सर्वथा असत्य है। यदि आप यों कहें कि स्त्रियोंमें चारित्र भले ही हो परन्तु उनमें सर्वोच्च-यथाख्यात नामक चारित्र नहीं होता इसीसे वे पुरुषसे हीन होती हैं। इस विषयमें

हम यह पूछ सकते हैं कि उनमें जो सर्वोच्च यथाख्यात नामक चारित्र नहीं उसका क्या कारण है ? क्या स्त्रियोंके पास उस प्रकारका चारित्र प्राप्त करनेकी सामग्री नहीं है ? या उस चारित्रके साथ स्त्रियोंका विरोध है ? उस प्रकारका उच्च चारित्र प्राप्त करनेका कारण एक तरहका उनका अभ्यास है और वह अभ्यास (तप तपना और व्रत पालन करना) स्त्रियोंमें भी है ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं अतः उस प्रकारका चारित्र प्राप्त करनेकी सामग्री स्त्रियोंके पास नहीं है यह कथन सर्वथा असत्य है। यदि आप यों कहेंगे कि उस तरहके उच्च चारित्रके साथ स्त्रियोंका विरोध है तो यह कथन भी अनुचित है, क्योंकि वह यथाख्यात नामक चारित्र हमारे जैसे नवीन मनुष्योंकी बुद्धिमें नहीं आ सकता, अतः उसके साथ स्त्रियोंका विरोध है यह किस तरह जाना जाय ? अर्थात् चारित्र न होनेसे स्त्रियाँ हीन हैं यह बात सर्वथा असत्य है। यदि यों कहा जाय कि स्त्रियोंमें अमुक तरहका विशेष बल नहीं है, तो वह बल किस प्रकारका नहीं ? यह भी बतलाना चाहिये। क्या स्त्रियोंमें सातवीं नरकमें जानेकी शक्ति नहीं यह ? या स्त्रियाँ वाद वगैरह नहीं कर सकतीं यह ? वा स्त्रियाँ कम पढ़ी हुई होती हैं यह ? इन तीनोंमेंसे यदि प्रथम पक्षको मंजूर किया जाय तो हम यह पूछते हैं कि सातवीं नरकमें जानेका सामर्थ्य स्त्रियोंमें कब होना चाहिये ?—जिस जन्ममें मोक्षमें जाना हो उसी जन्ममें होना चाहिये या चाहे जब होना चाहिये ? यदि यह कहा जाय कि जिस जन्ममें मोक्ष जाना हो उसी जन्ममें वह सामर्थ्य होना चाहिये। तो फिर पुरुषोंका भी मोक्ष न होना चाहिये, क्योंकि पुरुषोंमें भी जिस जन्ममें मुक्ति प्राप्त करनेकी हो उसी जन्ममें सातवीं नरकमें जानेका सामर्थ्य नहीं होता। अतः एक ही जन्ममें मोक्ष और सातवीं नरकमें जानेके सामर्थ्यका होना मानना यह युक्तियुक्त नहीं। अब यदि यों कहा जाय कि कभी भी सातवीं नरकमें जानेका सामर्थ्य होना चाहिये, अर्थात् उच्चमें उच्च स्थानकी प्राप्ति उच्चमें उच्च परिणाम द्वारा हो सकती है और उसमें उच्चमें उच्च दो स्थान हैं। एक तो तमाम दुःखोंका स्थान

सातवीं नरक और दूसरा समस्त सुखोंका स्थान मोक्ष । जिस प्रकार स्त्रियाँ इस तरहकी उच्च मनोबलकी त्रुटिके लिये सातवीं नरकको नहीं जा सकतीं ऐसा आगममें कहा है वैसे ही उसी प्रकारके उच्च परन्तु शुभ मनोबलकी त्रुटिके कारण मोक्षको किस प्रकार प्राप्त कर सकें ? । आपका यह कथन भी निःसार ही मालूम होता है । क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं कि जिसमें उच्चमें उच्च अशुभ परिणाम हो उसीमें उच्चमें उच्च शुभ परिणाम भी हो । यदि ऐसा नियम होता तो जो मनुष्य जिस भवमें मोक्षमें जानेवाला है उसी भवमें उसमें उच्चमें उच्च अशुभ परिणाम होनेसे उस चरम देहवालेका मोक्ष किस तरह हो सके ? मनुष्योंमें उच्चसे उच्च अशुभ परिणाम होनेसे वे उसी भवमें मोक्ष नहीं जा सकते । तथा जिन जीवोंकी नीच गतियोंमें जानेकी शक्ति कम होती है उन्हीं जीवोंमें उच्च गतियोंमें जानेकी शक्ति कुछ कम नहीं होती ।

देखिये कि भुजपरि सर्व दूसरी ही नारकीतक जा सकते हैं इससे आगे नीच गतिमें जा नहीं सकते, तथापि ऊपर उच्च गतिमें सहस्रार देवलोकतक पहुंच जाते हैं, वैसे ही पक्षी नीचे तीसरी नारकीतक, चतुष्पद पशु नीचे चौथी नारकीतक और सर्प नीचे पांचवीं नारकी तक जा सकते हैं । इसप्रकार अशुभ परिणामसे भी ये अमुक अमुक हदवाली नीच गतियोंमें जा सकते हैं । परन्तु ये सब ही ऊंच गतिमें तो सहस्रार देवलोक तक पहुँच सकते हैं। अतः जितने अशुभ परिणाम हों उतने ही शुभ परिणाम होने चाहियें ऐसा कोई नियम नहीं, ऐसा होनेसे स्त्रियोंमें सातवीं नरक तक जानेका अशुभ परिणाम बल न होनेपर भी वे अच्छी तरह मोक्षको प्राप्त कर सकती हैं, इसमें किसी भी प्रकारकी शंका उपस्थित नहीं हो सकती । यदि आप यों कहें कि स्त्रियोंमें वाद करनेकी शक्ति नहीं और उनमें ज्ञान बहुत कम होता है इससे वे मोक्षके लायक नहीं, तो यह कथन भी अनुचित है । क्योंकि जो गूंगे (जबान रहित) केवल ज्ञानी होते हैं उन्होंमें वाद करनेकी शक्ति न होनेपर भी वे मोक्ष प्राप्त करते हैं और जो मास्तुस वगैरह मुनि सर्वथा अपठित जैसे ही थे वे भी मोक्षको पा चुके हैं अतः स्त्रियोंमें वाद करनेकी शक्ति न हो और

उनमें ज्ञान कम हो तथापि उन्हें मोक्ष प्राप्त करनेमें कोई बाध नहीं आता। अतः स्त्रियोंमें अमुक प्रकारका विशेष बल नहीं इससे वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं यह कथन भी यथार्थ नहीं। अब यदि आप यह कहेंगे कि उन्हें पुरुष प्रणाम नहीं करते अतः वे हीन हैं। यह कथन भी असत्य है, क्योंकि तीर्थंकरों की माताओंको इंद्र तक पूजते और नमस्कार करते हैं। अतः स्त्रियाँ हीन कैसे कही जा सकती हैं? यों तो गणधरोंको तीर्थंकर नमस्कार नहीं करते अतः गणधरोंकी हीनताके लिये उनका भी स्त्रियोंके समान ही मोक्ष न होना चाहिये। तथा तीर्थंकर चारों प्रकारके संघको कि जिसमें स्त्रियाँ भी आ जाती हैं नमस्कार करनेवाले होनेसे उन्होंकी हीनता किस तरह मानी जाय? यदि आप यह कहेंगे कि स्त्रियाँ किसीको पढ़ा नहीं सकतीं इससे वे मोक्षके योग्य नहीं हैं, तो यह कथन भी आपका सरासर असत्य ही है। क्योंकि यदि ऐसा ही हो तो किसी पढ़नेवालेका तो मोक्ष ही न होना चाहिये और मात्र पढ़ानेवाले ही मोक्षमें पहुँच जाने चाहियें। अर्थात् आचार्योंका ही मोक्ष होना चाहिये और शिष्यको तो संसारमें ही लटकते रहना चाहिये। यदि आप यह कहेंगे कि स्त्रियोंके पास किसी प्रकारकी ऋद्धि सिद्धि नहीं इसीसे वे मोक्षके लायक नहीं हैं, तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि बड़ी ऋद्धिवालेका ही मोक्ष हो ऐसा कुछ नियम नहीं। कितने एक दरिद्री भी मोक्षको प्राप्त कर चुके हैं और कितने एक बड़ेसे बड़े ऋद्धि सिद्धि वाले चक्रवर्ती भी मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं। यदि अन्तमें यह कहेंगे कि स्त्रियोंमें कपट वगैरह अधिक होता है अत एव वे मोक्षके लायक नहीं, तो यह कथन भी आपका असत्य ही है। क्योंकि नारद ऋषि जैसे खटपटी और दूसरोंको लड़ा मारनेवाले तथापि दृढ़ प्रहारी जैसे महाघातकी पुरुष भी मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं तो फिर स्त्रियोंमें कपटकी अधिकता होनेसे उन्हें हीन समझ कर मोक्षके अयोग्य मानना यह सर्वथा असत्य है। इस प्रकार किसी भी तरह स्त्रियोंकी हीनता साबित नहीं हो सकती और इसीसे वे मोक्षके अयोग्य भी नहीं हो सकतीं। अतः जिस प्रकार

पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य माना जाता है वैसे ही स्त्रियोंको भी मोक्षके योग्य मानना सर्वथा सत्य और युक्तियुक्त है । स्त्रियाँ भी मोक्षके कारणोंको सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, और सम्यक्-चारित्रको संपूर्ण रीतिसे प्राप्त करनेकी शक्तिवाली होनेसे पुरुषोंके समान ही उन्हें भी मोक्ष संघटित हो सकता है और वे भी अजर, अमर, हो सकती हैं । इस प्रकार मोक्षतत्त्वका विवेचन है । कितने एक जो यह मानते हैं कि 'धर्मरुप आरोंको बाँधनेवाले ज्ञानी मोक्ष पद तक पहुँच कर भी लोगोंमें अपने स्थापन किये हुये धर्म की अवगणना होती हुई देखकर फिरसे संसारमें अवतार धारण करते हैं । यह बात सर्वथा असत्य है। क्योंकि मोक्ष यह एक अमर स्थान है वहाँपर पहुँचे बाद किसीका जन्म, मरण, या रोग, शोक, रह नहीं सकता, अतएव उपरोक्त मान्यता भूल भरी है ।

जो अडोल मनवाला मनुष्य उपरोक्त नव तत्वों पर श्रद्धा रखता है वह सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानका भाजन बनता है और उसके द्वारा ही वह सच्चारित्रको प्राप्त करनेके लायक होता है।

ऊपर बतलाये हुये नव ही तत्वोंको जो स्थिर मनवाला मनुष्य किसी प्रकारकी शंका वगैरह किये बिना ही जानता है और श्रद्धा पूर्वक उन्हें सत्य मानता है उसे सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञानका योग होनेसे सम्यक् चारित्र भी प्राप्त हो सकता है । जो मनुष्य उपरोक्त नव ही तत्वोंको जानता हो परन्तु उन्हें श्रद्धापूर्वक सत्य न मानता हो उसे मिथ्या दर्शनवाला ही मानना चाहिये । इस विषयमें श्री गन्धहस्तीजीने महातर्क ग्रन्थमें इस प्रकार वर्णन किया है—" जो इन नव तत्वोंको श्रद्धापूर्वक सत्य न मानता हो उसके लिये बारह अंग भी मिथ्या-असत्य हैं " । चारित्रका अर्थ पापकी प्रवृत्तिसे रुकना होता है । और वह दो प्रकारका है-एक तो सर्व पापोंसे रुकने रुप, और दूसरा थोड़े पापोंसे रुकने रुप । जिस मनुष्यने उपरोक्त सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया है वह दोनों प्रकारके चारित्रको प्राप्त करनेके लायक होता है । ज्ञानसे भी सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) अधिक महत्वका होनेके कारण उसे ज्ञानसे पहले रक्खा गया है और इसपरसे यह भी समझ लेना

चाहिये कि जहाँपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो वहाँ ही सम्यक्चारित्र हो सकता है। तथाप्रकारके भव्यत्वका परिपाक होनेपर जिस मनुष्यको ये तीनों याने सम्यग्दर्शन्, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त होते हैं वह मनुष्य सम्यग्ज्ञान और क्रियाके योगसे मोक्षका भाजन हो सकता है।

जीवके दो प्रकार हैं। एक भव्य और दूसरा अभव्य। जो जीव अभव्य हैं उन्हें सम्यक्त्वादिकी प्राप्ति नहीं होती और जो जीव भव्य हैं उन्हें भी जबतक उनका भव्यत्व परिपक्कताको प्राप्त नहीं होता तबतक सम्यक्त्वादि नहीं होता। उनका भव्यत्व परिपक्क होनेपर उनमें सम्यक्त्व वगैरह तीनों ही गुण होते हैं। भव्य याने सिद्धि गति प्राप्त करनेके योग्य आत्मा। मोक्ष प्राप्त करनेकी योग्यताको भव्यत्व कहते हैं। वह भव्यत्व जीवोंका एक परिणाम विशेष है और वह अनादिकालीन है। भव्यत्व शब्दका अर्थ इस प्रकार है—भव्यत्व तो भव्य जीवमात्रमें रहा हुआ है, परन्तु उसमें द्रव्य क्षेत्र काल और गुरु वगैरहकी सामग्रीके कारण अनेक प्रकारकी भिन्न भिन्न शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है और ऐसा होनेसे ही उसके एकके भी अनेक भेद हो जाते हैं। यदि वह भव्य जीवमात्रमें रहा हुआ भव्यत्व एक ही समान शक्ति धारण करता हो तो फिर प्रत्येक भव्य जीव एक ही समय—एक साथ ही धर्म प्राप्त कर सकते हैं ऐसा होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता हुआ मालूम नहीं देता, अतः भव्य जीव मात्रमें भिन्न २ शक्ति धारण करनेवाला भिन्न२भव्यत्व मानना यह उचित ही मालूम होता है। जैसे आम्र अमुक समय ही मीठा रस चखा सकता है वैसे ही भव्य जीवमें रहा हुआ भव्यत्व भी अमुक समयपर ही अपना वास्तविक रस चखा सकता है। अर्थात् वह भव्यत्व जिस वक्त परिपक्कताको प्राप्त होता है उस वक्त ही अपना फल देनेके लिये तयार हो सकता है। जिस किसी मनुष्यके कर्मोंकी अवधि एक करोड़ सागरोपमके भीतर आगई हो वैसे भव्य मनुष्यको ये तीनों वस्तुयें—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, और सम्यक् चारित्र होते हैं और वैसा ही मनुष्य ज्ञान, दर्शन, चारित्रके सहवाससे

मोक्षके याने अनन्तज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, सुख और वीर्यरूप मोक्षके योग्य होता है, एवं वह सर्वथा बन्धरहित स्थितिका पात्र बनता है। एकले ज्ञान या एकली क्रियासे मोक्षके लायक नहीं बन सकता, परन्तु ज्ञान और क्रिया ये दोनों ही साथमें हों तब ही मोक्षप्राप्तिकी योग्यता आ सकती है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग् दर्शन ये दोनों साथमें रहनेके कारण, याने जहाँ सम्यग्ज्ञान हो वहाँपर निश्चित सम्यग्दर्शन रहनेसे यहाँपर सम्यग्ज्ञानके भाव-में सम्यग्दर्शनको भी समझलेना चाहिये। क्योंकि वाचक मुख्य श्री उमास्वातिजीने तत्वार्थसूत्रमें[1] सबसे पहिले कहा है कि "सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र, यह मोक्ष मार्ग है"।

प्रमाणवाद

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विशेष स्वरूप ग्रन्थकार अपने आप ही स्पष्टतया कथन करेंगे। विशेष स्वरूप सामान्य स्वरूप विना और सामान्य स्वरूप विशेष स्वरूप विना रह नहीं सकता, इस प्रकारका उन दोनोंमें घनिष्ट सम्बन्ध है और उस विशेष स्वरूपका ज्ञान सामान्य स्वरुप जाने विना यथार्थ रीतिसे नहीं होता अतः उस विशेष स्वरूपको बतलानेके पहले यहाँपर प्रमाणका सामान्य लक्षण बतलाया जाता है और वह इस प्रकार है—

अपने और दूसरेके स्वरुपका याने वस्तुमात्रके स्वरुपका निश्चय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं-शंका, भ्रम, और अनिश्चय ये तीन बातें प्रमाणरुप ज्ञानमें हो नहीं सकतीं। ये प्रमाण ज्ञानके चिन्ह हैं। वस्तुका सर्वथा सामान्य ज्ञान अर्थात् 'वह कुछ है' इससे भी अधिक अस्पष्ट ज्ञान जिसका दूसरा नाम जैन परिभाषामें 'दर्शन' है, वह किसी प्रकारका व्यवहारी निश्चय मालूम करानेवाला न होनेसे प्रमाणरूप नहीं। वैसे ही पदार्थ और इन्द्रियोंका सम्बन्ध जो ज्ञानरुप नहीं है वह भी प्रमाणरुप नहीं माना

1 देखिये—तत्वार्थ सूत्रके प्रथम अध्यायका प्रथम सूत्र

जाता। क्योंकि निश्चय करानेवाले ज्ञानको ही प्रमाणरूप कहा गया है। जो ज्ञान किसी प्रकारके विकल्पसे रहित है अर्थात् बालकके समान ज्ञान, और शंका, भ्रम तथा अनिश्चय ये सब ही किसी प्रकारका निश्चय न करानेवाले होनेसे प्रमाणरूप नहीं हैं। क्योंकि निश्चय करानेवाले ज्ञानको ही प्रमाणरूप कहा गया है। जो ज्ञान बाहरके पदार्थके साथ सम्बन्ध रखनेवाला किसी प्रकारके निश्चयको न कराता हो वह भी प्रमाणरूप नहीं, क्योंकि यहाँपर अपने आपके और दूसरेके स्वरूपका निश्चय करानेवाला ही ज्ञान प्रमाणरूप माना गया है। जो ज्ञान मात्र दूसरेके ही निश्चयको मालूम कराता है और स्वयं अपने आप ही अपना स्वरुप नहीं जान सकता वह भी प्रमाणरूप नहीं है। क्योंकि यहाँपर तो दोनोंके (अपने और परके) स्वरुपका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाणतया स्वीकृत किया गया है। "अर्थकी उपलब्धिमें जो हेतुभूत हो उसका नाम प्रमाण" यह और ऐसे ही दूसरे भी प्रमाणके बहुतसे लक्षण बराबर नहीं हैं, अतएव एक निर्दोष लक्षण ऊपर कथन किये मुजब बतलाया है। संशय और भ्रम वगैरह संशय रूपमें और भ्रम रुपमें सत्य होनेसे उनका भी यहाँपर प्रमाणमें समावेश किया जायगा। क्योंकि स्व पर व्यवसायीका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी होता है—अपने योग्य ऐसा जो परःपदार्थ उसका निश्चय करानेवाला ज्ञान वह प्रमाणरूप है, इस अर्थमें चाहे जैसे ज्ञानमात्रका समावेश हो सकता है। अब प्रमाणकी संख्या और उसके द्वारा मालूम होते हुए विषयोंको बतलाते हैं और उसीमें प्रमाणको विशेष बतलाया जायगा—

प्रमाण दो हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इन प्रमाणोंके द्वारा अनन्त धर्मवाली वस्तु जानी जा सकती है।

प्रत्यक्ष शब्दके दो अर्थ हैं और वे इस प्रकार—अक्ष याने इन्द्रिय अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा हो उसका नाम प्रत्यक्ष, यह तो प्रत्यक्ष शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ है। परन्तु इसका शास्त्रमें प्रसिद्ध अर्थ दूसरा है और वह इस तरह लिखा है—जो ज्ञान प्रत्यक्ष है उसे

शास्त्रमें प्रत्यक्ष कहा है, प्रत्यक्ष शब्दके इस प्रकारके विशाल अर्थमें जो ज्ञान इन्द्रिय सिवाय भी स्पष्टतया हुआ हो वह भी समा जाता है। अथवा अर्थ याने जीव अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायता विना मात्र जीव द्वारा होता है उसका नाम भी प्रत्यक्ष है और यह प्रत्यक्ष शब्दका दूसरा अर्थ है।

परोक्ष शब्दका अर्थ इस प्रकार है-जो ज्ञान इन्द्रियोंसे पर हो अर्थात् इन्द्रियोंके विना मात्र मनके द्वारा ही होनेवाला हो और अस्पष्ट हो उसे परोक्ष कहते हैं। ये दोनों ही प्रमाण अपनी २ मर्यादामें एक समान है परन्तु एक ऊंचा और दूसरा नीचा ऐसा नहीं। कितने एक लोग यह मानते हैं कि " अनुमान प्रमाणको सबले प्रत्यक्ष प्रमाणकी आवश्यकता पड़नेके कारण वह हलका है और प्रत्यक्ष प्रमाण वड़ा है " परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है। क्योंकि इन दोनों प्रमाणोंमेंसे एकमें भी न्यूनाधिक सत्यता नहीं है, दोनोंमें एक समान ही सत्यता है। ' देखो! मृग दौड़ता है ' इस वाक्यके द्वारा होते हुए पत्यक्ष ज्ञानका कारण परोक्ष प्रमाण है, अतः ऐसे अन्य भी कितने ही स्थानोंमें प्रत्यक्ष ज्ञानको परोक्ष प्रमाणकी आवश्यकता पड़नेके कारण परोक्ष प्रमाणको भी वड़ा गिनना चाहिये। तथा कुछ ऐसा एकान्त नियम नहीं कि सब जगह परोक्ष प्रमाणको प्रत्यक्ष प्रमाणकी गरज पड़ा ही करे। कहीं कहीं पर तो प्रत्यक्ष ज्ञानको परोक्ष ज्ञानकी भी गरज पड़ती हुई देखनेमें आती है। जैसे कि जीवका प्रत्यक्ष ज्ञान श्वासोच्छ्वास आदि चिन्हांको देखकर अनुमान द्वारा ही हो सकता है। जिस वक्त कोई मनुष्य चार पाइ पर पड़ा हो और मृत्युके निकट ही पहुँचा हुआ हो उस वक्त उसमें ' जीव है या नहीं! ' इस बातको जाननेके लिये वारंवार उसका श्वासोच्छ्वास देखना पड़ता है। इस प्रकारका लोकव्यवहार सर्वप्रतीत है और इस व्यवहारमें स्पष्टतया जीवकी विद्यमानताको जाननेके लिये अनुमान प्रमाणकी गरज रखनी पड़ती है।

तात्पर्य यह है कि इन दोनों प्रमाणोंमें एक जेष्ठ और दूसरा कनिष्ट ऐसा कुछ नहीं है परन्तु वे दोनों अपनी अपनी हदमें जेष्ठ

ही हैं और इन दोनोंमें एक समान ही सत्यता रही हुई है। कितने एक मनुष्य इन दो प्रमाणोंके उपरान्त अधिक प्रमाण भी मानते हैं। उनमेंके जो प्रमाण यथार्थ प्रमाणरूप हों उन्हें विचार पूर्वक प्रत्यक्ष और परोक्षमें समा देना चाहिये। और जो प्रमाण तथाप्रकारके यथार्थ प्रमाणरूप न हों और मीमांसक मतवालोंके माने हुये अभाव प्रमाण जैसे असद्रूप हों उनकी ओर दुर्लक्ष करना चाहिये। कितने एक मनुष्य प्रमाणोंकी संख्या कथन करते हुये उनकी गिनती इस प्रकार करते हैं— १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ आगम, ४ उपमान, ५ अर्थापत्ति, ६ अभाव, ७ सम्भव, ८ ऐतिह्य, ९ प्रतिभ, १० युक्ति, और ११ अनुपलब्धि। इन ग्यारह प्रमाणोंमें आये हुए अनुमान और आगम ये दो प्रमाण एक प्रकारके परोक्ष प्रमाण ही हैं। उपमान प्रमाणको नैयायिक मानते हैं और उसका स्वरूप इस प्रकार है—एक सेठने अपने नौकरको कहा कि रामू! 'गवयको ले आ' अब विचारा वह रामू गवय शब्दके अर्थको तो जानता ही नहीं, तथापि सेठकी आज्ञासे उसे लेनेके लिये घरसे बाहर निकला और रास्ते चलते ही उसने किसी गड़रियेसे पूछा कि भाई! गवय कैसा होता है? गड़रियेने उत्तर दिया कि जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है, इस प्रकार गड़रियेके कहनेसे अब वह रामू गवयके अर्थको समझा और जंगलमें गायके समान फिरते हुए किसी प्राणीको गवय समझकर सेठके पास ले आया। इस प्रकारके ज्ञानका नाम उपमान प्रमाण है, अर्थात् जो ज्ञान फक्त किसीने बतलाई हुई समानता द्वारा ही होता हो उसका नाम उपमान प्रमाण है। उस उपमान प्रमाणमें दूसरेका कहा हुआ याद रखना पड़ता है और उसके द्वारा ही वस्तुका ज्ञान हो सकता है। उपमान प्रमाणका इस प्रकारका स्वरूप नैयायिक मानते हैं। मीमांसक मतवाले उसका स्वरूप दूसरा ही कथन करते हैं और वह इस तरह है—

जिस मनुष्यने गवयको नहीं देखा और जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है ऐसा वाक्य भी जिसने कभी नहीं सुना वह मनुष्य एक दफा जंगलमें गया और वहाँपर

उसके प्रथम ही देखनेमें गवय आया। अब उस गवयको देख कर उसके मनमें यह विचार पैदा हुआ कि मेरी देखी हुई गाय इस पशुके समान मालूम होती है। अथवा मेरी देखी हुई गायके साथ यह पशु मिलता जुलता है, इस प्रकारके ज्ञानको मीमांसक मत-वाले उपमान प्रमाण कहते हैं। अर्थात् इस दूसरे उपमान प्रमा-णमें गवयका प्रत्यक्ष ज्ञान हुए बाद परोक्ष गायका स्मरण करना पड़ता है और ऐसा करके उस गायमें गवयकी समानताको आरो-पित करना पड़ता है। यह गवय गायके समान है अथवा वह गाय इस गवयके समान है, इन दोनों ज्ञानका उपमान प्रमाण 'प्रत्यभिज्ञा' नामक ज्ञानमें समा जाता है। वह प्रत्यभिज्ञा भी एक प्रकारका परोक्ष प्रमाण है। अर्थात् उपमान प्रमाण एक तर-हका परोक्ष ज्ञान है। अर्थापत्ति प्रमाणका स्वरूप इस तरह है-जैसे कि एक मनुष्य दिनमें भोजन न करता हो और शरीरसे हृष्ट पुष्ट हो तो हमें यह कल्पना करनी पड़ेगी कि वह मनुष्य रातको जरूर खाता होगा, इस प्रमाणमें भी किसी प्रमाण द्वारा निश्चित की गई हकीकतसे उस दूसरी हकीकतको कल्पित करना पड़ता है, जिस प्रमाणके द्वारा निश्चित हुई बातका कुछ खास कारण होता है,—जिसके विना प्रमाणसे निश्चित हुई बात सम्भवित नहीं हो सकती। यह स्वरूप अर्थापत्ति प्रमाणका है और यह देखकर वह अनुमानसे जुदी नहीं पड़ सकती अतः उसका समावेश परोक्ष प्रमाणरुप अनुमानमें ही किया जाता है। जो लोग अभावको भी प्रमाणरुप मानते हैं उन्हें हम यह पूछते हैं कि अभाव प्रमाणका क्या स्वरूप है? पांचों प्रमाणोंका अभाव यह अभाव प्रमाणरूप है? उसका दूसरा ज्ञान अभावप्रमाण है? या ज्ञान रहित आत्मा यह अभाव प्रमाण है? यदि इन पांचों प्रमाणोंके अभावको अभाव प्रमाणरुप माना जाय तो ठीक नहीं है। क्योंकि अभाव असद्रूप होनेसे तुच्छ वस्तु है और ऐसा होनेसे वह वस्तु है अतः कदापि अवस्तु ज्ञानका निमित्त नहीं हो सकती, इसलिये अवस्तुरूप अभावको प्रमाण मानकर उसे ज्ञानका कारण कहना यह उचित नहीं है। 'वह स्थान घट रहित है' यदि इस प्रकारके बोधको

अभावप्रमाणमें गिना जाय तो यह भी यथार्थ नहीं, क्योंकि ऐसा बोध प्रत्यक्षरूप होनेके कारण उसका समावेश प्रत्यक्ष प्रमाणमें ही हो जाता है, अतः अभाव प्रमाणको जुदा कल्पित करनेकी आवश्यकता मालूम नहीं देती। 'वह स्थान घटरहित है यह ज्ञान जैसे प्रत्यक्षरूप है वैसे ही कहीं पर ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे भी हो सकता है। जहाँ जहाँ पर अग्नि न हो वहाँ सर्वत्र धूम्र भी नहीं हो सकता, इस प्रकारका अभावज्ञान तर्क द्वारा भी हो सकता है। वहाँपर धूम्र नहीं क्योंकि अग्नि नहीं है, इस प्रकारका-अभावज्ञान अनुमान द्वारा भी हो सकता है। 'घरमें देवदत्त नहीं है' इस प्रकारका अभावज्ञान किसीके कहनेसे याने वचनसे भी हो सकता है। इस तरह जुदे जुदे प्रकारसे अभावज्ञानका समावेश जुदे २ प्रमाणमें हो जानेके कारण उसे एक जुदे प्रमाणरूपसे कल्पित करना सर्वथा व्यर्थ है। अब यदि यों कहा जाय कि ज्ञानरहित आत्मा अर्थात् जहाँपर आत्माको किसी प्रकारका ज्ञान न हो वैसी स्थितिका नाम अभाव प्रमाण है, तो यह बात भी अनुचित है। क्योंकि यदि आत्मामें ज्ञान न होता हो तो फिर वह अभावको भी किस तरह जान सके? या बतला सके? आत्मा यह तो जानता ही है कि यह स्थान घटरहित है अतः इस प्रकारके अभाव ज्ञानवाले आत्माको ज्ञानरहित कैसे कहा जाय? इसलिये किसी तरह भी आत्माके अभाव प्रमाणके स्वरूपको स्थान नहीं मिलता, इससे उसे जुदे प्रमाणरूपमें कल्पित करना सर्वथा अनुचित मालूम देता है। अब सम्भव प्रमाणका स्वरूप कथन करते हैं- इतने मनुष्य इस कमरेमें समा सकेंगे, सम्भव है कि इस दौनेमें भरी हुई जलेबियाँ रामचंद्र खा सकेगा, सम्भव है कि इस घटमें भरा हुआ रस उस बर्तनमें आ जाय, इस प्रकारके अटकल पच्चू ज्ञानको सम्भव प्रमाण कहते हैं। यदि वास्तविक रीतिसे विचार किया जाय तो ऐसे अटकलपच्चू ज्ञान अनुमानमें ही समा जाते हैं, अतः सम्भव प्रमाणको परोक्षप्रमाणरूप अनुमानसे जुदा कल्पित करनेकी आवश्यकता ही नहीं। ऐतिह्य प्रमाणका स्वरूप इस प्रकार है-पहले वृद्ध मनुष्य यों कहते थे कि इस बड़के पेड़पर भूत

रहता है, इस तरहके बोधका नाम ऐतिह्यप्रमाण है। यदि यह बात किसी प्रामाणिक पुरुषने कही हो तो यह आप्त वाक्यरूप होनेसे परोक्षके प्रकाररूप आगमप्रमाणमें समा जाता है। यदि वह एक प्रकारकी असत्य गप्प ही हो तो अप्रमाणरूप है। इस तरह जो ऐतिह्य सत्य है वह परोक्ष प्रमाणमें समा सकता है और जो असत्य है वह प्रमाणरूप ही नहीं, अतः ऐतिह्य प्रमाणको भी जुदा गिननेकी जरूरत नहीं। प्रातिभ प्रमाणका स्वरूप इस प्रकार है—जो ज्ञान खास कारण या किसी चिन्हके विना ही कभी कभी अकस्मात् उत्पन्न होता है उसका नाम प्रातिभ--(प्रतिभा द्वारा होनेवाला) ज्ञान है। जैसे कि किसीको सुबह उठते ही यह मालूम हो कि आज तो मुझपर राजा प्रसन्न होगा, इस प्रकारके ज्ञानको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मात्र मनके द्वारा ही होता है, इसमें इन्द्रियाँ या ऐसा ही और भी कोई निमित्तरूप नहीं होता और यह ज्ञान स्पष्टतया होता है, अतः इसका समावेश भी प्रत्यक्ष प्रमाणमें हो सकता है। इस लिये इसे भी भिन्न कल्पित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। तथा जो प्रातिभ ज्ञान मानासिक प्रसन्नता और मानसिक उद्वेगसे होता है, अर्थात् आज तो स्वाभाविक ही मन विशेष प्रसन्न है इससे जरुर कुछ न कुछ लाभ होना चाहिये, अथवा आज तो निष्कारण ही मनमें उच्चाटन हुआ करता है अतः कुछ जरुर विघ्न होना चाहिये, इस प्रकारका प्रातिभज्ञान कार्यकारण ज्ञानके समान होनेसे स्पष्ट ही अनुमानरुप है। जैसे किसी जगह बहुतसी चींटियाँ देखकर यह कहा जाय कि अब वृष्टि होगी, यह ज्ञान अस्पष्ट है और अनुमानरूप है वैसे ही वह प्रातिभ ज्ञान भी अस्पष्ट और अनुमानरूप ही है। इसी प्रकार युक्तिप्रमाण और अनुपलब्धि प्रमाणका भी प्रत्यक्ष और परोक्षमेंसे चाहे जिस प्रमाणमें समावेश करना चाहिये। उपरोक्त ग्यारह प्रमाणोंसे भी जो अधिक प्रमाण कल्पित किये हों और वे प्रमाणत्वको प्राप्त करनेकी योग्यतावाले हों अर्थात् ज्ञान होनेके साधनरूप हों तो उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष इन दोनोंमेंसे किसी एक प्रमाणमें समावेश कर देना चाहिये। इस प्रकार दो प्रमाण हैं, एक प्रत्यक्ष

और दूसरा परोक्ष, इस बातको इन्द्र भी नहीं फेर सकता। अब प्रमाणका लक्षण, प्रकार वगैरहको बतलाते हैं--

अपने और परके याने दूसरेके स्वरूपका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है उसमेंके स्पष्ट ज्ञानका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसके दो प्रकार हैं एक व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक। जो ज्ञान हमें इन्द्रिय आदिकी सामग्रीसे उत्पन्न होता है उसका नाम सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान क्षण क्षणमें व्यवहारमें आनेसे उसे सांव्यवहारिक कहते हैं और वह अपरमार्थरूप है। जो ज्ञान सिर्फ आत्माकी विद्यमानतासे ही उत्पन्न होता है--जिसमें एक भी इन्द्रिय या मनकी जरूरत नहीं रहती उसे पारमार्थिक ज्ञान कहते हैं। उसके नाम अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान हैं।

सांव्यावहारिक ज्ञानके दो प्रकार हैं एक इन्द्रियोंसे होनेवाला और दूसरा मनसे होनेवाला। इन दोनोंके एक एकके चार २ भेद हैं--अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा। इन प्रत्येकका स्वरूप इस प्रकार है--अवग्रह याने सर्वथा कमसे कम और सर्वथा साधारणमें साधारण ज्ञान, अर्थात् इंद्रियों या पदार्थोंका रीतिपुरस्सःर सम्बन्ध होते ही जो 'यह क्या?' या 'यह कुछ' इस प्रकार व्यवहारमें न आसके ऐसा ज्ञान हुये बाद इसी ज्ञानके द्वारा होनेवाले भासका नाम अवग्रह है। वह अवग्रहरूप ज्ञान निश्चयरूप ज्ञानका प्रथम सोपान है और उस अवग्रह ज्ञानमें पदार्थोंके जो सामान्य उपधर्म हैं उनका और सर्वथा साधारण ऐसे जो विशेष धर्म हैं उन्हींका भास हो सकता है। यदि यथार्थ अवग्रह हुआ हो तो उसमें भ्रान्ति वगैरह नहीं रह सकते। अवग्रहमें भासमान होते हुये पदार्थ मात्र द्रव्यरूप और यथार्थरुप होते हैं। अवग्रह हुये बाद उसमें मालूम हुई वस्तुके विषयमें संशय उत्पन्न होता है कि क्या यह अमुक होगा? या अमुक? ऐसा संशय हुये बाद उस तरफ जो विशेष जाननेकी आकांक्षा—उत्सुकता होती है उसका

नाम ईहा है। जो कुछ भास ईहामें होता है उस तरफके विशेष निश्चयका नाम अवाय है और उस अवायमें होनेवाले भासका जो अधिक समयतक स्मरण रहता है उसे धारणा कहते हैं। इन चारों प्रकारमें परस्पर हेतुफल भावका सम्बन्ध रहा हुआ है। अर्थात् अवग्रहज्ञान ईहा ज्ञानका निमित्त है और ईहाज्ञान अवग्रह ज्ञानका फल है। इसी तरह ईहाज्ञान अवायज्ञानका निमित्त है और अवायज्ञान ईहा ज्ञानका फल है एवं अवायज्ञान धारणाज्ञानका निमित्त और धारणाज्ञान अवायज्ञानका फल है। इस प्रकार पूर्वमें उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रमाणरूप—निमित्तरूप है और पीछे होनेवाला ज्ञान फलरूप है। इस तरह एक भक्तिज्ञानके ही ये चारों भेद हैं ऐसा समझना चाहिये। यदि ऐसे इन चारोंमें इसी अपेक्षासे भेद और अभेद न माना जाय तो चारोंमें परस्पर रहा हुआ हेतु, फल, भाव, सम्बन्ध, घट नहीं सकता। क्योंकि जो सर्वथा ऊंट और हाथीके समान जुदे हों वे परस्पर हेतुरूप और फलरूप नहीं हो सकते एवं जो सर्वथा एक ही हों उनमें भी हेतु फलभाव नहीं घट सकता। इसी लिये उपरोक्त इन चारोंमें भेद और अभेद दोनों समझने चाहियें। धारणारूप मतिज्ञान विवादरहित स्मरणशक्तिका कारण है अतः वह प्रमाणरूप है। स्मरणरूप मतिज्ञान दूषणरहित विचारशक्तिका कारण है अतःवह प्रमाणरूप है। विचाररूप मतिज्ञान दूषणरहित तर्क शक्तिका निमित्त है, इस लिये वह प्रमाणरूप है और वह तर्करूप मतिज्ञान अनुमान प्रमाणका कारण है इस लिये प्रमाणरूप है, एवं वह अनुमानरूप मतिज्ञान लेनेकी या छोड़नेकी या तटस्थ रहनेकी वृत्तिका कारण है। अतः वह प्रमाणरूप है। शास्त्रमें कहा है कि " मति (धारणा) स्मृति (स्मरण) संज्ञा (विचार) चिंता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमानरूप बोध) ये सब ही प्रायः एक समान भावको सूचित करते हैं "। अर्थात् इन समस्त शब्दोंका लक्ष्यविषय लगभग एक जैसाही होता है। इस ज्ञानका निमित्त जबतक किसीका शब्द (बोलना) न हो तबतक उसका नाम मतिज्ञान है। कितने एक कहते हैं कि " जब ज्ञानका निमित्त शब्द बनता है तब उसका: नाम श्रुतज्ञान होता है। वह

श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है और अस्पष्ट है"। सिद्धान्तको जानने-वाले (सैद्धान्तिक) लोग यह कहते हैं कि " स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिवोध ये चारों शब्द अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणास्वरूप मतिज्ञानके सूचक हैं "। यद्यपि स्मृति, संज्ञा और चिन्ता वगैरहका एक ही विषय है तथापि ये सव विवादरहित होनेसे अनुमानके समान प्रमाणरूप हैं। जिस प्रकार अनुमानका विषय और उससे पहले ज्ञानका याने व्याप्तिको प्राप्त करनेवाले प्रमाणका विषय ये दोनों एक होनेपर भी अनुमानको प्रमाणकी कोटिमें रक्खा जाता है उसी प्रकार स्मृति वगैरहके लिये भी समझलेना चाहिये। यदि ऐसा न समझा जाय तो अनुमा-नको भी प्रमाणरूप कैसे माना जाय? विवादरहित और व्यव-हारमें उपयोगी होते हुए स्मृति आदिमें जवतक शब्द निमित्तरूप न वनें तवतक वे सव मतिरूप हैं और उनमें निमित्तरूप शब्दका उपयोग हुये वाद वे सव श्रुतरूप हैं। इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विभाग है। यद्यपि स्मरण, तर्क और अनुमानरूप, स्मृति एवं संज्ञा वगैरह एक तरहके परोक्षज्ञानके हैं तथापि मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान यहाँपर भिन्न २ स्वरूप समझानेके लिये प्रत्यक्ष ज्ञानके वर्णनमें भी उन्हें कथन किया है।

अव परोक्षप्रमाणका स्वरूप और भेद इसप्रकार वतलाते हैं—अस्पष्ट परन्तु विवादरहित जो ज्ञान है उसका नाम परोक्ष है। उसके पांच प्रकार हैं- स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। स्मरणका स्वरूप इसप्रकार है, पूर्व संस्कारोंकी जागृ-तिसे होनेवाला और पहले अनुभव की हुई वातको जनानेवाला जो ज्ञान है उसका नामस्मरण है। उस स्मरण ज्ञानको जनानेकी रीतिं इस प्रकार है—' वह तीर्थंकरका विम्ब है ' (जो पहले देखा हुआ है)। प्रत्यभिज्ञानका स्वरूप इस तरह है— वर्तमानमें होता हुआ अनुभव और पूर्वमें मालूम कराया हुआ स्मरण इन दोनोंसे पैदा होनेवाला (परोक्ष तथा प्रत्यक्षज्ञानकी) संकलना करनेवाले ज्ञानका नाम प्रत्यभिज्ञान है। उस ज्ञानको शब्दमें सम-झानेकी रीति इस तरह है— ' यह वही है ' ' उसके समान है '

'उससे जुदा है' और 'उसका विरोधि है' जैसे कि 'वही यह देवदत्त है' गायके जैसा गवय है, गायसे जुदा भैंसा है। यह इससे लंवा, छोटा, वारीक, मोटा, नजीक या दूर है। यह अग्नि तीव्र है, यह चंदनकी सुगन्धी है इत्यादि। इस प्रत्यभिज्ञानमें स्मरणसहित अनुमानसे अथवा स्मरणसहित शास्त्रसे पैदा हुये प्रत्यभिज्ञानका भी समावेश समझलेना चाहिये। जैसे कि यह तेज अग्नि है (जिसका ज्ञान पहले अनुमानसे हुआ था) और यह (शब्द) भी उसी अर्थको सूचित करता है (जो पहले शास्त्रके द्वारा सुना हुआ था) वगैरह। तर्कका स्वरूप इस प्रकार है— तर्कज्ञान उपलम्भ और अनुपलम्भसे पैदा होता है, (अमुक हो तब ही अमुक हो सके इस तरहकी सहचरताका नाम उपलम्भ है और अमुक न हो जब अमुक भी न हो, इस तरहकी सहचरताका नाम अनुपलम्भ है) और इनका विषय साध्य एवं साधनका सम्बन्ध है कि जो तीनों कालमें अखण्डतया रहनेवाला होता है। तर्कज्ञानको मालूम करनेकी रीति यह है 'यह हो तब ही वह हो सकता है—' अग्नि हो तब ही धूम्र हो सकता है और अग्नि न हो तब धूम्र भी न हो। अब अनुमानके भेद और स्वरूप वतलाते हैं—अनुमान दो प्रकारका है, एक स्वार्थ-अपने लिये होनेवाला और दूसरा परार्थ दूसरेके लिये होनेवाला। हेतुको प्रत्यक्षतया देख कर और कार्यकारणके सम्बन्धको याद करके निश्चितरूपसे उत्पन्न होनेवाले साध्यका ज्ञान स्वार्थ अनुमान कहलाता है—। जिसके विना जिसकी विद्यमानता ही न हो उसे (अविद्यमानतावालेको) उसका (उसके ज्ञानका) हेतु समझना चाहिये। अग्निके विना सदैव और सर्वत्र धूम्रकी अविद्यमानता हीं होती है। इसमें धूम्रको अग्निके ज्ञानका हेतु समझना चाहिये। यह हेतुका स्वरूप है। जो इष्ट याने सम्मत हो, किसी तरहके वाधरहित हो और विलकुल मालूम न हुआ हो उसका नाम साध्य है। जिस स्थानमें वैसा साध्य रहता हो उसका नाम पक्ष है। जिसके लिये उपरोक्त हेतु और पक्षका प्रयोग किया जाता है उस प्रकारके ज्ञानका नाम परार्थ अनुमान है। वह परार्थ अनुमान शब्दरूप होनेसे ज्ञानरूप नहीं कहा जा सकता, तथापि

वह दूसरेको ज्ञानका निमित्त बननेसे सिर्फ कल्पनासे ही प्रमाणरूप कहा जा सकता है। सत्य प्रमाण तो वही कहा जा सकता है कि जो ज्ञानरूप हो। जो मनुष्य कम बुद्धिवाले हैं उन्हें समझानेके लिये तो पक्ष और हेतुसे उपरान्त दृष्टान्त उपनय और निगमनका भी प्रयोग करना पड़ता है। दृष्टान्तके दो प्रकार हैं—एक अन्वय-दृष्टान्त और दूसरा व्यतिरेक। जहाँ जहाँ पर हेतु हो वहाँ वहाँ पर यदि निश्चिततया साध्यकी भी विद्यमानता मालूम होती हो तो उस स्थानका नाम अन्वयदृष्टान्त है। जिन जिन स्थानोंमें साध्यकी अविद्यमानता होनेपर निश्चयरूपसे हेतुकी भी अविद्यमानता मालूम होती हो उस स्थानका नाम व्यतिरेक दृष्टान्त है जैसे कि जहाँ जहाँ पर धूम्र हो वहाँ सर्वत्र अग्नि मालूम होता हो या मालूम हुआ हो वैसे स्थान रसोड़ा, हलवाईकी दुकान और यज्ञका कुण्ड ये समस्त अन्वय दृष्टान्त हैं और जहाँ जहाँ पर अग्नि हो वहाँ सर्वत्र धूम्र भी न हो वैसे स्थान नदी, सरोवर और पानीका कुण्ड, ये समस्त व्यतिरेक दृष्टान्त हैं। हेतुके उपसंहारका नाम उपनय है और प्रतिज्ञाके उपसंहारका नाम निगमन है। पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये पांचों अनुमान ज्ञानके अवयव हैं। इनका उदाहरण इस प्रकार है १ पक्ष-परिणामवाला है। २ हेतु, क्योंकि यह किया जाता है इस लिये। ३ दृष्टान्त-जो जो किया जाता है सो समस्त परिणामवाला है, जैसे कि घट। ४ उपनय-शब्द भी किया जाता है। ५ निगमन-इस लिये यह भी परिणामवाला होना चाहिये इत्यादि। अन्य भी कितने एक मनुष्य हेतुके तीन लक्षण दूसरी तरह बतलाते हैं। वे कहते हैं कि "जो वस्तु पक्षमें रहती हो, सपक्षमें (अन्वयदृष्टान्तमें) रहती हो और विपक्षमें व्यतिरेक दृष्टान्तमें न रहती हो उसका नाम हेतु-साधन है।" परन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है क्योंकि कितने एक हेतु ऐसे होते हैं कि जिनमें ये तीनों ही लक्षण बराबर घट सकते हैं, परन्तु वे स्वयं कुहेतुरूप होते हैं। तथा कितने एक हेतु ऐसे भी मिलते हैं कि जिनमें ये तीनों लक्षण यथार्थ रीतिसे न घटते हों तथापि वे स्वयं सुहेतुरूप होते हैं। जैसे कि आकाशमें चन्द्र है

क्योंकि पानीमें उसका प्रतिम्बिंब मालूम हो रहा है। कृत्तिका नक्षत्रका उदय हुआ है अतः अब शकट नक्षत्रका भी उदय होना चाहिये। एक आमके पेड़पर मौर-फूल आया हुआ है इस लिये अब इस प्रकार प्रत्येक आमके पेड़को भी फूल आने चाहियें। चन्द्रमा उदय हुआ है अतः समुद्र उछलता होना चाहिये। सूर्यका उदय हुआ है अतः कमल खिले हुये होने चाहियें। वहाँ-पर वृक्ष है अतः उसकी छाया भी होनी चाहिये। इत्यादि और भी अनेक अनुमानोंमें जो जो हेतु बतलाये हैं उनमेंका एक भी हेतु पक्षमें नहीं रहता तथापि उन अनुमानोंमेंका एक भी अनुमान असत्य या अप्रामाणिक नहीं है। इस लिये जैनोंका बतलाया हुआ उपरोक्त हेतुका स्वरूप यथार्थ है। जो स्वरूप दूसरे बतलाते हैं, वह दूषण ग्रस्त होनेसे यथार्थ नहीं हैं। कदाचित् कोई यह कहे उपरोक्त प्रत्येक अनुमानका हेतु कालादिक पक्षमें रहा हुआ है, तो यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि उन अनुमानोंमें बतलाये हुए हेतु और काल इन दोनोंमें किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है और जो दो पदार्थ परस्पर किसी तरहका सम्बन्ध न रखते हों उन दोनोंमें पक्ष और हेतुका सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता तथापि यदि वे परस्पर सम्बन्धरहित उन दो पदार्थोंमें भी पक्ष और हेतुका व्यवहार घटता हुआ मानते हैं, तो 'कौवा काला है अतः शब्द अनित्य होना चाहिये।' यह अनुमान भी सत्य ठह-रना चाहिये, क्योंकि इस अनुमानमें कालेके ही समान लोकको भी पक्षतया माना जा सकता है। यथा ऐसे भी कितने एक सत्य अनु-मान हैं कि जिनका हेतु समक्षमें नहीं रहता तथापि वे सुहेतु होते हैं। जैसे कि 'शब्द अनित्य है' क्योंकि वह सुना जा सकता है। वहाँपर मेरा भाई होनां चाहिये, क्योंकि उसके विना ऐसा आवाज नहीं सुना जाता। सब नित्यरूप या अनित्यरूप होना चाहिये क्योंकि यह सद्रूप है। ये समस्त अनुमान सत्य और प्रामाणिक हैं तथापि उनमें बतलाये हुये हेतु सपक्षमें न रहनेके कारण दूसरोंके बतलाते हुए हेतुके पूर्वोक्त तीनों लक्षण यथार्थ नहीं हैं इतना ही नहीं बल्कि प्रत्युत दूषणवाले हैं। इस प्रकार अनुमानका

स्वरूप और भेद समझने चाहियें । अब आगमप्रमाणका स्वरूप इस प्रकार कथन करते हैं—

आप्तपुरुषके कथनसे विदित की हुई हकीकतका नाम आगम है। आप्तपुरुषके वचनको भी कल्पनासे आगमप्रमाणरूप माना जाता है, जैसे कि यहाँपर जमीनमें भंडार है, या मेरु आदि हैं, इस प्रकारके आप्तवचनप्रमाणरूप माने जाते हैं। जो पुरुष या स्त्री जो पदार्थ जिस स्थितिमें रहा हुआ है उसे वैसे ही स्वरूपमें जानता है और जैसे जानता है वैसे ही कथन करता है उसका नाम आप्तमनुष्य है। वे आप्त, माता, पिता और सर्वज्ञदेव आदि हैं। इस प्रकार परोक्षप्रमाणकी समस्त हकीकत समझ लेनी चाहिये। अन्य शास्त्रोंमें भी कहा है " कि जो विवादरहित ज्ञान है और व्यवहारकी दृष्टिसे स्पष्टरूप है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, इसके अलावा ज्ञान परोक्ष है " " इन दोनों ज्ञानमें याने प्रत्यक्ष और परोक्षमें जितना ज्ञान विवादरहित है उतना वह प्रमाणभूत है और जितना विवादग्रस्त है उतना अप्रमाणभूत है "। अर्थात् एक ही ज्ञान जिस विषयमें विवादरहित है उस विषयमें प्रमाणभूत है और जिस विषयमें विवादवाला है उस विषयमें अप्रमाणभूत है। जैसे कि जिस मनुष्यकी आंखोंमें तिमिरका रोग हुआ हो वह दो चंद्रमा देखता है, अब उसका चंद्र देखनेका ज्ञान तो प्रमाणभूत है, परन्तु चंद्रकी संख्या जाननेका ज्ञान अप्रमाणभूत है। इस प्रकार एक ही विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक ही ज्ञान विवाद और अविवादकी दृष्टिसे प्रमाणभूत और अप्रमाणभूत हो सकता है। प्रमाणकी प्रामाणिकता और अप्रमाणिकता उसके विवादवाले एवं अविवादवाले ज्ञानपर निर्भर है।

अबतक के उल्लेखसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि प्रमाण दो ही हैं और वे प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान इन पांचोंमेंसे प्रथमके दो ज्ञान वास्तविक रीत्या परोक्ष हैं और बाकीके तीन ज्ञान याने अवधि ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप हैं।

इस विषयको सूचित करनेवाले श्लोकके उत्तरार्धका अर्थ इस

प्रकार करते हैं—"इस प्रमाणद्वारा अनन्त धर्मवाली वस्तु जानी जा सकती हैं"। अर्थात् उपरोक्त प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणका विषय वह अनन्त धर्मवाली वस्तु हैं। जिसका किसी प्रकार नाप न किया जाय उसे अनंत कहते हैं। स्वभावको धर्म कहते हैं और स्वभाव दो प्रकारके हैं—एक तो वस्तुके साथ ही उत्पन्न होनेवाला और दूसरा वस्तुमें क्रमशः उत्पन्न होनेवाला। अथवा यों मानना चाहिये कि वस्तु मात्र अनेकान्तात्मक हैं। अनेकान्तात्मकका अर्थ इस प्रकार है—जिसके अनेक अन्त यांने धर्म स्वभाव हैं वह अनेकान्तात्मक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जड़ और चेतन ये समस्त पदार्थ अनन्त धर्म याने अनन्त स्वभाववाले हैं, क्योंकि उनका ज्ञान प्रमाणसे हो सकता है। इस जगह इस विषयका एक भी उदाहरण नहीं मिल सकता, क्योंकि वस्तुमात्र जड़ और चैतन्यरूप पक्षमें समा गई है। जो वस्तु अनन्त धर्मवाली नहीं है वह प्रमाणसे भी नहीं जानी जा सकती। जैसे कि आकाशका पुष्प। सिर्फ इस प्रकारका सर्वथा व्यतिरेकी उदाहरण मिल सकता है और यह एक ही उदाहरण पूर्वोक्त अनुमानकी सिद्धिके लिये काफी है। यह वतलाया हुआ अनुमान भी दूषण रहित है। क्योंकि इसमें किसी प्रकारके दोषको अवकाश नहीं और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे भी इसी बातको पुष्टि मिलती है। यदि कोई यह कहे कि एक ही वस्तुमें अनन्त धर्म किस प्रकार रह सकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यहाँपर मात्र सुवर्णके घड़ेके दृष्टान्त द्वारा दिया जाता है। कोई भी एक घट अपने निजी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे रहता है और दूसरेके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे नहीं रहता। तथा जिस वक्त सत्व, ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व आदि धर्मोंको दृष्टिके सामने रखकर घटका विचार किया जाता है तव वह घट सदैव सत् ही है। क्योंकि वे धर्म वस्तुमात्रमें होनेसे उनकी अपेक्षासे प्रत्येक पदार्थ परस्पर समान है अतः उन धर्मोंमें अपनी या परकी कल्पना नहीं हो सकती। अव हमें उस घटका ही विशेष विचार करना चाहिये। घड़ा पुद्गलोंके परमाणुओंसे वना हुआ है, अतः वह पौद्गलिक

रूपसे सत् कहलाता है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन सबके रूपसे असत् कहना चाहिये। पौद्गलिकत्व उस घटका निजी पर्यायधर्म स्वभाव है और वह पर्यायधर्मास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय आदि अनन्त द्रव्योंसे सर्वथा व्यावृत्त हैं, अर्थात् घटका स्वपर्याय एक है और पर पर्याय अनन्त हैं। तात्पर्य यह है कि घट अपने पौद्गलिकत्वके रुप से सत् है और इसके अलावा दूसरे अनन्त द्रव्योंके रूपसे असत् है। तथा घट पृथ्वीसे उत्पन्न होनेके कारण पृथ्वीरूपसे सत् है और पानी, तेज वायु आदिके रुपसे असत् है। यहाँपर भी घटका स्वपर्याय एक है और परपर्याय अनन्त हैं। इसी प्रकार सर्वत्र स्वपर्याय और परपर्यायके सम्बन्धमें समझलेना चाहिये। यद्यपि घड़ा पृथ्वीके परमाणुओंसे बना हुआ ह तथापि वह धातुका है इस लिये धातु रुपसे सत् और मट्टी वगैरहके रुपसे असत् और धातुमें भी सुवर्णका बना हुआ है अतः सुवर्णरूपसे सत् और चान्दी, तांवा एवं सीसा वगैरहके रूपसे असत् है। सुवर्णमें भी वह घड़ा घटित सुवर्णका बना हुआ है अतः घड़े हुये सुवर्ण रूपसे सत् और विनघड़े सुवर्णके रूपसे असत् है। घटित सुवर्णमें भी वह घड़ा देवदत्तसे घड़े हुए सुवर्णका बना हुआ है। अतः उस रूपसे सत् और यज्ञदत्त वगैरह देवदत्तके सिवाय कारीगरोंसे घड़े हुये सुवर्णरूपसे असत् है। वह घड़ा बनाया हुआ है परन्तु उसका आकार-मुख भीड़ा और वीचका भाग चौड़ा है अतः वह अपने उस प्रकारके रूपसे सत् और अन्य मुकट वगैरहके आकार रूपसे असत् है। ऐसा होनेपर उसका वह गोल आकार है अतः वह अपने उस गोल आकाररूपसे सत् और दूसरे आकाररूपसे असत् है। गोल आकारोंमें भी जो उस घटका ही गोल आकार है उस स्वरूपसे ही वह सत् और अन्य गोल आकाररुपसे असत् है। उसका निजी गोल आकार भी उसके निजके ही परमाणुओंसे बना हुआ है अतः उस रूपसे वह सत् और अन्य परमाणुओंकी अपेक्षासे असत् है। इसी आकारमें अन्य भी जिन जिन धर्मोंके द्वारा घटको घटाया जाय वे उसका निजी पर्याय हैं

और इससे अलावा अन्य सब ही उसके परपर्याय हैं। इस प्रकार द्रव्यकी अपेक्षासे फक्त एक घटके ही स्वपर्याय बहुत कम और परपर्याय अनन्त हैं। इस तरह एक द्रव्यकी ही अपेक्षासे घटकी विचारणा की गई है। अब क्षेत्रकी अपेक्षासे घटकी विचारणा इस प्रकार की जाती है—

क्षेत्रकी अपेक्षासे देखनेसे घड़ा तीनों लोकमें वर्तता है याने तीनों लोकमें वर्तनत्व उस घटका निजी पर्याय है और उस पर्यायका अन्य कोई परपर्याय नहीं होता। तीनों लोकमें वर्तता हुआ भी वह घट तिर्यग् लोकमें है अतः वह इस रूपसे सत् और उर्ध्व या अधोलोकमें वर्तनेकी अपेक्षासे असत् है। इसमें भी वह घड़ा जंबूद्वीपमें रहा हुआ होनेसे उस रूपमें सत् और दूसरे द्वीपोंमें वर्तनेकी अपेक्षासे असत् है। इसमें भी भरतक्षेत्रमें रहा-हुआ होनेसे इस रूपसे सत् और दूसरे क्षेत्रोंमें वर्तनेकी अपेक्षासे असत् है। भरतक्षेत्रमें भी पाटलीपुरमें रहा हुआ होनेसे इस रूपमें सत् और दूसरे नगरमें वन होनेकी अपेक्षासे असत् है। पाटलीपुरमें भी देवदत्तके घरमें रहा हुआ होनेसे इस रूपमें सत् और दूसरे कोने वगैरहमें रहनेकी अपेक्षासे असत् है। घरके कोनेमें भी वह जितने आकाशके भागको रोकता है उस रूपमें सत् और बाकीके आकाशके भागको न रोकनेकी अपेक्षासे असत् है। इस तरह क्षेत्रकी अपेक्षासे दूसरा भी उचित घटा लेना चाहिये। क्षेत्रकी अपेक्षा घटके स्वपर्याय कम और परपर्याय असंख्य हैं। क्योंकि क्षेत्रके असंख्य प्रदेश हैं। अथवा मनुष्यलोकमें रहे हुए घटके अन्यस्थानमें रहे हुए द्रव्योंकी अपेक्षासे अनन्त परपर्याय हैं। इसी प्रकार देवदत्तके घरमें रहे हुये घटके विषयमें भी समझलेना चाहिए और इस तरह उसके भी परपर्याय अनन्त हैं यह भी साथ-ही जान लेना चाहिये। अब कालकी अपेक्षा घटकी विचारणा इस प्रकार की जाती है—

घट अपने द्रव्यकी अपेक्षासे है, था और रहेगा। वह इस युगका होनेसे इस रूपमें सत् और अतीत एवं अनागत युगका न होनेसे उस रूपमें असत् है। इस युगमें भी वह इसी वर्षका है अतः

इस रूपसे सत् और भूत एवं भविष्य वर्ष की अपेक्षासे असत् है। चालू वर्षमें भी वह वसन्तऋतुमें बनाया गया है अतः इस रूपमें सत् और दूसरी ऋतुओंकी अपेक्षासे असत् है। इसमें भी वह ताजा है अतः नवीन रूपसे सत् और पुराने रूपसे असत् है। उसमें भी वह आजका बना हुआ होनेसे इस रूपमें सत् और दूसरे रूपमें असत् है। उसमें भी वह वर्तमान क्षणमें वर्तता होनेसे इस-रूपसे सत् और दूसरे रूपमें असत् है। इस प्रकार कालकी अपे-क्षासे भी घटके स्वपर्याय असंख्य हैं, क्योंकि एक पदार्थ असंख्य कालतक टिक सकता है। यदि उसकी अनन्तकालतक टिक रहने-की कल्पना की जाय तो उसके अनंत पर्याय भी हो सकते हैं और परपर्याय तो अनंत हैं ही। क्योंकि उपरोक्त कालके सिवाय दूसरे कालमें वर्तते हुये अनन्त द्रव्योंकी अपेक्षासे उसे घटाना है। अब भावकी अपेक्षासे घटकी विचारणा की जाती है।

वह घड़ा रंगसे पीला है अतः उस रूपमें सत्—और बाकीके रंगोंकी अपेक्षासे असत् है। वह पीला है तथापि अन्य समस्त पीली वस्तुओंसे कुछ जुदा ही पीला है अतः वह उसी रूपमें सत् और अन्य पीले रूपसे असत् है। अर्थात् यहाँपर इस प्रकार घटा-ना चाहिये कि वह घड़ा अमुक पीले पदार्थसे एक गुना पीला है, अमुक पीले पदार्थसे दुगुना पीला है, अमुक पीले पदार्थसे तिगुना पीला है, इस तरह अमुक पीले पदार्थसे अनन्त गुना पीला है। वहाँ-तक समझ लेना चाहिये और इसी प्रकार ऐसे भी घटना चाहिये कि वह घड़ा अमुक पीले पदार्थसे एक गुना कम पीला है, अमुक की अपेक्षा दूना कम पीला है और अमुककी अपेक्षा तीन गुना कम पीला है, ऐसे अमुककी अपेक्षा अनन्त गुण कमती पीला है, यहाँतक समझ लेना चाहिये। इस तरह सिर्फ एक पीले रंगकी अपेक्षासे एकले घटके ही स्वपर्याय अनन्त हो सकते हैं। जैसे पीले रंगकी तरतमताकी अपेक्षा उसके अनन्त पर्याय हो सकते हैं वैसे ही नील वगैरह रंगकी तरतमताकी अपेक्षासे भी घटके पर-पर्याय अनन्त हो सकते हैं। इसी प्रकार घटके निजी रसकी अपे-क्षासे और पर रसकी अपेक्षासे अनन्त स्वपर्याय और अनन्त पर-

पर्याय हो सकते हैं। तथा इसी प्रकार सुगन्ध, गुरुता, लघुता, मृदुता, कर्कशता, शीत, गरम, चिकना, रूक्ष, इन सबमें भी ऊपर कथन किये मुजब घटा लेना चाहिये। क्योंकि अनन्त प्रदेश-वाले एक स्कन्धमें (पदार्थमें) आठों ही स्पर्श हो सकते हैं, ऐसा सिद्धान्तमें कथन किया है, अतः उस घटमें उन आठों स्पर्शोंको भी घटा लेना चाहिये। अथवा सुवर्णधातु ही ऐसी है कि जिसमें अनन्त कालातिक्रमसे पांचों वर्ण, दोनों गन्ध, छहों रस और आठों स्पर्शोंका समावेश समझलेना चाहिये। इन पूर्वोक्त गुणोंकी तरतमताका विभाग भी घटालेना चाहिये और उन सबको अनन्तानन्त समझलेना चाहिये। तथा अन्यान्य पदार्थोंके वर्ण आदि गुणोंसे उस घटके गुणोंको व्यावृत--जुदे जानना चाहिये और इस अपेक्षासे घटको असत् समझना चाहिये। इस प्रकार यहाँपर अनन्त स्वधर्म और अनन्त परधर्म घट सकते हैं। घट अर्थको बतलानेके लिये भिन्न २ अनेक भाषाके भेदोंके कारण घट वगैरह अनेक शब्दोंका व्यवहार चला आ रहा है। इस अपे-क्षासे घट सत् है और वे सब ही घटके स्वधर्म हैं। तथा अन्य शब्दोंसे घटका भाव मालूम न किया जा सकनेसे उस अपेक्षासे घट असत् है और वे सब घटके परपर्याय हैं एवं वे दोनों ही अनन्त हैं घटके जो जो स्वधर्म और परधर्म कहे हैं उन धर्मोंको मालूम करानेवाले जितने शब्द हैं वे सब ही घटके स्वधर्म हैं और घटके धर्मको बतलानेवाले शब्दोंके सिवाय जो अन्य शब्द हैं वे समस्त घटके परधर्म हैं। कितने एक द्रव्यों पदार्थोंकी अपेक्षासे वह घट पहेला, दूसरा, तीसरा और चौथा इत्यादि क्रमसे यावत् अनन्तवाँ है और यह समस्त संख्या घटके स्वधर्म हैं एवं इसके विना भी अपेक्षासे घड़ा असत् है एवं वे समस्त उसके स्वधर्म और परधर्म अनन्त हैं अथवा उस घटमें जितने परमाणु रहे हुये हैं, वह समस्त संख्या घटका स्वधर्म है और बाकीकी समस्त संख्या घटका परधर्म है। इस प्रकार भी उसके स्वधर्म और पर-धर्म अनन्त घट सकते हैं। आजतक अनन्त कालसे उस घड़ेके साथ अनन्त पदार्थोंके अनेक संयोग और वियोग हो चुके हैं, वे

सब ही घटके अनन्त स्वधर्म हैं और जिन जिन पदार्थोंके साथ उसका संयोग और वियोग नहीं हुआ ऐसे पदार्थ भी अनन्त हैं अतः उनकी अपेक्षासे याने उनके रूपसे घड़ा असत् है और उसके परधर्म भी अनन्त हैं। यह समस्त विचार शब्द, संख्य, और संयोग तथा विभागकी अपेक्षासे किया गया है। अब परिमाणकी अपेक्षासे घटका विचार किया जाता है—

उन पदार्थोंकी अपेक्षासे घड़ा छोटा, बड़ा, लंबा, और टेढ़ा होता है और इस प्रकार उसका नाम अनन्त भेदवाला हो सकता है, अतः वे सब घटके स्वधर्म हैं और जिनसे वह घड़ा जुदा पड़ता है उस अपेक्षासे असत् है और वे सब घटके परधर्म भी अनन्त हैं। उन उन पदार्थोंकी अपेक्षा घड़ा नजीक, अधिक नजीक, सर्वथा नजीक, दूर, अधिक दूर, और सर्वथा दूर, तथा उसमें भी एक कोस, दो कोस तथा एक योजन, दो योजन और असंख्य योजन भी हो सकता है और इस प्रकार दूर एवं नजदीक की अपेक्षा भी घटके स्वपर्याय अनन्त हैं। तथा किसी पदार्थकी अपेक्षा वह घड़ा पूर्वमें, किसी पदार्थकी अपेक्षा पश्चिममें एवं किसी पदार्थकी अपेक्षा उत्तर दिशामें है तथा किसी की अपेक्षा ईशान या वायव्य कोनमें है, इस लिये इस रीतिसे दिशा और विदिशाओंकी अपेक्षासे भी घटके असंख्य स्वपर्याय घट सकते हैं। काल की अपेक्षासे भी घटके स्वधर्म अनन्त हो सकते हैं, क्योंकि कालके क्षण, लव, घड़ी, दिन मास वर्ष और युग वगैरह बहुत ही भेद होते हैं और उन भेदोंकी अपेक्षा घड़ा अन्यान्य सर्व द्रव्योंसे पूर्व और पर हो सकता है, अतएव उसके स्वधर्म अनन्त बतलाये हैं। ज्ञानकी अपेक्षा भी घटके स्वधर्म अनन्त हो सकते हैं। क्योंकि जीव अनन्त हैं और वे सब अपने अपने ज्ञानके द्वारा उस घटको भिन्न भिन्न रीतिसे जान रहे हैं। कोई जीव स्पष्टतया जानता है, कोई अस्पष्टतया, कोई दूरतया, और कोई समीपतया जानता है, इत्यादि। तथा वह घड़ा समस्त जीवोंके अनन्तानन्त भेदवाले सुख, दुःख, त्याग करनेकी बुद्धि, ग्रहण करनेकी बुद्धि, तटस्थ रहनेकी बुद्धि, पुण्य, पाप, कर्मका बन्ध, किसी प्रकारका संस्कार

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और मोह, एवं जमीनमें लेटना पड़ना, और वेग आदिका कारणरुप होनेसे या उन सबका अकारणरुप होनेसे अनन्त धर्मवाला हो सकता है । तथा वह घड़ा ऊंचे फेंकना, नीचे फेंकना, संकुचित होना, फैलना, परिभ्रमण करना, झरना, रीता होना, भरा जाना, चलना, कंपित होना, दूसरी जगह, लेजाना, पानी लाना और पानी भर रखना, इत्यादि अनन्त भिन्न २ क्रियाओंका कारणरूप है। अतः उस घटके क्रियारूप स्वधर्म अनन्त हो सकते हैं। जो पदार्थ उपरोक्त क्रियाओंके कारणरूप नहीं हैं उनसे घट भिन्न होनेके कारण उसके परधर्म भी अनन्त ही हो सकते हैं । यह क्रियाकी अपेक्षा घटका वृत्तान्त बतलाया, अब सामान्यकी अपेक्षासे घटका वर्णन इस प्रकार है-

ऊपर कथन किये मुजब, भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें जो वस्तुमात्रके अनन्त स्व और परपर्याय बतलाये हैं उनमेंसे किसीके एक पर्यायके साथ, किसीके दोके साथ और किसीके अनन्त धर्मोंके साथ घटकी अनन्त भेदवाली समानता होनेसे—इस अपेक्षासे भी घटके स्वधर्म अनन्त हैं। विशेषकी अपेक्षासे भी घट अनन्त पदार्थोंमेंके किसीके एक धर्मसे, किसीके दो धर्मोंसे और किसीके अनन्त धर्मोंसे विलक्षण होनेके कारण इस अपेक्षासे भी घटके अनन्त स्वधर्म हैं। अनन्त धर्मोंकी अपेक्षा घटमें रहा हुआ मोटापन, पतलापन, समानता, टेढापन, छोटापन, बड़ापन चमक, सुन्दरता, चौड़ाई, छोटापन, नीचता, ऊंचता और विशाल मुखपन इत्यादि एक एक गुण अनन्त प्रकारके हैं अतः इस रीति से भी घटमें अनन्त धर्मोंका समावेश हो सकता है । सम्बन्धकी अपेक्षा घड़ा आज अनन्त कालसे और अनन्त पदार्थोंके साथ अनन्त प्रकारका आधार आधेयका सम्बन्ध धारण करता है, अतः उस अपेक्षासे भी उसके अनन्त स्वधर्म गिने जा सकते हैं । इस प्रकार स्व स्वामिका सम्बन्ध, जन्य जनकका सम्बन्ध, निमित्त नैमित्तिकका सम्बन्ध, कारकोंका सम्बन्ध, प्रकाश्य प्रकाशकका सम्बन्ध, भोज्य भोजकका सम्बन्ध, वाह्य वाहकका सम्बन्ध आश्रय आश्रयिका सम्बन्ध, वध्य वधकका सम्बन्ध, विरोध्य विरोधकका

सम्बन्ध और ज्ञेय ज्ञापकका सम्बन्ध, इत्यादि असंख्य सम्बन्धोंकी अपेक्षासे भी एक एकके अनन्त धर्म जानलेने चाहियें। यहाँपर जो घटके अनन्तानन्त स्व और परपर्याय कथन किये हैं उन सबकी उत्पत्ति विनाश और स्थिरता वगैरह अनन्त कालमें अनन्त वार हुआ है, होता है और होगा, इस अपेक्षासे भी घटके अनन्त धर्म हो सकते हैं। इस प्रकार पीले वर्णसे लेकर यहाँतक मात्र एक भाव की अपेक्षा घटके अनन्त धर्म समझलेने चाहियें। अभी तक द्रव्य, क्षेत्र, और काल आदिकी अपेक्षासे घटके जो स्व और पर धर्म कथन किये हैं उन दोनों धर्मोंसहित घट कहा जाय ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा एक भी शब्द नहीं कि जो स्वयं एक ही होकर उन दोनों अनन्तानन्त धर्मोंसहित घटको एक ही समयमें बतला सके। यदि इस कार्यके लिये किसी एक नये शब्दको ही उपस्थित किया जाय तथापि वह इन समस्त धर्मोंसहित घटका एक ही समयमें बोध नहीं करा सकता। इन समस्त धर्मोंसहित घटका एक बोध क्रमसे ही हो सकता है, अतः द्रव्य, क्षेत्र, और काल वगैरह की अपेक्षा घटमें अवक्तव्य वक्तव्य धर्म भी हो सकता है और वह पूर्वमें कथन किये समान ऐसे अनन्त धर्मों और अन्य पदार्थोंसे जुदा होनेके कारण उस घटमें अवक्तव्य अनन्त परधर्म भी समा जाते हैं। इसी प्रकार जैसे एकले घटमें ही अनन्त धर्म बतलाये हैं वैसे ही पदार्थ मात्रमें याने आत्मा वगैरहमें भी अनन्त धर्म घटा लेने चाहियें। आत्मामें वे अनन्त धर्म इस प्रकार हैं—

चेतनत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातापन, ज्ञेय, ज्ञेयता, अमूर्तता, असंख्यप्रदेशता, निश्चय रूपसे आठ प्रदेशता, लोकके प्रमाणमें प्रदेशत्व, जीवत्व, अभव्यता, भव्यता परिणामीत्व, अपने शरीरमें व्यापी पन, ये समस्त आत्माके सहभावी (आत्माके साथ निरन्तर रहनेवाले) धर्म हैं। तथा खुशी, शोक, सुख, दुःख मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, और केवलज्ञान, एवं चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, देवत्व, नारकित्व, तिर्यंचत्व और मनुष्यत्व, समस्त पुद्गलोंके साथ, शरीर आदिके द्वारा संयोग, अनादि अनन्तता, समस्त जीवोंके साथ समस्त प्रकारके सम्बन्धका धारकत्व, सांसा-

रिकता, क्रोध वगैरह असंख्य परिणामता, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, और घृणा, स्त्रीत्व, पुरुषत्व, नपुंसकत्व, मूर्खत्व, अन्धत्व, और बधिरत्व, वगैरह समस्त आत्माके क्रमभावी (क्रमसे पैदा होनेवाले) धर्म हैं। जिस आत्माने मोक्ष प्राप्त कर लिया है उसमें सिद्धत्व, सादि अनन्तता, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, सुख और वीर्य एवं अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, और सर्व पर्यायोंका जानकार पन तथा देखनापन है, तथा अशरीरत्व, अजर—अमरत्व, अरूपत्व, अरसत्व, अगन्धत्व, अस्पर्शता, अशब्दत्व, निश्चलता, निरोगता, अक्षयता, अबाधता, और पूर्वमें भोगी हुई सांसारिकदशामें जो जो जीवके धर्मका अनुभव किया हो वे सब,इस प्रकार आत्मामें भी अनन्त धर्म समझलेने चाहियें। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, और काल इन सबमें अनुक्रमसे असंख्य प्रदेशत्व, अनन्त प्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, सर्व जीवों और पुद्गलोंको क्रमशः गति एवं स्थितिमें अवगाह देनेमें और नया पुराना होनेमें सहायक पन, अवस्थितता, अनादि अनन्तता, अरूपीपन, अगुरूलघुता, एक स्कंधता, जाननेकी योग्यता, अस्तित्व और द्रव्यत्व वगैरह अनन्त धर्म इन अरूपी पदार्थोंमें समझलेने चाहियें। जो पदार्थ पौद्गलिक हैं उनमें घटके उदाहरणके समान ही अनन्तानन्त स्व, पर, पर्याय समझलेने चाहियें। शब्दोंमें उदात्तत्व,अनुदात्तत्व स्वरितपन, विवृतता, संवृतता, घोषत्व, अघोषत्व, अल्पप्राणता, महाप्राणता, अभिलाप्यता, अनभिलाप्यता, अर्थकी वाचकता और अवाचकता तथा क्षेत्र और काल वगैरहके भेदके कारण अनन्त अर्थकी ज्ञापकता इत्यादि धर्म घटा लेने चाहियें। तथा आत्मा वगैरह समस्त पदार्थोंमें नित्यता, अनित्यता, सामान्य, विशेष, अस्तित्व, अनस्तित्व, अभिलाप्यता और अनभिलाप्यता, और इसके उपरान्त अन्य वस्तुओंके व्यावृत्ति धर्म भी जान लेनें चाहियें। अब कदाचित् यह कहा जाय कि जो धर्म घटके निजके हैं वे तो उसके स्वपर्याय कहलाते हैं सो ठीक, परन्तु जो परपर्याय हैं और घटसे भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले हैं वे—परपर्याय घटके

सम्बन्धी किस तरह हो सकते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

सम्बन्धके दो प्रकार हैं, एक तो अस्तिपनसे रहनेवाला सम्बन्ध और दूसरा नास्तिपनसे रहा हुआ सम्बन्ध । जिस तरह घटका उसके रूप आदि गुणोंके साथ सम्बन्ध है वैसे ही घटके स्वपर्यायोंके साथ उसका सम्बन्ध अस्तिपनसे है और परपर्याय घटमें न रहनेके कारण उनका घटके साथ सम्बन्ध नास्ति पनसे है । जिसे घटका सम्बन्ध न होनेपर मट्टिरूप पर्यायके साथ है वैसे परपर्यायके साथ भी उसका ऐसा ही सम्बन्ध है । विशेषता सिर्फ इतनी ही है कि वे परपर्याय उसमें रहते नहीं, अतएव उनका सम्बन्ध नास्तिपनसे याने अभावरूपसे कहा जाता है और ऐसा होनेपर ही वे परपर्याय कहलाते हैं । यदि यहाँपर यह कहा जाय कि जिस तरह धन रहित गरीब धनवान् नहीं कहलाता वैसे ही जो पर्याय घटके नहीं वे घटके किस तरह कहे जा सकते हैं ? तथा जो वस्तु जिसकी न हो तथापि वह उसकी कहलाती हो तो फिर लोक व्यवहारका भंग होगा, अतः वे परपर्याय घटके किस तरह कहे जायें ? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जैसे धन और गरीब इन दोनोंका सम्बन्ध तो है परन्तु नास्तित्व रूपसे है वैसे ही परपर्याय और घटके बीचमें सम्बन्ध तो अवश्य है परन्तु वह सम्बन्ध नास्तित्व रूपसे है । नास्तित्वरूपसे सम्बन्ध होनेमें किसी प्रकारकी बाधा मालूम नहीं होती । क्योंकि बोलनेवाला बोलता है कि इस गरीबके धन नहीं है, अर्थात् गरीब और धनके बीचमें जो नास्तित्वका सम्बन्ध है उसी प्रकार यह घड़ा लेखनी रूपमें नहीं है याने घट और लेखनीके बीच परस्पर नास्तित्वका सम्बन्ध है यह स्पष्ट रीतिसे भासित होता है । हां यह कहना ठीक है कि घटका उन परपर्यायोंके साथ अस्तित्वका सम्बन्ध नहीं है, परन्तु उन दोनोंमें सर्वथा सम्बन्ध ही नहीं यों नहीं कहा जा सकता । तथा परपर्यायोंके साथ घटके नास्तित्वका सम्बन्ध हो इसमें किसी प्रकारके लोकव्यवहारको भी हरकत नहीं आ सकती । कदाचित् यों कहा जाय कि नास्तित्व तो अभावरूप याने असद् रूप

है अतः वह तुच्छरूप होनेसे उसके साथ सम्बन्ध ही क्या हो? इस लिये परपर्याय भी ऐसे ही तुच्छरूप होनेके कारण उसके साथ घटका सम्बन्ध ही किस तरह हो सकता है। क्योंकि जो कुछ तुच्छरूप होता है उसमें किसी प्रकारकी शक्ति नहीं होती, इससे उसमें सम्बन्ध शक्ति भी कहाँसे हो? दूसरी एक यह बात भी है कि यदि घटमें परपर्यायोंका नास्तित्व है तो उसके साथ याने नास्तित्वके ही साथ घटका सम्बन्ध हो यह तो उचित है, परन्तु परपर्यायोंके साथ उसका सम्बन्ध किस तरह घट सकता है? क्योंकि घटका सम्बन्ध पटाभाव (पटके नास्तित्व) के साथ है इससे घटका सम्बन्ध पटके साथ ही हो ऐसा कभी नहीं देखा और न ही कभी सुना है। यदि यहाँपर यह माना जाय कि परपर्यायोंके नास्तित्वके साथ घटका सम्बन्ध है अतः घटका सम्बन्ध परपर्यायोंके साथ भी हो सकता है तो फिर यह भी मानना चाहिये कि घटका सम्बन्ध पटके नास्तित्वके साथ है अतः पटके साथ भी उसका सम्बन्ध होना चाहिये। परन्तु यह मान्यता सर्वथा असत्य होनेसे किसी को भी मान्य नहीं हो सकती और इस प्रकार परपर्यायोंके साथ घटका किसी तरहका सम्बन्ध हो यह बात यथार्थ मालूम नहीं देती। इस बातका समाधान इस प्रकार किया जाता है—

नास्तित्वका अर्थ यहाँपर ऐसा समझना चाहिये कि उस स्वरूपमें उनका न होना, अर्थात् घटमें पटका—वस्त्रका नास्तित्व याने घट वस्त्ररूपमें नहीं परन्तु अपने-घटरूपमें है। इस प्रकारका अर्थवाला नास्तित्व उस वस्तुका धर्म है, अतः वह कुछ सर्वथा तुच्छ रूप नहीं गिना जा सकता, और ऐसा होनेसे ही नास्तित्वका सम्बन्ध घटके साथ न हो यह भी नहीं बन सकता। क्योंकि घड़ा कपड़ेरूपमें नहीं है ऐसा कहनेमें, अर्थात् घटकी सत्ताको मालूम करनेमें वह घड़ा कपड़ेरूपमें नहीं है इस भावकी भी खास आवश्यकता पड़ती है। वस्त्रमें जो जो गुणधर्म और स्वभाव रहे हुये हैं वे घटमें नहीं हैं इस रूपसे घट नहीं है, परन्तु वह घट रूपमें ही है। इससे यह बात स्पष्टतया जानी जा सकती है कि घट अपना स्वरूप मालूम करते हुए पटरूपमें नहीं है, इस विशेषणकी

खास अपेक्षा रखता है। इससे जो जो गुण या स्वभाव पटके हैं वे भी एक प्रकारसे घटके उपयोगमें आ जाते हैं और इसी अपेक्षासे विचार किया जाय तो स्पष्टतया ही यह मालूम हो सकता है कि पट भी घटके साथ सम्बन्ध धारण किये हुये है, फिर चाहे वह सम्बन्ध नास्तित्व रूपमें ही क्यों न हो। यह बात सब ही जानते हैं कि घट, पटरूपमें नहीं है अतः घट और पटका एक दूसरेका परस्पर सम्बन्ध नास्तित्वरूपसे है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। बहुतसे लोग तो इन घट पट वगैरह पदार्थोंके विषयमें यह समझ रहे हैं कि ये समस्त पदार्थ परस्पर अभावरूप हैं, अर्थात् घट पटके अभावरूप है और पट घटके अभावरूप है, इसे लिये यहाँ पर यह मालूम किया जाता है कि जो पट वगैरहके गुण या धर्म हैं उन सबका उपयोग एक अपेक्षासे घटके लिये भी होसका है। यहाँ पर यह भी एक नियम है कि जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है वे सब उसके पर्याय कहे जाते हैं। घटके रूप वगैरहका सम्बन्ध घटके साथ है अतः वे रूप वगैरह जैसे घटके पर्याय कहलाते हैं वैसे ही पटके (वस्त्रके) धर्मों या गुणोंका भी सम्बन्ध किसी अपेक्षासे घटके साथ होनेके कारण वे भी घटके ही पर्याय कहे जा सकते हैं। यदि वे पट-वगैरहके गुण या धर्म न होते तो घटके निजी पर्यायोंको भी स्वपर्यायतया किस तरह माना जा सकता था? क्योंकि जब हमारा और दूसरेका, ऐसे दो वस्तुयें होती हैं तब ही ऐसा व्यवहार हो सकता है, अर्थात् ये गुण घटके निजी हैं और वे गुण दूसरेके हैं ऐसा व्यवहार हो सकता है और इस अपेक्षासे भी पट वगैरहके गुण या धर्म घटके उपयोगमें आ सकते हैं। इसी लिये ये परगुण भी घटके साथ सम्बन्ध रख सकते हैं। तथा पदार्थ मात्रका स्वभाव स्वतंत्र है- किसी पदार्थका स्वभाव दूसरे पदार्थके स्वभावके साथ निश्चित हुआ नहीं है। अतः जब किसी भी पदार्थका यथार्थ स्वरूप जानना हो तब साथ ही यह भी जानना चाहिये कि दूसरे कौन २ से पदार्थ हैं और उनके स्वभाव कैसे कैसे हैं? इस प्रकारके ज्ञानके सिवाय कोई भी मनुष्य पदार्थका पृथक्करण नहीं कर सकता, एवं उसके

स्वभावको भी नहीं जान सकता। इस प्रकार विचार करनेसे यह मालूम हो सकता है, कि एक घटका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उससे भिन्न दूसरे अनेक पदार्थों और उनके स्वभावोंको जाननेकी खास आवश्यकता है अतएव यह निश्चित करना उचित है कि जो पटके गुण या धर्म हैं वे भी किसी अपेक्षासे घटके हो सकते हैं और हैं। इस विषयमें भाष्यकारने यह फर्माया है कि—"जिसके जाननेसे जिसका ज्ञान न हो सके और जिसके जाननेसे जिसका ज्ञान हो सके उन दोनोंके बीच निश्चित रूपसे किसी प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये। जैसे घड़ा और उसके रुप वगैरह गुणोंके बीच धर्मधर्मी भाव नामक सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध इन दोनोंके बीचमें भी क्यों न हो सके?" अतः अब यह बात निश्चित होती है कि जो पट वगैहरके गुण या धर्म हैं वे किसी अपेक्षासे घटके साथ भी सम्बन्ध रखते हैं। जो परपर्याय हैं वे स्वपर्यायोंकी अपेक्षा अनन्त गुण अधिक हैं और वे दोनों मिलकर उतने ही हैं कि जितने सर्व द्रव्योंके पर्याय हैं। इस विषयकी महर्षियोंने भी आचा*-रांग सूत्रमें पुष्टि की है। उसमें लिखा है कि "जो एकको जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एकको भी जानता है" अर्थात् जो मनुष्य मात्र एक ही पदार्थको उसके समस्त स्वपरपर्यायों सहित, याने उसकी अतीतदशा, वर्तमान दशा और भविष्यकी दशा इन सबको जानता हो वही मनुष्य सब जान सकता है और जो मनुष्य सबको याने पदार्थकी अतीत दशा वगैरहको जानता हो वही एक पदार्थको यथार्थ रीतिसे जान सकता है। इसी विषयको अन्यत्र भी इस प्रकार वर्णित किया है—"जिसने सर्व प्रकारसे एक पदार्थको देखा है उसने सर्व प्रकारसे सर्व पदार्थोंको देखा है और जिसने सर्व प्रकारसे सर्व पदार्थोंको देखा है उसने एक पदार्थको भी सर्व रीतिसे देखा है।" ऊपर कथन किया गया था कि प्रमाण द्वारा जिस जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मवाला है,

---

* देखिये—आचारांग सूत्रका अ. ३, उ, ४ (प्री. १७१ स.)

अर्थात् प्रमाणका विषय अनन्त धर्मवाली ही वस्तु है, यह विषय अब सर्वथा विवादरहित हो चुका है।

अब सूत्रकार स्वयमेव ही प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणका स्वरुप इस प्रकार बतलाते हैं—

जो ज्ञान अपरोक्षतया अर्थको ग्रहण करता है उसका नाम प्रत्यक्ष है और इसके सिवायका दूसरा ज्ञान सिर्फ अर्थके ग्रहण की अपेक्षासे परोक्ष है यों समझना चाहिये ।५६

अपरोक्षतया याने साक्षात् अस्पष्टतया या संदेहरुपसे नहीं। अर्थ याने ज्ञानका निजी स्वरूप और दूसरे समस्त बाहरके घट, चटाई, पुस्तक, वगैरह पदार्थ--जो दोनों ऊपर बतलाये गये हैं उनके सिवाय जो दूसरा लक्षण प्रत्यक्षके साथ लगाया जाता है वह यथार्थ मालूम नहीं देता। प्रत्यक्षज्ञान परोक्षज्ञानसे सर्वथा भिन्न प्रकारका है इसी लिये यहाँपर 'अपरोक्षतया' शब्दका सम्बन्ध प्रत्यक्षके साथ किया गया है।

कितने एक ज्ञान वादियोंका अभिप्राय इस प्रकार है, वे कहते हैं कि हे आर्हतो! (जैनियों!) आप पदार्थोंको कहाँसे लाये? इस संसारमें ज्ञानके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, जो देखनेमें आता है वह सब कुछ एक ज्ञानरूप ही है, अतः आप अर्थ याने सिर्फ एकले ज्ञानका स्वरुप ही कहो, परन्तु अर्थ याने अन्य समस्त पदार्थ, ऐसा कहना अनुचित है। क्योंकि सब कुछ मात्र एक ज्ञान रूप ही होनेसे अन्य कोई उससे जुदा पदार्थ नहीं है। ज्ञानवादियोंका यह अभिप्राय ठीक नहीं है और ऐसा जतानेके लिये ही सूत्रकारने मूल श्लोकमें 'ग्रहणेक्षयः' अर्थके ग्रहणकी अपेक्षासे यह शब्द रक्खा हुआ है। यह शब्द रखनेसे ज्ञान, ग्रहण और पदार्थ एवं तीनों ही पदार्थ भिन्न २ मालूम हो सकते हैं, अतएव यह शब्द ज्ञानवादियोंके अभिप्रायकी अनुचितता समझा सकता है। तथा जैसे ज्ञान अपने स्वरूपका ग्रहण करता है वैसे ही बाहरके पदार्थोंका भी ग्रहण कर सकता है। यदि ऐसा न हो तो इन समस्त जान-

नेवालोंको जो कुछ निश्चित भास हुआ करता है वह किस तरह हो? यदि इसके सामने यों कहा जाय कि सबको मात्र एक चित्रूपका—ज्ञानका ही भास होता है परन्तु पदार्थोंका भास नहीं होता, अतः एकला ज्ञान ही है और उसके सिवाय अन्य कोई पदार्थ नहीं, यह कथन किस तरह असत्य गिना जाय? इसका उत्तर इस प्रकार है—यदि ज्ञानवादी संसारमें एकला ज्ञान ही मानें और अन्य कुछ अस्तित्ववाला न मानें तो फिर वे जो जुदे २ ज्ञानके सन्तान (प्रवाह) मानते हैं वे किस तरह माने जायँ? तथा वे खुद ही यह कहते हैं कि जैसे स्वप्नका ज्ञान किसी प्रकारके आलम्बनकी गरज नहीं रखता वैसे ही संसारमें पैदा होते हुये दूसरे समस्त ज्ञान भी किसी तरहके आलम्बनकी (पदार्थकी) गरज नहीं रखते। इसी प्रकार और उदाहरणसे उनके माने हुय भिन्न २ ज्ञानसंतान भी असत्य साबित होते हैं और उन्होंकी दशा स्वप्नके ज्ञान जैसी ही होगी। अतः ज्ञान और अर्थ (पदार्थ) इन दोनोंको वास्तविक और भिन्न २ मानना चाहिये। जो प्रत्यक्षका स्वरूप बतलाया है उससे भिन्न प्रकारके ज्ञानको परोक्ष समझ लेना चाहिये, क्योंकि उस ज्ञानके द्वारा अर्थका ग्रहण तो होता है, किन्तु वह अस्पष्टतया होता है। यद्यपि परोक्ष ज्ञान भी अपना स्वरूप अपने आप ही जाननेवाला होनेसे प्रत्यक्षरूप है, परन्तु मात्र अर्थके ग्रहणकी अपेक्षासे ही उसे परोक्ष समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यद्यपि परोक्ष ज्ञान अपने स्वरूपका ग्रहण स्वयं ही करता है-अतः वह प्रत्यक्षरूप है तथापि पदार्थको ग्रहण करनेमें चिन्ह और शब्द वगैरहकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे वह अस्पष्टतया उपयोगमें आता है और इसी लिये उसे परोक्ष कहते हैं।

पहले वस्तुका अनन्त धर्म धारकत्व समझाया जा चुका है, अब उसी विषयको विशेषतः मजबूत करनेके लिये शास्त्रकार इस प्रकार फर्माते हैं—

जिस वस्तुमें उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ये तीनों ही धर्म समाये हों वही वस्तु सद्रूप है और इसी लिये पहले यह कहा गया है कि प्रमाणका विषय अनन्त धर्मवाली वस्तु है ॥

जो जो वस्तु सद्रूप हैं याने जो जो वस्तु अस्तित्व रखती हैं उन सबमें उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ये तीनों ही धर्म होने चाहियें, तीनों धर्म हों तब ही वस्तुमात्र अस्तित्व रख सकती है, परन्तु इसके विना कदापि एक भी वस्तु विद्यमा, नता धारण करनेके योग्य नहीं हो सकती । जो वस्तु प्रथम सर्वथा अस्तित्व रहित हो, याने किसी भी कालमें किसी भी स्थानमें और किसी भी प्रकारसे जो वस्तु विद्यमान ही न हो- अर्थात् वंध्या पुत्रके समान सर्वथा असत् हो उसमें पीछेसे विद्यमानता धारण करनेकी योग्यता याने सद्रूपता आ नहीं सकती । यदि ऐसी वस्तुमें भी अस्तित्व रखनेकी योग्यता आ सकती हो तो फिर खरगोशके सींग भी किसी समय अ- स्तित्व धारण करनेकी योग्यतावाले होने चाहियें, आकाशके कुसुममेंसे भी किसी समय सुगन्ध आनी चाहिये और वन्ध्या पुत्रका भी किसी न किसी समय विवाह होना चाहिये । परन्तु ऐसा हुआ तो आजतक किसीने न तो कभी देखा है और न कभी सुना है । अतः सर्वथा विद्यमानता रहित वस्तुमें फिरसे विद्यमानता धारण करनेकी योग्यता आ नहीं सकती । जिस वस्तुमें विद्यमान रहनेका धर्म रहा हुआ ही है उस वस्तुमें फिरसे उत्पाद वगैरहकी कल्पना करना उचित मालूम नहीं देता । यदि ऐसी वस्तुमें भी फिरसे उत्पाद वगैरहकी कल्पना की जाय तो फिर उसका कहींपर भी अन्त न आयगा, अतः यहाँपर यह एक प्रश्न है कि जो उत्पाद वगैरह धर्म हैं वे किस प्रकारके पदार्थके मानने चाहियें ? क्या पहले असत् रहते हुए पदार्थके मानने चाहियें या सत् रहते हुये पदार्थके ? इस बातका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है ।

यहाँपर जिन उत्पाद वगैरहको मालूम किया गया है वे किसी

भी वस्तुमें पीछेसे नहीं आते, वे वस्तुके धर्म ही हैं और हमेशह वस्तुके साथ ही रहते हैं। वे वस्तुको छोड़कर जुदे २ नहीं रहते। उपरोक्त प्रश्न तब ही उठ सकता है और उसमें बतलाया हुआ दूषण भी तब ही लागु पड़ सकता है कि जब वस्तुसे वे उत्पाद वगैरह सर्वथा जुदे हों और वे समस्त वस्तुमात्रमें फिरसे उत्पन्न होते हों। परन्तु यहाँपर वस्तुस्थिति वैसी नहीं है, अतः उपरोक्त प्रश्न या एक भी दूषण लागू नहीं पड़ सकता। इस विषयमें हम यह विदित करते हैं कि जो वस्तु उत्पत्तिरूप, स्थितिरूप और विनाशरूप हो वही अस्तित्व धारण कर सकती है और वैसी ही वस्तु अस्थित्व धारण करनेके योग्य है। अतः हमारे इस कथनमें किसी भी प्रकारके दूषण या प्रश्नको स्थान ही नहीं मिल सकता कोई भी पदार्थ अपने निजत्वको नष्ट नहीं कर सकता और उसमें नवीन निजत्व भी नहीं आता, अर्थात् मूल द्रव्यकी अपेक्षासे किसी वस्तुकी उत्पत्ति या विनाश नहीं हो सकता। जैसे घटका मूलरूप मट्टी है, यदि अब वह घड़ा फूट जाय तथापि मट्टीका नाश नहीं हो सकता,वैसे ही वह मट्टीरूप होनेसे उसमें यह कुछ नवीन नहीं आया। याने घटके परिवर्तित होते हुए अनेक रुपान्तरोंमें उसका मूलरूप मट्टी कायम ही मालूम दिया करती है, अतः यह मानना चाहिये कि मूलद्रव्यका कदापि नाश नहीं हो सकता। परन्तु जो परिवर्तन होता है वह मात्र उसके आकारोंमें ही हुआ करता है। कदाचित् कोई यों कहे कि जैसे एक दफा नख उतराये बाद वह फिर आ जाता है और उस वक्त हमें यह मालूम देता है कि यह नख वही है कि जो पहले था, वैसे ही मूल द्रव्य भी परिवर्तित हुआ ही करता है परन्तु उसके रुप वगैरह एकसरीखे होनेसे हम उस नखके समान भ्रमित बनते हैं कि यह वही मूलद्रव्य है। अर्थात् नखके समान ही मूलद्रव्यका भी नाश हो जाता है अतः मूलद्रव्यको स्थायी कैसे माना जाय? इस कथनका उत्तर इस प्रकार है—

नखका उदाहरण सर्वथा असत्य है, इसलिये वह यहाँपर चरितार्थ ही नहीं हो सकता। क्योंकि यह बात सब ही जानते हैं कि

नख कटगये बाद फिर दूसरा ही जमता है अतः नये नखको भी वहका वही मानना यह बड़ी भारी भूल है। द्रव्यरूप मूलका कदापि नाश होता हुआ और उसके स्थानमें दूसरा मूल आता हुआ आजतक किसीने भी नहीं देखा और न ही किसीने इस वातका आजतक अनुभव किया है। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि मूलद्रव्य भी नखके समान परिवर्तित हुआ करता है? और वह पहला ही वढ़ा करता है, वह नखके जैसा भ्रमवाला है? कोई भी मनुष्य यह नहीं मानता कि सुवर्णकी कंठी तोड़कर कड़े वनवाये वाद वह सुवर्ण वदल जाता है और उसकी जगह दूसरा ही सुवर्ण आता है। किन्तु सब ही मनुष्य सुवर्णके अनेक घाट घड़ाये वाद भी सुवर्णकी एकरूपताको ही एकमतसे स्वीकृत करते हैं। अतः किसी प्रकार भी द्रव्यका नाश संघटित नहीं हो सकता और वैसा मानना भी अनुभव एवं व्यवहारसे विरुद्ध है। अर्थात् द्रव्यरूपसे तो पदार्थ मात्र स्थिर ही रहता है परन्तु उसके आकार परिवर्तित हुआ करते हैं, नये उत्पन्न होते हैं पुरानोंका नाश होता है, इस प्रकारकी सत्य घटनामें किसी तरहका दूषण मालूम नहीं देता। क्योंकि सवको ऐसा ही अनुभव होता है हुआ है और हुआ करता है। अव कदाचित् कोई यह कहनेका साहस करे कि श्वेत शंखमें जैसे पीले रंगका भास होता है और वह असत्य है वैसे ही वस्तुमें होते हुए परिवर्तन कि जिन्हें यहाँपर पर्याय कहा गया है वह शंखके पीले रंगके समान असत्य ही क्यों न माने जायँ? इस वातका उत्तर इस प्रकार है—

शंखमें जो पीले रंगका भास होता है वह कुछ सवको ही नहीं होता, वह तो मात्र जिसे पाण्डु याने पीलिया रोग हुआ हो उसे ही वैसा मालूम होता है अतः वह भ्रमित है इस वातको सव ही मानते हैं। परन्तु सुवर्णकी मालाका कड़ा वना, कड़ेकी अंगुठी वनी, अंगुठीका छल्ला वना, और छल्लेकी चेन वनी, इस प्रकार जो सुवर्णके अनेक रूप हुआ करते हैं-प्रथमके आकारोंके नाश होकर उनके स्थानमें नये आकार पैदा हुवा करते हैं इस वातको समस्त संसार एक समान जानता है, मानता है और अनुभवमें लाता है। अतः

इस अनुभवको शंखके उदाहरणसे किसी तरह भी असत्य साबित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जीवमें हर्ष, शोक, उदासीनता और क्रोध वगैरह नये नये रंग पैदा होते हैं इस बातका भी सब ही अनुभव करते हैं, अतः इस समस्त परिवर्तनका ज्ञान किसी तरहकी भूलवाला नहीं है। क्योंकि यह भूलभरा है यह बात किसी प्रकार साबित नहीं हो सकती। इससे यह बात दूषणरहित और निर्विवाद सिद्ध होती है कि पदार्थमात्र उसके मूल रूपसे द्रव्यरूपमें स्थिर रहता है और उसके पूर्वकालीन आकार नाश होकर वे नये आकारोंको धारण करते हैं। अर्थात् पदार्थमात्रमें उत्पत्ति,स्थिति और विनाश ये तीनों गुण सर्वथा सरल रीतिसे घटते हैं। यदि यहाँपर यह सवाल किया जाय कि उत्पत्ति स्थिति और विनाश ये तीनों वस्तु सर्वथा भिन्न २ हैं या नहीं? इसके उत्तरमें यदि यों कहा जाय कि ये तीनों वस्तुयें परस्पर सर्वथा भिन्न २ हैं तब फिर एक ही पदार्थमें तीनों किस तरह घट सकते हैं? और कदाचित् यों कहा जाय कि वे तीनों परस्पर एकरूप हैं तो भी एक ही पदार्थमें वे तीनों किस तरह रह सकते हैं? क्योंकि वे तीनों जब एकरूप हैं तो उन्हें तीन ही नहीं कहा जा सकता। इस तरह उत्पत्ति स्थिति और विनाश इन तीनोंका परस्पर इस प्रकारका सम्बन्ध है इस बातका निराकरण नहीं हो सकता। इन तीनोंके पारस्परिक सम्बन्धका निराकरण इस प्रकार है-

ये तीनों धर्म परस्पर कुछ सर्वथा भिन्न ही हैं ऐसा नहीं है और परस्पर सर्वथा एक ही हैं ऐसा भी नहीं। इन तीनों में किसी अपेक्षासे जुदाई और किसी अपेक्षासे एकता भी है। जिस प्रकार एक ही घटमें रहनेवाले रूप रस गन्ध और स्पर्श वगैरह परस्पर भिन्न २ होते हैं वैसे ही एक ही पदार्थमें रहनेवाले उत्पत्ति स्थिति और विनाश ये तीनों भी परस्पर भिन्न हो सकते हैं। क्योंकि इन तीनोंके स्वरूप सर्वथा जुदे प्रकारके हैं। उत्पत्ति याने अस्तित्वको धारण करना, स्थिति कायम रहना और नाश याने अस्तित्वका त्याग कर देना। इस तरह इन तीनोंके स्वरूप भिन्न २ होनेसे ये तीनों परस्पर जुदे २

हैं, यह वात सव ही जान सकते हैं। अब कदाचित् ऐसा कहा जाय कि इन तीनोंके जो स्वरूप कथन किये गये हैं उनपरसे यह मालूम होता है कि वे तीनों परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते ऐसा होनेसे ही वे तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न २ ही हैं ऐसा क्यों नहीं कहा जाय? जो पदार्थ परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता वह सर्वथा भिन्न ही होता है और इसी प्रकार तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न २ क्यों न हो सकें ? विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि यह प्रश्न ही सर्वथा निर्मूल है। क्योंकि इन तीनोंके लक्षण-स्वरूप परस्पर सर्वथा जुदे २ हैं। तथापि ये तीनों इस प्रकार परस्पर अपेक्षावाले हैं। स्थिति और नाशके विना एकला उत्पाद-(उत्पत्ति) रह नहीं सकता, स्थिति और उत्पत्तिके विना एकला विनाश नहीं टिक सकता ऐसे ही उत्पत्ति और विनाशके विना स्थिति भी नहीं रह सकती। इस प्रकार ये तीनों परस्पर एक दूसरेके मुंहकी ओर देखकर ही जीने वाले हैं अतः ये तीनों परस्पर अपेक्षा रखकर एक ही वस्तुमें रह सकते हैं ऐसा माननेमें कुछ भी दूषण मालूम नहीं देता। इसी कारण एक पदार्थको भी एक ही साथ तीन धर्मवाला कहनेमें किसी तरहकी हरकत मालूम नहीं होती और नाशके विना तथा कहींपर इस तरह भी वतलाया गया है कि--" सुवर्णका घट टूट गया इससे राजपुत्रीको शोक हुआ, उस टूटे हुए घड़ेका मुकुट बनवाया इससे राजपुत्रको आनन्द हुआ और उन पूर्वके तथा पीछेके आकारोंमें सुवर्ण वैसा ही कायम रहा जानकर राजा स्वयं तटस्थ ही रहा। अर्थात् यहाँपर पूर्वके आकारका नाश हुआ नवीन आकार उत्पन्न हुआ और इन दोनों आकारोंमें स्थायि रहनेवाला मूल द्रव्य सुवर्ण सर्वथा ध्रुव रूपसे रहा इस परसे ही मालूम हो सकता है कि एक ही पदार्थमें ये तीनों धर्म रह सके हैं और इसी प्रकार पदार्थ मात्रमें ये तीनों धर्म रह सकते हैं यह वात अनुभव सिद्ध है।" घटके अर्थीको उसका नाश होनेसे शोक हुआ, मुकुटके अर्थीको उसकी उत्पत्ति होनेसे आनन्द हुआ और सुवर्णका अर्थी सुवर्णके स्थायित्वसे तटस्थ रहा, यह सब कुछ सहेतुक हुआ है।" " दूधके व्रतवाला दही नहीं खाता,

दहीके व्रतवाला दूध नहीं पीता, और गोरसकी प्रतिज्ञावाला इन दोनोंको ही नहीं खाता, अतः वस्तुमात्रमें तीन धर्म हैं।" जो मनुष्य इस तरह नहीं मानता उससे यह प्रश्न पूछना चाहिये कि जब घटका विनाश होता है तब क्या वह घट अपने एक भागसे नाशको प्राप्त होता है या समस्ततया याने सर्व प्रकारसे नाशको पाता है? यदि यों कहा जाय कि वह घट अपने एक भागसे विनाशको प्राप्त होता है तो यह यथार्थ नहीं। क्योंकि घट यदि अपने एक भाग द्वारा ही नाश पाता हो तब फिर उसका समूचेका नाश नहीं होना चाहिये। परन्तु जब घड़ा फूटता है उस वक्त कोई भी प्रामाणिक मनुष्य यह कदापि नहीं कहता कि घटका एक भाग नाश हो गया, किन्तु सब ऐसा ही कहते हैं कि सारे—घड़ेका नाश हुआ। यदि कदाचित् ऐसा कहा जाय कि घटका सर्व प्रकारसे नाश होता है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि घटका सर्व प्रकारसे नाश होता हो तो फिर घटके फूटे बाद उसके ठींकरे और मिट्टी तक भी न रहनी चाहिए, परन्तु घटके फूट जानेपर ठींकरे और मट्टी बाकी रहते हैं यह बात सब ही जानते हैं और नजरसे देखते हैं अतः यह कैसे माना जाय कि घटका सर्व प्रकारसे नाश हो जाता है? इस प्रकार इन दोनों पक्षमें दूषण आनेके कारण उस मनुष्यको जबरदस्ती यह मानना पड़ेगा कि घट रूपसे नाश होता है और ठींकरोंके रूपमें उत्पन्न होता है एवं मिट्टीरुपमें स्थिर रहता है। तथा हम उस मनुष्यको यह भी पूछ सकते हैं कि जिस वक्त घट उत्पन्न होता है तब क्या वह एक भागसे उत्पन्न होता है, या सर्व प्रकारसे? यदि यों कहा जाय कि घट एक विभागसे उत्पन्न होता है तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि जब घट उत्पन्न होकर तैयार होता है तब कोई ऐसा नहीं मानता कि यह घड़ा इसके एक भागसे उत्पन्न हुआ है, परन्तु सब ऐसा ही मानते हैं कि सम्पूर्ण घट उत्पन्न हुआ है और व्यवहार भी इसी प्रकार चलता है। यदि यों कहा जाय कि घट अपने सर्व प्रकारों द्वारा उत्पन्न होता है, तो यह भी यथार्थ नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो घड़ा सर्व प्रकारसे उत्पन्न हुआ—होनेके कारण

उसमें मट्टीकी प्रतीति भी न होनी चाहिये, परन्तु ऐसा तो किसी को अनुभव नहीं होता, इस लिये यह मान्यता भी ठीक नहीं कही जा सकती। सत्य तो यह मानना चाहिये कि जब घड़ा उत्पन्न होता है तब वह घट रूपमें उत्पन्न होता है, मट्टीके पींड रूपमें नाश पाता है और मात्र मट्टी रूपमें ही स्थिर रहता है, इस प्रकारकी मान्यताका सब ही को अनुभव होता है अतः इसमें कोई दूषण मालूम नहीं देता। जिस तरह का अनुभव सब लोगोंको होता हो उस तरहका पदार्थका स्वरुप न माना जाय तो कदापि वस्तुकी व्यवस्था नहीं हो सकती इस लिये जैसा अनुभव होता है वैसा ही पदार्थका स्वरुप भी मानना चाहिये और ऐसा माननेसे ही इस तरहकी सर्व व्यवस्था घट सकती है। जो वस्तु नाश पाचुकी है वही किसी अपेक्षासे नाश पाती है और नाश पायेगी। जो वस्तु उत्पन्न हो चुकी है वही किसी अपेक्षासे उत्पन्न होती है और उत्पन्न होगी, जो वस्तु स्थिर रही हुई है वही किसी अपेक्षासे स्थिर रहती है और स्थिर रहेगी। तथा जो वस्तु किसी प्रकार नाश पा चुकी है वही किसी प्रकार उत्पन्न हुई है और किसी प्रकार स्थिर रही है। इसी तरह जो किसी प्रकारसे नाश पाता है वही किसी प्रकारसे उत्पन्न होता है और स्थिर रहता है और जो किसी प्रकारसे नाश पायेगी वही किसी प्रकारसे उत्पन्न होगी और स्थिर रहेगी इत्यादि। इस प्रकार पदार्थ मात्रमें अन्दर और बाहर सर्वत्र उत्पत्ति स्थिति विनाश होता है और सब ही इस बातका प्रत्यक्षतया अनुभव करते हैं। अनुभवमें आती हुई यह सत्य हकीकत कदापि असत्य नहीं हो सकती। इस अनुभवपरसे इस प्रकार एक नियम बांधा जा सकता है कि वस्तुमात्र उत्पत्ति, स्थिति, और विनाशके धर्मवाली है और ऐसी होने पर वह वस्तु विद्यमानता धारण करनेकी योग्यता रख सकती है। जो जो वस्तुयें इन तीनों धर्म रहित हैं उन सबमें खर-गोसके सींगके समान कदापि विद्यमानता धारण करनेकी योग्यता हो नहीं सकती अर्थात् इन तीनों धर्मकी विद्यमानता ही वस्तुकी सद्रूपताका मुख्य लक्षण है। नैय्यायिकों और बौद्धोंने वस्तुकी

सद्रूपताका जो स्वरूप वतलाया है वह यथार्थ नहीं है और उसकी यथार्थता अन्य ग्रन्थों परसे समझ लेनी चाहिये। पदार्थ मात्र उत्पत्ति, स्थिति और विनाशरूप होनेसे ही विद्यमानता रख सकता है और ऐसा होनेपर ही प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणके द्वारा वह मालूम हो सकता है। वस्तुमात्रमें सत्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व और वस्तुत्व वगैरह अनन्तधर्म रहे हुये हैं, अर्थात् वस्तुमात्र अनन्त धर्मवाली, अनन्त पर्यायरूप और अनेकान्त रूप है। वस्तु शब्दका अर्थ यहाँपर जीव और अजीव वगैरह समझना चाहिये कि जिसके विषयमें पहले वहुत कुछ कहा जा चुका है। जो पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति इन तीन धर्म सहित हो वही अनन्तधर्मवाला हो सकता है, और ऐसा ही पदार्थ प्रमाणके द्वारा जाना जा सकता है। पदार्थमात्रमें अनन्त धर्म रहते हैं। इस वातकी सिद्धिके लिये पहले वहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस विषयमें अव यहाँपर यह एक अनुमान ही पर्याप्त है।

पदार्थमात्रमें उत्पाद, नाश और स्थिरता ये तीनों धर्म रहे हुये हैं अतएव उसमें अनन्त धर्म रह सकते हैं। जिस पदार्थमें अनन्त धर्म न हों; उसमें ये तीन धर्म भी नहीं रह सकते। ऐसी सर्वथा असत् वस्तु तो मात्र एक आकाश कुसुमकेसी ही है। प्रत्येक पदार्थमें उसके धर्म पैदा होते हैं और वे ही नाश पाते हैं एवं उन धर्मोंको धारण करनेवाला धर्मी द्रव्यरूपसे सदैव स्थिर रहता है। धर्म और धर्मी इन दोनोंमें किसी अपेक्षासे अभेद भाव होनेसे और धर्मी सदैव स्थिर रहनेवाला होनेके कारण वे धर्म भी किसी अपेक्षासे शक्तिरूपमें सदैव स्थिर रहते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो उन धर्मोंका नाश हो जानेसे धर्मीका भी नाश हो जाना चाहिये। अतः किसी अपेक्षासे धर्मोंको भी स्थिर मानना, यह समुचित ही है। धर्म और धर्मीके वीचमें सर्वथा भिन्नत्व या सर्वथा एकत्व नहीं होता, क्योंकि उन दोनोंमें इस प्रकारका सम्बन्ध मालूम नहीं देता। यदि धर्म और धर्मीमें सर्वथा भिन्नत्व या एकत्व माना जाय तो उन दोनोंका धर्मधर्मीभाव ही नहीं घट सकता। अतः उन दोनोंका किसी अपेक्षासे भिन्नत्व और किसी अपेक्षासे एकत्व मानना योग्य और दूषणरहित है।

कदाचित् कोई यह कहे कि उत्पन्न होते हुये और नाश पाते हुए मात्र अकेले धर्म ही हैं परन्तु उन धर्मोंका आधार ऐसा कोई धर्मी नहीं है, तो यह कथन अनुचित है, क्योंकि किसी पदार्थके आधार विना अकेले धर्म हो नहीं सकते, रह नहीं सकते और संभवित भी नहीं हो सकते। किन्तु वे समस्त धर्म एक धर्मीरूप पदार्थमें ही रहते हुये अनुभव होते हैं और यह बात हरएक मनुष्यको मान्य है। यद्यपि उत्पन्न होते हुए और विनाश पाते हुए अनेक धर्मोंको हम जान सकते हैं और उन सर्व धर्मोंका आधार एवं अनेक धर्ममय ऐसा एक धर्मी कि जो द्रव्यरूपमें ध्रुव रहता है उसे भी सब मनुष्य सर्वथा निर्विवाद प्रत्यक्षतया अनुभवमें लाते हैं। उसे कोई किस तरह पहचान सके? जिसका अनुभव हमें नजरों नजर होता हो, यदि उसे भी पहचाना जाय तो संसारके व्यवहार मात्रका नाश होनेका प्रसंग आयगा। अतः किसी तरह उन सब धर्मोंके आधाररूप पदार्थको-धर्मवालेको-कोई भी मनुष्य पहचान नहीं सकता। अन्तमें कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मवाला है, यह बात अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुकी है और अब एक भी शंकाको अवकाश नहीं मिल सकता। इस विषयको विशेष पुष्टि देनेवाला एक अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मवाली है अर्थात् वस्तुमात्रमें नित्य, अनित्य, सत्, असत्, सामान्य, विशेष, वक्तव्य और अवक्तव्य आदि अनेक धर्म रहे हुये हैं, क्यों कि इस प्रकारका हरएक मनुष्यको अनुभव हुआ करता है। यथार्थ रीतिसे विचार किया जाय तो हम जिस प्रकारका प्रामाणिक अनुभव करते हों, उसी प्रकारका पदार्थोंका स्वरूप मानना चाहिये। जैसे हम घटको घट रूपमें मानते हैं परन्तु पट रूपमें नहीं मानते। वैसे ही हमें अपने अनुभवके अनुसार प्रत्येक पदार्थको अनन्त धर्मवाला मानना चाहिये। प्रत्येक चीज अनन्त धर्मवाली है। इस बातको साबित करनेके लिये जो अनुभव रूप हेतु कहा है वह कुछ असिद्ध नहीं है, विरोधवाला नहीं है, एवं अन्य भी किसी प्रकारका दूषण उसे स्पर्श नहीं करता। क्यों कि यह अनुभव सर्वथा निर्दोष है, ऐसा अनुभव

सबको होता है और वह युक्तियुक्त होनेसे उसे सब ही मंजूर कर सकते हैं। अतः कदाचित यों कहा जाय कि-जैसे ठंडी और गरमी दोनों सर्वथा विरुद्ध होनेसे एक साथ नहीं रह सकते। वैसे ही सत्व और असत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व वगैरह परस्पर विरोध धारण करनेवाले धर्म एक ही पदार्थमें किस तरह रह सकते हैं? जो वस्तु सत् हो वह असत् किस तरह हो सकती है? और जो वस्तु असत् हो वह सत् कैसे हो सकती है? यदि सत्वको असत्वरूप और असत्वको सत्व माना जाता हो तो फिर व्यवहार मात्रका नाश होगा--किसी भी पदार्थके स्वरूपका कुछ ठिकाना ही न लगेगा। यही बात एक ही पदार्थको नित्य अनित्य माननेमें भी चरितार्थ हो सकती है। जो वस्तु नित्य हो वह अनित्य किस तरह हो सकती है? और जो वह वस्तु अनित्य हो वह नित्य किस तरह हो सके? इस प्रकार अनेकांतवादमें विरोधी दूषण उत्पन्न होता है। इसके सिवाय अन्य भी आठ दूषण चरितार्थ होते हैं--एक--संशय, दूसरा--अनवस्था, तीसरा--व्याधिकरण, चौथा-संकर, पांचवाँ-व्यतिकर, छठा-व्यवहार लोक, सातवाँ--प्रमाणबाध और आठवाँ-असंभव। इसमें पहला संशय दोष इस प्रकार चरितार्थ होता है--

वस्तुको जिस अंशमें सद्रूप मानी जाती है उस अंशमें यदि वस्तु सद्रूप ही हो तो एकान्तवाद जैसी बात होनेसे अनेकान्त मार्गको हानि पहुँचेगी और यदि ऐसा माना जाय कि जिस अंशमें वस्तुको सद्रूप माना जाता है उसी अंशमें उसे सद्रूप और असद्रूप भी माना जाता है तो उसमें भी प्रश्न उपस्थित होता है।

जिस अंशमें वस्तुको सद्रूप और असद्रूप माना जाता है उस अंशमें भी वस्तु सद्रूप है या असद्रूप है? इस प्रकार प्रश्नोंकी परंपरा हुआ करेगी और एक भी प्रश्नका निराकरण न हो सकेगा। अतः इस तरहकी मान्यतामें स्पष्टरूपसे अनवस्था (अवस्था-रहित स्थिति) ही है। इसी प्रकार जिस अंशमें वस्तुका भेद माना जाता है उस अंशमें यदि भेद ही माना जाय या उसी अंशमें भेद या अभेद ये दोनों माने जायें तो भी उपरोक्त दूषण आते हैं। इसी

तरह नित्यानित्य तथा सामान्य विशेपके पक्ष भी दूपणवाले हैं। इस प्रकार एकान्त मार्गमें अनवस्था दूपण चरितार्थ होता है। तथा वस्तुकी सद्रूपताका भिन्न आधार और असद्रूपताका आधार भिन्न, ऐसे दो आधार होनेसे व्यधिकरण नामक दूपण उपस्थित होता है। तथा जिस रूपमें वस्तुकी सद्रूपता है उसी रूपसें उसकी सद्रूपता और असद्रूपता दोनों हैं। इस प्रकारका संकर दोप भी लागू पड़ता है। क्योंकि एक साथ दोके मिलाप को संकर कहते हैं। तथा जिस रूपमें वस्तु सद्रूप है उसी रूपमें असद्रूप भी है और जिस रूपमें असद्रूप है उसी रुपमें सद्रूप भी। ऐसा माननेसे व्यतिकर नामक दूपण भी चरितार्थ होता है। क्योंकि विषयमें एक दूसरेके मिल जानेको व्यक्तिकर कहते हैं तथा पदार्थमात्रमें अनेकान्तवाद माना जायगा तो पानीको अग्निरूप होनेका और अग्निको पानीरुप होनेका प्रसंग उपस्थित होगा और ऐसा होनेसे व्यवहारका लोप हो जायगा। इस प्रकार व्यवहारलोप नामक छठा दूपण भी लागू पड़ता है। अन्तमें हम (जैनेतर) यह भी कहते हैं कि अनेकांतवाद प्रमाणोंसे भी वाधा पा सकता है। अतएव उसमें प्रमाणवाध नामक दोप चरितार्थ होता है। तथा कोई एक ही वस्तु अनन्त धर्मवाली हो, यह असम्भवित है। अतः अनेकान्तवादमें असंभव नामक दूपण भी चरितार्थ होता है। इस प्रकार अनेकान्तवादमें पूर्वोक्त समस्त दूपण उपस्थित होनेसे अनेकान्तवादका ग्रहण नहीं हो सकता।

उपरोक्त जो जो दूपण अनेकान्तवादको लगाये गये हैं वे सव ही निर्मूल एवं असत्य हैं और उन्हें असत्य सावित करनेकी युक्ति इस प्रकार है:—

प्रथम तो यह कि ठंडी और तापके समान सद्रूप और असद्रूप, ये दोनों धर्म एक दूसरेके साथ किसी तरहका विरोध ही नहीं रखते। क्योंकि ये दोनों एक ही समय एक ही वस्तुमें रह सकते हैं। जंव घटरूपमें घट सत् है तव ही वह घट पटरूपमें असत् है। अतः इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आ सकता। जैसे एक आम्र-फलमें रुप जुदा और रस जुदा होता है तथापि उसमें किसी प्रका-

रका विरोध नहीं गिना जाता, वैसे ही यहाँ पर भी समझ लेना चाहिये। तथा यहाँपर विरोध आनेवाले कौन कौनसे कारण हैं ? क्या मात्र भिन्न भिन्न स्वरुपसे विरोध आता है ? एक कालमें न रहनेसे विरोध आता है ? एक वस्तुमें न रहनेसे विरोध आता है ? एक कालमें एक वस्तुके एक समान भागमें न रहनेसे विरोध आता है ? यदि मात्र भिन्न २ स्वरुपके कारण विरोध आता हो तो वस्तु मात्र भिन्न भिन्न स्वरुपवाली होनेसे परस्पर विरोधवाली होना चाहिये और ऐसा होनेसे संसारमें एक भी पदार्थ न रहना चाहिये। दोनों स्पर्श—ठंड़ा और गरम स्पर्श—जुदे जुदे स्थानमें एक ही समय रह सकते हैं। अतः एक कालमें न रहनेसे विरोध आता है, यह कथन भी यथार्थ नहीं। ये दोनों स्पर्श एक ही वस्तुमें भिन्न भिन्न समयमें रहते हुये होनेसे 'एक वस्तुमें न रहनेसे विरोध आता है' यह बात भी ठीक नहीं है। धूपदान एवं कुरछी वगैरहमें एक ही समयमें ये दोनों स्पर्श रहनेसे एक कालमें एक वस्तुमें न रहनेसे विरोध आता है, यह बात भी असत्य ही है। तथा एक ही लोहेके तपे हुये बरतनमें जहां स्पर्शकी अपेक्षासे उष्णता है वहां भी रूपकी अपेक्षासे शीतलता है। यदि रूपकी अपेक्षासे भी उष्णता हो तो देखनेवालोंकी आंखें जल जानी चाहिये, परन्तु ऐसा न होनेसे यह मानना युक्तियुक्त है कि रूपकी अपेक्षासे उसमें शीतता है। इस प्रकार एक ही पदार्थमें और एक ही समयमें ये दोनों स्पर्श विद्यमान होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि एक ही समय, एक वस्तुमें और एक ही जगह ये दोनों धर्म न रहनेसे विरोध आता है। तथा एक ही पुरुषमें भिन्न भिन्न अपेक्षासे लघुत्व, गुरुत्व, बाल्यत्व, वृद्धत्व तरूणत्व, पुत्रत्व, पीतृत्व, गुरूत्व और शिष्यत्व वगैरह परस्पर विरोध धारण करनेवाले अनेक धर्म एक ही समय रहते हैं और इस बातका सब ही अनुभव भी करते हैं। अतः एक ही पदार्थमें अनेक विरुद्ध धर्म किस तरह घट सकते हैं ? इस प्रकारके प्रश्नको यहाँ पर अवकाश ही नहीं है। जैसे एक पुरूषमें अनेक विरुद्ध धर्म घट सकते हैं वैसे ही प्रत्येक पदार्थमें सत्, असत्, नित्य, अनित्य, सामान्य और विशेष आदि परस्पर विरोध धारण

करनेवाले धर्म भी भिन्न भिन्न अपेक्षासे घट सकते हैं। अतः इस बातमें किसी प्रकारके विरोधकी गंध तक भी नहीं आ सकती। तथा जो संशयका दूषण लगाया गया है वह भी यथार्थ नहीं है क्योंकि वस्तु मात्रमें रहा हुआ सत्व और असत्व सर्वथा स्पष्ट तौरसे मालूम हो सकता है। अतः वस्तुके स्वरूपमें संदेहको भी स्थान नहीं मिलता। संशय तो तब ही हो सकता है कि जहाँ स्पष्टतापूर्वक वस्तुका स्वरूप मालूम न हो सकता हो। आपने जो अनावस्थाका दोष बतलाया है वह भी निर्मूल ही है। क्योंकि सत्व और असत्व वगैरह वस्तुके ही धर्म हैं परन्तु वे कुछ धर्मके धर्म नहीं हैं। 'धर्मोंको धर्म नहीं होते' ऐसा कहा हुआ है। तथा सत्व और असत्व वस्तुके ही धर्म हैं, यह एकान्त पूर्वक कहनेसे अनेकान्तवादको कुछ भी हानि नहीं पहुंच सकती। क्योंकि विशुद्ध एकान्त वगैर अनेकान्तवाद भी संभवित नहीं हो सकता। नयकी अपेक्षासे जाने हुये एकान्तरुप निर्णयोंको प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्तरुप कहते हैं और इस विषयमें किसी प्रकारका दोष भी मालूम नहीं होता। तथा प्रमाणकी अपेक्षासे सिद्ध की हुई सद्रूपतामें भी सत्व और असत्वकी कल्पना की जाय तो उसमें कुछ दोष नहीं आता। इसमें जो अनवस्था बतलाई गई है वह कुछ दूषणरुप नहीं है। बल्कि वह प्रत्युत अनेकान्तवादकी शोभामें वृद्धि कर सकती है। क्योंकि वह मूल वस्तुको हानि नहीं पहुंचा सकती। हां, जो अनवस्था मूलको ही हानि पहुंचाती हो वह बेशक दूषणरुप है। देखिये! प्रत्येक पदार्थ अपने रुपमें सत् है और दूसरेके रुपमें असत् है। जीवका स्वरूप उसका सामान्य उपयोग-ज्ञान है, इससे भिन्न उपयोग उसका पर रूप है। उपयोगका स्वरूप पदार्थका निश्चय है, दर्शनका स्वरुप अस्पष्ट बोध है और इससे भिन्न २ वे सबके पर रुप हैं। परोक्षज्ञानका स्वरुप अस्पष्टता है और सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरुप स्पष्टता है। दर्शनका स्वरूप चक्षुजन्य और अचक्षुजन्य आलोचन है, अवधिदर्शनका स्वरुप अवधि आलोचन है, बाकीके सब इनके पर रूप हैं। परोक्ष भी मतिज्ञानका स्वरुप इन्द्रिय और अतीन्द्रिय याने

मनकी सहायतासे उत्पन्न हुआ बोध है। श्रुतज्ञानका स्वरूप मात्र अतीन्द्रियसे पैदा हुआ बोध है। अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञानका स्वरूप इन्द्रिय और मनकी सहायता विना उत्पन्न हुआ अर्थ बोध है। केवलज्ञानका स्वरूप समस्त पदार्थोंको ज्ञातत्व (जानपन) है। इसके सिवाय अन्य समस्त उनके पर रूप हैं। इस प्रकार वस्तुमात्रका स्वरूप और पर रूप घट सकता है और इसी से वस्तुमात्र स्वरूपकी अपेक्षासे सत् और पर रूपकी अपेक्षासे असत् कहलाती है। जैसे ऊपर वतलाया है वैसे पदार्थमात्रके और उनके विशेष धर्मोंके स्वरूप तथा पररूप समझने चाहियें और इसी प्रकार घट पट वगैरह पदार्थोंके भी स्वरूपकी और पर रूपकी घटना समझ लेनी चाहिये। तथा जो सत्व धर्मरूप है वही किसी अपेक्षासे धर्मी भी हो सकता है और जो धर्मीरूप है वह भी किसी अपेक्षासे धर्मरूप वन सकता है। अतः वस्तुके सत्व रुपमें सत्व और असत्वकी कल्पना करनेमें धर्मोंके धर्म नहीं होते, यह नियम हरकत नहीं पहुंचा सकता। क्योंकि धर्म और धर्मीका व्यवहार अनादि कालीन है। तथा जैसे दिवस और रात्रीके प्रवाहमें अंकूर और बीजके पहले और दूसरे पनमें एवं अभव्य और संसारके सहवासमें अनवस्थाका दूषण चरितार्थ नहीं हो सकता। वैसे सत्वमें भी दूसरे सत्वकी कल्पना करनेमें अनवस्थाका दूषण सामने नहीं आ सकता। इसी प्रकार नित्य और अनित्य वगैरह की चर्चामें भी अनवस्था नहीं आ सकती। तथा व्यधिकरण नामक दूषण भी नजदीक नहीं फटक सकता, क्योंकि जिस तरह एक ही फलमें रुप और रस दोनों रहते हैं वैसे ही एक ही वस्तुमें सत्व और असत्व दोनों रहते हैं। यह वात प्रत्यक्ष तौरसे जानी जा सकती है। एवं संकर और व्यतिकर नामक दोष भी किसी प्रकारकी हरकत नहीं पहुंचा सकते क्योंकि जैसे मेचक ज्ञान एक है तथापि उसके स्वभाव अनेक होनेपर भी उसमें ये दोष प्रचलित नहीं होते। वैसे ही एक वस्तुमें अनेक धर्म होनेपर उसे ये दोष किस तरह हरकत पहुँचा सकते हैं? तथा अनामिका अंगुली एक ही समय कनिष्ठा अंगुलिकी अपेक्षा छोटी और मध्यमा अंगु-

लिकी अपेक्षा बड़ी होती है, अर्थात् उसमें एक ही समय परस्पर-विरुद्ध दो धर्म रहे हुये प्रत्यक्ष रुपसे मालूम होते हैं; तथापि उसमें संकर या व्यतिकरकी गंध तक भी नहीं आती। वैसे ही यहाँपर भी वे दोप किस तरह आ सकते हैं? तथा पहले जो यह कहा गया था कि अनेकान्तवादके अनुसार पानी अग्निरुपमें हो जायगा और अग्नि पानीरुपमें हो जायगा और ऐसा होनेसे व्यवहारका नाश होगा; इस युक्तिको भी यहाँपर अवकाश नहीं मिल सकता। हम (जैन) तो यों कहते हैं कि पानी पानीरुपमें सत् है और वह दूसरे रुपमें असत् है। इसमें ऐसी कौनसी वात है कि जिससे वस्तुका वस्तुत्व वदल जाय या नष्ट हो जाय? इस प्रकार माननेसे प्रत्युत वस्तु-स्वरुप अधिक निश्चित होता है और हम कहते हैं—उसी प्रकार सव लोक मानते भी हैं। क्या कोई भी प्रामाणिक मनुष्य यह मानता है कि पानी दूसरे रुपमें भी रहता है? तथा भूतकाल और भविष्यकालकी अपेक्षा पानीके परमाणु अग्निरूप में परिणत हुये हों या परिणत होनेवाले हों तो वे भी अग्निरूप क्यों न गिने जायँ? तथा गरम पानीमें कुछ अग्निका अंश है ऐसा माना भी जाता है। याने पानी भी किसी अपेक्षासे अग्निरुप हो सकता है, यह वात दूपण रहित है तथा आपने [एकांत मार्गवालोंने] जो प्रमाण वाध और असंभव ऐसे दो दोप सामने रक्खे थे वे भी निर्मूल ही हैं, क्योंकि जहाँपर वस्तुका अनन्त धर्मत्व प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुका है वहाँपर प्रमाणवाधका प्रवेश ही कैसे हो सकता है? और जव इस प्रकारका वस्तुस्वरुप प्रमाणोंसे निश्चित हो चुका फिर असंभव भी नजदीक नहीं फटक सकता। जो वस्तु नजरसे देखी हुई हो, उसमें कदापि असंभव दोपको स्थान नहीं मिल सकता, यदि उस पर भी असंभव आक्रमण कर सकता हो तो फिर वह किसी जगह अपनी गति न कर सकेगा? अतः वास्तविक रीतिसे विचार करनेपर अनेकान्त मार्गमें एक भी दोपको स्थान नहीं मिल सकता। तथा जो अनेकान्त मार्गको दूपित करनेके लिये यह कहा जाता है कि "इस मार्गमें प्रमाण भी अप्रमाण होगा, सर्वज्ञ भी असर्वज्ञ होगा और सिद्ध भी असिद्ध होगा" इत्यादि

युक्तियाँ आकाशकुसुमवत् असत्य हैं। क्योंकि प्रमाण भी अपनी हदमें प्रमाणरुप हैं और पर हदमें अप्रमाणरुप हैं, ऐसा तो अनेकान्तमार्गवाले मानते ही हैं। सर्वज्ञ भी अपने पूर्णज्ञानकी अपेक्षा सर्वज्ञ है और सांसारिक जीवोंके ज्ञानकी अपेक्षा असर्वज्ञ है। यदि सांसारिक जीवोंके ज्ञानकी अपेक्षासे भी वह सर्वज्ञ हो सकता हो तो फिर सांसारिक जीव ही क्यों न सर्वज्ञ कहे जायँ? अथवा वह सर्वज्ञ ही सांसारिक जीवोंके जैसा क्यों न माना जाय? सिद्ध भी अपने कर्मपरमाणुके संयोगकी अपेक्षासे सिद्ध है और दूसरे जीवके कर्मपरमाणुओंके संयोगकी अपेक्षासे—वह असिद्ध है। यदि इस दूसरी अपेक्षासे भी वह सिद्ध कहलाता हो तो फिर जीव मात्र सिद्ध होना चाहिये। इसी प्रकार अनेकान्त मार्गपर दूसरोंके द्वारा ढकेले हुये आक्षेप जैसे कि 'किया भी न किया,' 'कहा भी न कहा,' 'खाया भी न खाया,' इत्यादि सब निकम्मे और अयुक्त समझने चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि सिद्धोंने जो कर्मका क्षय किया है वह एकान्त किया है या कथंचित्–किसी अपेक्षासे–किया है? यदि यों कहा जाय कि एकान्तसे किया है तो अनेकान्तकी हानि होगी और यदि कथंचित् किया है ऐसा माना जाय तो सांसारिक जीवोंके समान सिद्धोंका सिद्धत्व मिट जायगा। इस आक्षेपका जवाब इस प्रकार है—

सिद्धोंने भी अपने कर्मोंका क्षय स्थिति, अनुभाग और प्रकृतिकी अपेक्षासे किया है, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है कि कर्मके अणुमात्रका समूल नाश कर डाला हो। किसी भी मनुष्यकी शक्ति नहीं कि किसी भी प्रकार परमाणुओंका नाश कर सके। यदि ऐसा हो भी सकता हो तो फिर कितने एक समय बाद वस्तुमात्रका सर्वथा नाश होना चाहिये और संसार रीता हो जाना चाहिये। सिद्धोंने सिर्फ इतना ही किया है कि जो कर्माणु उनसे लिप्त हो गये थे उन अणुओंसे वे वियुक्त हो गये, परन्तु अणु तो कायम ही रहे हैं। सिद्ध जिन अणुओंसे जुदे पड़े हैं और अबसे कदापि फिर वैसे किसी भी परमाणुके साथ सम्बन्धमें न आयेंगे, इसी एक अपेक्षासे वे सिद्ध हुये हैं और सिद्ध कहलाते

हैं। इस तरह इस बातमें भी अनेकान्त है। अन्तमें कथन यही है कि अनेकान्त शासन प्रामाणिक और इष्ट एवं दोष रहित है।

बौद्ध वगैरह मतवाले भी अपने २ मतमें अनेकान्तवादको सन्मान देते हैं और स्वीकृत करते हैं, परन्तु यहाँ पर मात्र शब्दोंसे ही उसकी अवगणना करते हुये लज्जित नहीं होते। यह एक आश्चर्यकी बात है।

बौद्धमतवाले अनेकान्तवादको किस तरह मानते हैं, पहले यहाँ पर यह बात इस प्रकार बतलाते हैं:--

१ वे दर्शनरुप (विकल्प रहित) बोधको किसी अपेक्षासे प्रमाणरूप मानते हैं और किसी अपेक्षासे अप्रमाणरूप मानते हैं। २ दर्शनके बाद होनेवाले विकल्पमें किसी अपेक्षासे सविकल्पत्व मानते हैं और किसी अपेक्षासे अविकल्पत्व। ३ एक ही चित्तको किसी अपेक्षासे किसी जगह प्रमाणरूप मानते हैं और किसी जगह अप्रमाणरूप। ४ एक ही प्रमेयको वे किसी अपेक्षासे प्रमेयरूप मानते हैं और किसी अपेक्षासे अप्रमेय रुप। ५ सविकल्पक ज्ञानको किसी अपेक्षासे भ्रमवाला और किसी अपेक्षासे भ्रम रहित मानते हैं। ६ दो चन्द्रके ज्ञानको वे किसी अपेक्षासे सत्य और किसी अपेक्षासे असत्य मानते हैं। ७ एक ही क्षणमें किसी अपेक्षासे जन्यत्व और किसी अपेक्षासे जनकत्व मानते हैं। ८ एक ही ज्ञानके अनेक आकार मानते हैं। ९ तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाला ऐसा बुद्धका ज्ञान चित्ररुप क्यों न कहा जाय? उन्हें उस चित्ररुप ज्ञानमें अनेक आकार मालूम पड़ते हैं। १० एक ही हेतुमें अन्वय और व्यतिरेकको वे तात्त्विक मानते हैं। इस प्रकार वैभासिक वगैरह बौद्धमतके प्रभेद स्वयं स्याद्वादका स्वीकार करते हुये भी उसमें विरोध बतलावें, यह कैसा आश्चर्य कहा जाय?

सौभांतिक बौद्धमतवाले एक ही कारणको अनेक कार्योंको करनेवाला मानते हैं। यहाँ पर हम यह पूछना चाहते हैं कि जो एक सर्वथा क्षणिक कारण अनेक कार्योंको उत्पन्न करता है वह एक ही स्वभाववाला है या अनेक स्वभाववाला? यदि एक ही

स्वभाववाला हो तो वह एक ही कारण भिन्न २ स्वभाववाले अनेक कार्योंको किस तरह उत्पन्न कर सकता है ? अथवा यदि वह एक ही स्वभाववाला कारण अनेक भिन्न २ कार्योंको कर सकता हो तो फिर एक (नित्य) स्वभाववाला एक ही पदार्थ भी अनेक काम कर सकता है, ऐसी मान्यतामें क्या दूषण आ सकता है ? यदि इस मान्यतामें बाधा आयगी तो उपरोक्त मान्यतामें भी बाधा आयेगी यह क्यों नहीं माना जा सकता ? क्योंकि बाधा आनेके कारण दोनोंमें समान ही हैं । यदि कदाचित् यों कहा जाय कि सर्वथा क्षणिक एक स्वभाववाला भी कारण मात्र निमित्तके भेदसे भिन्न भिन्न कार्योंको कर सकता है । तब तो यही समाधान एक स्वभाववाले नित्य पदार्थमें भी चरितार्थ हो सकता है । अब यदि उस क्षणिक कारणको भिन्न भिन्न स्वभाववाला माना जाय और वैसे अनेक भिन्न भिन्न कार्योंकी उत्पत्तिको माना जाय तो इसी प्रकार नित्य पदार्थके सम्बन्धमें भी क्यों न माना जाय ? कदाचित् यह कहा जाय कि नित्य पदार्थ भिन्न २ स्वभाववाला कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर इस तरह है:—

जैसे सर्वथा क्षणिक और अंश रहित पदार्थ भिन्न २ स्वभाववाला हो सकता है वैसे ही सर्वथा नित्य पदार्थ भी भिन्न २ स्वभाववाला हो सकता है । इस प्रकार जो जो दूषण एकान्त अनित्यवादमें आते हैं वे ही दूषण एकान्त नित्यवादमें भी आते हैं । अतः इस प्रकारके सर्वथा एकान्तका परित्याग कर पदार्थ मात्रको दोनों रूपमें किसी अपेक्षासे नित्यरूप और किसी अपेक्षासे अनित्यरूप मानना युक्तियुक्त है । इस तरह माननेसे उपरोक्त एक भी दूषण अनेकान्तवादका स्पर्श नहीं कर सकता ।

मात्र ज्ञानको ही माननेवाले बौद्ध ज्ञानके और पदार्थके आकारोंको एक मानते हैं तथा ग्राह्य-पदार्थ एवं ग्राहक-ज्ञानके आकारोंको ज्ञानसे भिन्न २ मानते हैं । इस प्रकार मानते हुये वे अनेकान्त वादका निषेध किस तरह कर सकते हैं ? तथा एक ही ज्ञान किसी अपेक्षासे अनुभूत है और किसी अपेक्षासे अननुभूत है । इस तरहके ज्ञानके साथ सम्बन्ध रखता हुआ अनेकान्तवाद कैसे मिटाया

जा सकता है? क्योंकि ज्ञानका ग्राह्य और ग्राहकके आकारसे रहितत्व कदापि अनुभवित नहीं होता। परन्तु ज्ञानकी संवेदन-रुपताका अनुभव हरएकको होता है। अतः ज्ञानमें और अनुभूतत्व और अननुभूतत्व ये दो विरुद्ध धर्म रहे हुए हैं ऐसा बौद्धोंको मानना पड़ता है तथा वे खुद ही ज्ञानको विकल्परूप और विकल्प रहित ऐसे दो प्रकारसे मानते हैं। इसलिये ऐसी मान्यतावाला अनेकान्तवादका सामना कैसे कर सके? पदार्थके आकारोंको धारण करता हुआ और एक ही साथ अनेकान्त अर्थोंका प्रकाश करता हुआ इस तरहका चित्रविचित्र ज्ञान स्याद्वादमार्गका सामना कदापि नहीं कर सकता। इस तरह अपने २ माने हुये पदार्थमें अनेक विरुद्ध धर्मोंको माननेवाले बौद्ध लोक स्याद्वादका-अनेकान्त मार्गका-विरोध कैसे कर सकते हैं?

नैय्यायिक और वैशेषिक लोग जिस रीतिसे स्याद्वादका स्वीकार करते हैं वह रीत इस प्रकार है--वे ऐसा मानते हैं कि एक धूप ज्ञान किसी अपेक्षासे प्रत्यक्ष प्रमाणका फल है और किसी अपेक्षासे अनुमान प्रमाण है। इस तरह एक ही ज्ञानमें भिन्न २ अपेक्षासे फलत्व और प्रमाणत्व घट सकते हैं तो इस हकीकतको माननेवाला वादी अनेकान्तमार्गका निषेध कैसे कर सकता है? वे एक ही पदार्थका रुप विचित्र आकारवाला स्वीकारते हैं और उसमें विरोध नहीं मानते, यह भी अनेकान्तमार्ग की ही मान्यता है। तथा एक धूपवाली करछीके एक भागमें ऊष्णस्पर्श और दूसरे भागमें शीतस्पर्श रहा हुआ है। इस तरह एक ही अवयवी में दो विरूद्ध स्पर्श रहते हैं, यह भी अनेकान्तवाद ही है। तथा वे—नैय्यायिक और वैशेषिक ही ऐसा कहते हैं कि एक ही पदार्थमें चलता और अचलता, रंगता और अरंगता, आवृतत्व और अनावृतत्व, वगैरह अनेक धर्म अपेक्षाओंसे घट सकते हैं, तब फिर ऐसा कहनेवाला स्याद्वादका विरोध कैसे कर सकता है? तथा नित्य ऐसे ईश्वरमें सर्जनवृत्ति, संहार करनेकी वृत्ति, रजोगुण तमोगुण, पृथ्वी, पानी वगैरह रुपमें अष्ट मूर्तित्व और सात्विक स्वभाव, वे सब ही परस्पर विरुद्ध हैं; तथापि उन्होंने उन सबको

एक ईश्वरमें माने हुए हैं। ऐसा माननेवाला वादी अनेकान्तके विरुद्ध कैसे गर्दन ऊंची कर सकता है? एक ही आमलकमें कुवलयकी अपेक्षा बड़ापन और बिल्वकी अपेक्षासे छोटापन, ऐसे दो विरुद्ध धर्म रहे हुए हैं। इसी तरह एक इक्षुखंडमें छोटेसे लकड़ीके टुकड़ेकी अपेक्षा लम्बाई और बांसकी अपेक्षा छोटाई, ये दो विरोधी स्वभाव प्रत्यक्ष तौरसे देखे जाते हैं। एक देवदत्तमें उसके पिताकी अपेक्षा परत्व और पुत्रकी अपेक्षा अपरत्व, ऐसे दो विरोधी स्वभाव रह सकते हैं। नये द्रव्यमें रहनेवाला द्रव्यत्व सामान्यरूप है और वही जब गुणकर्मसे पृथक् अवस्थामें रहता है, तब विशेष रुप है। इस प्रकार एक ही द्रव्यत्व एक अपेक्षासे सामान्य रुप है और दूसरी अपेक्षासे विशेष रूप है, तथा इसी तरह गुणत्व और कर्मत्व भी सामान्यरूप तथा विशेषरुप हो सकते हैं। इस तरह एक ही पदार्थमें सामान्य धर्म और विशेष धर्म तथा इन दो विरुद्ध धर्मोंको घटानेवाले एवं माननेवाले अनेकान्तवादके विरुद्ध कैसे हो सकते हैं? तथा वे एक ही हेतुके पांच रुप मानते हैं, एक ही पृथ्वीके परमाणुमें सत्व, द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, परमाणुकत्व और अन्य परमाणुओंसे तथा अन्त्य-अन्तिम विशेषसे पृथकत्व स्वीकारते हैं एवं इस तरह परमाणुमें भी वे सामान्य विशेषत्व मानते हैं। यदि परमाणुसे सत्व वगैरह धर्मोंको भिन्न ही मान लिया जाय तो वे धर्म परमाणुमें न रह सकेंगे। इसी तरह देवदत्तमें सत्व, द्रव्यत्व और आत्मत्व तथा दूसरोंसे पृथकत्व यह सब कुछ रहा हुआ है याने उसमें भी सामान्य विशेषता घट रही है। ऐसे ही आकाश आदिमें भी इसी तरह सब घटा लेना चाहिये, अर्थात् नैय्यायिक वगैरह वादी एक ही पदार्थमें दो विरुद्ध धर्म—सामान्य और विशेषको मानते हुये अनेकान्तवादका विरोध कैसे कर सकते हैं? प्रत्येक परमाणुमें एक सरीखी आकृति, एकसे गुण और एकसी क्रिया तथा पारस्परिक विलक्षणता ये परस्पर विरुद्धतावाले धर्म रहते हैं। इस प्रकार स्याद्वादकी सिद्धि हो सकती है। इसी तरह नैय्यायिक और वैशेषिक पद-पदमें स्याद्वादके नियमानुसार चलते हुए भी उसका अनुसरण न करें और प्रत्युत उसका सामना करें,

यह एक हास्यास्पद बात है। स्याद्वादको याने अनेकान्त मार्गको माना जाय तो यह भी एक गुण है—अवयव और अवयवी इन दोनोंमें यदि केवल भेद ही माननेमें आवे वा अभेद ही मान लिया जाय तो इन दोनोंका सम्बन्ध ही नहीं घट सकता। परन्तु यदि किसी अपेक्षासे भेद और किसी अपेक्षासे अभेद माना जाय तब ही इन दोनोंका सम्बन्ध यथार्थ घट सकता है। इस तरह सम्बन्धको घटानेकी रीत स्याद्वादके मार्गसे ही साधी जा सकती है। अतः उसका विरोध करना, यह अनुचित और अयुक्त है। नैयायिक इन दोनोंमें एकान्त भेद मानते हैं। हम उन्हें पूछते हैं कि—अवयव, अवयवीमें किस तरह रहता है? क्या वह एक भागसे रहता है, या समस्ततया रहता है? यदि एक भागसे रहता है, यों कहा जाय तो यह अनुचित है। क्योंकि नैयायिकोंके मतमें अवयवीको निरवयव माना गया है। अतः वह उसमें एक भागसे रहता है, ऐसा भाग कैसे किया जा सकता है? यदि नैय्यायिक लोग अवयवीको अवयववाला माननेकी हिम्मत करें और अवयव तथा अवयवीके बीच अभेद भी स्वीकार कर लें तो अनेकान्तवादको स्वीकारने जैसा होता है। क्योंकि इस तरह एक निरंश—अंश रहित अवयवीके अनेक अवयव हो जाते हैं। यदि अवयव और अवयवीमें भेद माना जाय तो अवयवीमें अवयव एक भागसे रहता है या समस्ततया रहता है? ऐसा प्रश्न फिरसे उपस्थित होगा और ऐसे पूर्वोक्त जैसे अनेक प्रश्न हुआ करेंगे, जिनका कभी पार ही न आवेगा अर्थात् अनवस्था दोष उपस्थित होगा। इस भेदके सिद्धान्तमें ही यदि यों मान लिया जाय कि अवयवीमें अवयव संपूर्णतया रहते हैं, तो यह भी अनुचित ही है। क्योंकि ऐसा माननेसे अनेक अवयवीके होनेका प्रसंग आयगा। एक ही अवयवीमें जितने अवयव उतने ही अवयवी हो जाते हैं। इस तरह अवयव और अवयवीमें भेद माननेमें यथार्थ घटना नहीं होती। अब यदि उन दोनोंमें अभेद माना जाय तो अवयव अथवा अवयवी इन दोनोंमेंसे एक ही रह सकता है और यह भी एक बड़ा दूषण है। अतः अवयव और अवयवीके पारस्पारिक सम्बन्धको घटानेके

लिये उन दोनोंमें किसी अपेक्षासे भेद और किसी अपेक्षासे अभेद मानना उचित है और इनमें इसी प्रकारके सम्बन्धका अनुभव किया जाता है। जैसा अनुभव होता हो वैसा ही मानना विशेष प्रामाणिक है। यदि अनुभवसे विपरीत और कल्पनाके अनुसार माना जाय तो ब्रह्म, द्वैत और शून्यवाद ये समस्त मान्यतायें भी कल्पित गिनी जाएँगी, अतः अवयव और अवयवीके पारस्परिक सम्बन्धको घटानेके लिये उन दोनोंमें किसी अपेक्षासे भेद और किसी अपेक्षासे अभेद मानना चाहिये और इस प्रकारकी मान्यताको विशेष दृढ़ करनेके लिये अनेकान्तवादको स्वीकारना भी चाहिये। इसी तरह संयोगी और संयोग, समवायी और समवाय, गुणी और गुण तथा व्यक्ति और सामान्य, इन सबमें भी परस्पर किसी अपेक्षासे भेद और किसी अपेक्षासे अभेद मानना चाहिये। यदि सर्वथा भेद ही या सर्वथा अभेद ही माना जाय तो यहाँपर पूर्वोक्त समस्त दूषण उपस्थित होते हैं अतः दूषण रहित मार्गमें चलनेवालेको अनेकान्तवादका स्वीकार किये विना अन्य कोई मार्ग ही नहीं मिल सकता।

सांख्य भी स्याद्वादका स्वीकार करते हैं और वह इस प्रकार है—वे मानते हैं कि प्रकृतिमें तीन गुण सत्व-रज, और तम (जो परस्पर विरूद्ध हैं) रहते हैं। तथा एक ही प्रकृतिमें किसी अपेक्षासे—संसारकी अपेक्षासे-प्रवर्तन और किसी अपेक्षा—मोक्षकी अपेक्षासे निवर्तन, ये दो विरूद्ध धर्म रहते हैं ऐसा भी मानते हैं। इस प्रकार एक ही पदार्थमें दो विरूद्ध धर्मको मानते हुए सांख्य मतवाले अनेकान्तवादसे विमुख कैसे हो सकते हैं?।

मीमांसा-मतवाले अपने आप ही भिन्न रीतिसे एक और अनेकका प्ररुपण करके अनेकान्तवादको स्वीकारते हैं। अतः उनसे इस विषयमें कोई प्रश्न करनेका बाकी नहीं रहता। अथवा शब्द और उसका सम्बन्ध इन दोनोंका वे सर्वथा नित्यभाव ही मानते हैं इससे उन्हें इस विषयमें कुछ पूछना अवश्य है। वे कहते हैं कि 'नोदना' कार्यरुप अर्थको बतलानेवाली है और वह किसी प्रकारके काल--समयके सम्बन्धसे अलग रहनेवाली है। अब यदि

कार्यरूपताको त्रिकालशून्य ही कहा जाय तो उसका अभाव ही हो जायगा और यदि अर्थरूप कहा जाय तो वह प्रत्यक्ष आदिसे भी जानी जा सके ऐसी होगी। अब यदि उसे दोनों रूपमें कहा जाय अर्थात् कार्यताको त्रिकालशून्यत्वमें और अर्थज्ञानको करानेवाली ऐसे दो विरुद्ध धर्मवाली माना जाय तब ही वह 'नोदना' का विषय हो सकता है। अतः नोदनाकी विषयताको साबित करनेके लिये अनेकान्तपक्षका स्वीकार करना यह सहज हकीकत हैं, अर्थात् मीमांसा-मतवाले भी अनेकान्तपक्षका ही स्वीकार कर रहे हैं। अब कितनी एक ऐसी युक्तियाँ और उदाहरण बतलाते हैं कि जो बौद्ध वगैरह सर्व दर्शनोंको सम्मत हैं और जो अनेकान्त वादका समर्थन करते हैं—१ सर्वदर्शनवाले यह मानते हैं कि संशयज्ञानमें दो प्रकारके भास होते हैं, इस मान्यतासे वे अनेकान्तवादका अनादर नहीं कर सकते।

२ एक ही अनुमान प्रमाणमें साधकता और बाधकता ये दो विरुद्ध धर्म रहे हुये हैं, अर्थात् एक ही अनुमान अपने पक्षका साधक है और दूसरे पक्षका बाधक है। ऐसा माननेवाले प्रामाणिक अनेकान्तवादका अनादर कैसे कर सकते हैं?

३ मोरके अंडेमें नील वगैरह अनेक वर्ण रहे हुये हैं,वे समस्त वर्ण कुछ एकरूप नहीं कहे जा सकते एवं अनेकरूप भी नहीं कहे जा सकते, परन्तु किसी अपेक्षासे एकरूप और किसी अपेक्षासे अनेकरूप कहे जा सकते हैं। यह भी अनेकान्तवादके अनुसरण से ही माना जा सकता है। इस विषयमें अन्य ग्रन्थोंमें भी इस प्रकार कहा हुआ है—"जैसे मोरके अंडेमें नीलादि अनेकवर्ण रहे हुये हैं वैसे ही एक ही घटमें परस्पर मिलकर नामघटत्व, स्थापना घटत्व, द्रव्य घटत्व और भाव घटत्व, ये समस्त धर्म रहे हुये हैं।" "घट यह मिट्टीसे एक जुदा ही पदार्थ है, उसके साथ मिट्टीका अन्वय है और भेद भी है। परन्तु एकला भेद और एकला अन्वय नहीं है।" नरसिंहअवतारका आधा भाग नर है और आधा भाग सिंह है, ऐसे दो भागरूप एक पदार्थको अविभागत्वमें नरसिंह कहा जाता है। "वह एकला नर-

नहीं, क्योंकि सिंहरूप है और एकला सिंह नहीं, क्योंकि नररूप है। किन्तु शब्दविज्ञान और कार्योंके भेदके कारण वह कोई भिन्न ही अखंड पदार्थ है।" "हेतुमें तीन रूपत्व और पंच रूपत्व माननेवाले वादी एक पदार्थके ही सत्सत्वको किसलिये नहीं मानते ?" तथा जैसे एक ही पुरूषमें पुत्रत्व, पितृत्व, वगैरह अनेक सम्बन्ध भिन्न भिन्न अपेक्षासे बाधारहित रीतिसे घट सकते हैं उसी प्रकार अनेकान्त मार्गमें भी द्रव्यकी अपेक्षासे सब एक हैं और पर्यायकी अपेक्षासे अनेक हैं, यह सब कुछ किसी तरहका विरोध आये बिना ही घट सकता है। ऐसे घटनेका कारण यह है कि इसमें भिन्न भिन्न निमित्त रहे हुये हैं। यदि यह सब एक ही अपेक्षासे या एक ही निमित्तको लेकर, घटाया जाय तो कदापि नहीं घट सकता। क्योंकि विरोधका मूल एकही अपेक्षामें या एक ही निमित्तमें रहा हुआ है। भिन्न भिन्न अपेक्षाओंमें या भिन्न भिन्न निमित्तोंमें विरोधकी गन्ध तक नहीं आ सकती। यदि नित्यानित्यरूप अनेकान्त न मांना जाय तो आत्मामें सुख, दुःख, नरत्व, या देवत्व वगैरह भाव भी घट नहीं सकते। जैसे एक ही स्थिर सर्पकी फणावाली अवस्था और फणारहित अवस्था ये दोनों अवस्थारूपमें परस्पर विरूद्ध है तथापि द्रव्यकी अपेक्षासे इन दोनोंका विरोध टिक नहीं सकता। जैसे एक ही अंगुली टेढ़ी होती है और सीधी भी होती है, अर्थात् उसके सीधेपनका नाश होकर उसके स्थानमें टेढ़ापन आता है, और उसका अंगुलीपन सदैव स्थिर रहता है। जैसे गोरस मेंका दूधपन मिटकर उसके स्थानमें दधित्व--दहीपन आता है और गोरसत्व कायम रहता है, यह सब ही प्रत्यक्ष वगैरह अनेक प्रमाणोंसे जाना जा सकता है और इस प्रकार पदार्थमात्रका द्रव्यत्त्व और पर्यायत्व निश्चित हो चुका है। इस टीकाको बनानेवाले श्रीगुणरत्नसूरि स्वयं 'परहेतुतमोभास्कर' नामक वादस्थलका वर्णन करनेवाले हैं, उसमें यह बात बतलाई जायगी कि प्रत्येक दर्शनमें अपने २ इष्टमतको साधनेके लिये जो हेतु बतलाये जाते हैं वे समस्त हेतु अनेकान्तवादका आश्रय लिये

विना संपूर्ण प्रामाणिकता प्राप्त नहीं कर सकते। अतः प्रत्येक दर्शनवालेको अपने २ मतका समर्थन करनेके लिये अनेकान्त वादका आश्रय लेना जरूरी है। यदि हेतुको एकान्त अन्वयी या एकान्त व्यतिरेकी माना जाय तो उसके द्वारा इष्ट साधन नहीं हो सकता एवं परस्पर सम्बन्ध रहित अन्वयी और व्यतिरेकी माना जाय तो भी इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु यदि उसे अन्वय और व्यतिरेक ऐसे दो रूपमें माना जाय तब ही साध्यकी साधना हो सकती है। कितने एक मतवाले हेतुके तीन और पांच लक्षण बतलाते हैं, वे भी दूषणवाले हैं (इस विषयमें पहले हेतुके अधिकारमें मालूम किया गया है) अतः जिस हेतुके द्वारा साध्यकी सिद्धि करनी हो उसे अनेकान्तवादकी दृष्टिसे अन्वय और व्यतिरेक ऐसे दो रुपवाला मानना चाहिये। तथा हेतुको, एकला सामान्यरुप एकला विशेषरूप या परस्पर सम्बन्धरहित एकला सामान्य रूप, अथवा विशेष रुप मानना यह भी युक्तियुक्त नहीं है। उसे परस्पर सम्बन्धवाला सामान्य विशेषरुप मानना ही उचित और युक्तियुक्त है।

'परहेतुतमो भास्कर-वादस्थल'!

अब जैनमतके विवेचनकी समाप्ति करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि—इस प्रकार जैनदर्शनका संक्षेप कहा है, जो निर्दोष है, और जिसमें कहींपर भी आगे किसी प्रकारका विरोध मालूम नहीं देता ॥ ५८ ॥

यदि सम्पूर्ण रीतिसे जैनदर्शनका विवेचन किया जाय तो इससे भी अत्यधिक बड़ा ग्रन्थ बन जायगा। इसका सम्पूर्ण विस्तार नहीं कहा जा सकता अतः यहाँपर मात्र सारभूत भाग ही मालूम किया गया है। यहाँपर जो सारभाग बतलाया गया है वह सर्वथा दूषणरहित है। क्योंकि वह सर्वज्ञपुरुषका प्रगट किया हुआ है और सर्वज्ञ पुरुषके कथनमें कदापि दूषण नहीं

आ सकता। जैनदर्शनमें कहींपर भी जीव और अजीव वगैरह तत्त्वोंकी विचारणामें आगे पीछे जरा भी असम्बद्धता सम्भावित नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अन्यदर्शनोंके मूलशास्त्रोंमें भी परस्पर असम्बद्धता झलक आती है तब फिर मूलके बादके कथाग्रन्थोंकी तो बात ही क्या! अर्थात् उन ग्रन्थोंमें पहले कुछ और कहा है और पीछे कुछ और, इस तरहका विरोध मालूम हो जाता है और जैनदर्शनमें जैन मूलग्रन्थोंमें एवं अन्य ग्रन्थोंमें कहीं भी ऐसे विरोधकी गन्ध नहीं आती। अन्यदर्शनोंमें भी जो कुछ अच्छी २ दोषरहित बातें हैं वे जैनदर्शनमेंकी ही हैं। इसके विषयमें श्रीसिद्धसेन दिवाकरने भी इस प्रकार सूचित किया है—" हमें इस बातपर विश्वास है कि परशास्त्रोंमें जो कुछ श्रेष्ठ युक्तियाँ मिलती हैं वे जिनवचनके वाक्यके बिन्दु हैं और वे भी जैनोंके आगमरूप समुद्रमेंसे उछली हुई हैं "

अब बौद्ध वगैरह दर्शनोंमें जहाँ जहाँपर आगेपीछे विरोध आता है उस विषयको यहाँपर इस प्रकार बतलाते हैं—बौद्धमतवाले एक जगह कहते हैं कि वस्तु मात्र क्षणिक है और दूसरी जगह कहते हैं कि ज्ञानका कारण पदार्थ है, अर्थात् ज्ञानकार्य रूप है और पदार्थ कारण रूप। इस तरह वे दोनों कार्य कारणरूप होनेसे ज्ञानकी विद्यमानतासे पहले अर्थकी विद्यमानता होनी चाहिये और ऐसा हो तब ही उन दोनोंका कार्य-कारणभाव घट सकता है परन्तु इस मान्यतामें अर्थ पदार्थको क्षणिक मानना निभ नहीं सकता। पदार्थके अस्तित्वका एक क्षण और ज्ञान होते समयका एक क्षण ऐसे उस पदार्थको दो क्षण तक स्थिर मानना ही पड़ेगा और यदि ऐसा माना जायगा तो सब क्षणिक हैं यह सिद्धान्त बालूकी दिवारके समान फिसल पड़ेगा। अर्थात् उन दोमेंकी किसी एक बातको सुरक्षित रखनेके लिये मानी हुई दूसरी बातको अवश्य छोड़ देना पड़ेगा, इस प्रकारका परस्पर विरोध बौद्धदर्शनमें आता है।

और भी वे यों कहते हैं कि जो विषय ज्ञानका कारणरूप हो वही ज्ञानका विषय हो सकता है, अर्थात् एक जगह विषयको

कारणरूप मानते हैं और दूसरी जगह वैसा मालूम नहीं होता तथापि वे उसी मान्यताको प्रचलित रखते हैं। जैसे कि जो पदार्थ अतीतरूप हो चुका है अथवा जो पदार्थ अवसे आगे वनेगा वे दोनों पदार्थ विद्यमान न होनेसे कारणरूप कैसे हो सकते हैं? वे अतीतरूप और भविष्यरूप पदार्थ कारणरूप न होने पर भी ज्ञानके विषयरूप कैसे हो सकते हैं? ऐसा होनेपर भी अकारणरूप पदार्थको विषयरूप मानना यह एक प्रकारकी द्विवचनता ही है। तीसरी बात यह है कि तीनों कालके पदार्थों और व्यक्तिको ग्रहण करनेवाला ज्ञान उन दोनोंमें किसी प्रकारका कार्य कारण सम्बन्ध न होनेपर भी उस ज्ञानके विषयरूप तीनों कालके पदार्थोंको उस ज्ञानके विषयरूप वतलाना यह भी अपनी मान्यतासे विरुद्ध बात है। चौथी यह बात है कि यदि सब क्षणिक ही माना जाय तो फिर भिन्न २ समयमें वर्तनेवाले अन्वय और—व्यतिरेकका सम्बन्ध कैसे घट सकता है और यदि वह सम्बन्ध न घट सके तो फिर तीनों कालसे लगता हुआ व्याप्तिज्ञान भी कैसे हो सकता है? बौद्ध तीनों कालसे लगते हुये व्याप्ति ज्ञानको मानते हैं और यह सब क्षणिक मानते हैं यह कैसे वन सकता है? यह भी परस्पर विरोधवाली ही हकीकत है। पांचवाँ यह है कि सब कुछ क्षणिक माननेवालोंके पहले जन्मजन्मान्तरका सम्बन्ध सम्भवित नहीं हो सकता तथापि बौद्धमतमें यों कहा जाता है कि "इस भवसे पहले ९ वें भवमें मेरी (बुद्धकी) शक्ति द्वारा एक पुरुष मारा गया था, उसीके परिणाममें हे भिक्षुओं! मुझे कांटा लगा है" यह भी एक प्रकारका विरुद्ध ही वचन है।

छठा यह कि वस्तु मात्रको निरंश—अवयव रहित माननेवाले बौद्ध एकही चित्त संवेदनके और विकल्परहित प्रत्यक्ष ज्ञानके अंश करके अमुक अंशको प्रमाणभूत मानें और अमुक अंशको अप्रमाणभूत मानें यह भी स्पष्ट रूपमें ही परस्पर विरुद्ध है। सातवाँ यह कि हेतुके तीन रूपोंको माननेवाले और संशयको दो रूपमें वतलानेवाले बौद्ध वस्तुको निरंश मानें इसमें विरोधके सिवाय अन्य कुछ भी तथ्य नहीं।

तथा बौद्ध यों कहते हैं कि जो कोई पदार्थ हमारे नजरके सामने आता है वह कोई सघन पदार्थ नहीं, वह सब भिन्न २ अणुओंका ढ़ेर है। परन्तु बौद्धोंका यह कथन सत्यता रहित है। क्योंकि जो बौद्ध कहते हैं वैसा ही यथार्थ हो तो घटका किनारा पकड़नेसे वह सारा ही हाथमें कैसे आ सके? तथा यदि ऐसा ही सत्य हो तो फिर कोई वस्तु फेंकी भी नहीं जा सकती और घसीटी भी नहीं जा सकती अतः बौद्धोंकी 'परमाणुओंका ढ़ेर' माननेकी मान्यता सर्वथा असत्य, व्यवहारविरुद्ध और अनुभवविरुद्ध है। बौद्धदर्शनमें इस प्रकारका विरोध समाया हुआ है।

नैय्यायिक और वैशेषिक मतमें जो विरोध रहा हुआ है उसे भी इस प्रकार बतलाते हैं—उन दर्शनोंमें ऐसा माना जाता है कि सत्ताके योगसे सत्व आता है। तथापि सामान्य, विशेष और समवाय इन तीनोंमें सत्ताके सम्बन्धको वे नहीं मानते, तो भी इन के सद्भावका कथन करते हैं, इसमें विरोधके सिवाय और क्या मालूम होता है? दूसरा यह कि वे लोग 'एक ही साथ दो क्रिया न हो सके' इस बहानेसे ज्ञानको स्वप्रकाशी नहीं मानते, तथापि ईश्वरके ज्ञानको स्वप्रकाशी मानते हैं, यह भी स्पष्ट ही विरोध है। दीपक स्वयं ही अपना प्रकाश करता हुआ उपरोक्त बहानेको निर्मूल कर देता है अतः यह मान्यता भी यथार्थ नहीं!

तीसरी यह बात कि परवंचनरूप छल, जाति [शब्दोंसे फंसानेकी रीत] और निग्रह स्थानोंको भी जैनदर्शनतत्वरूप मानते हैं यह भी एक विचित्र जैसी बात है। कोई भी दर्शन ऐसी अपंची बातोंको स्थान नहीं दे सकता।

चौथी यह बात है कि आकाशको अवयवरहित मानकर ऐसा कहा जाता है कि आकाशका गुण शब्द उसके एक भागमें ही सुना जाता है यह बात सरासर विरोधसे ही भरी हुई है।

पांचवीं बात यह है कि 'जहाँ सत्ताका सम्बन्ध होवे वहाँ ही सत्व हो' ऐसा माना जाता है। परन्तु सम्बन्ध तो वहाँ ही हो सकता है कि जहाँपर पदार्थोंका अवयवित्व हो, ऐसा होनेपर भी

सामान्यको सत्ताके सम्बन्धवाला माना जाता है और उसे अवयव रहित भी कहा जाता है यह भी विरोध ही है।

छठी बात यह है कि समवायको नित्य और एक स्वभाववाला माना जाता है और उसका सम्बन्ध पदार्थमात्रके साथ मंजूर किया जाता है परन्तु यह मंजूरी तब ही उचित गिनी जा सकती है जब समवायके अनेक स्वभाव हों। यदि समवायके अनेक स्वभावोंको न मानकर उसका सम्बन्ध समस्त पदार्थोंके साथ मंजूर किया जाय तो इसमें परस्पर विरुद्धताके सिवाय और कुछ नहीं जान पड़ता।

सातवीं बात यह है कि वे पदार्थको ज्ञानमें सहकारी मानते हैं, अर्थके सहकारित्व सिवाय प्रमाणका पूर्णरूप नहीं मानते और योगियोंका ज्ञान, जिसमें भासित होते हुए पदार्थ विद्यमान नहीं तब फिर सहकारी ही किसका हो, इसे प्रमाणरूप मानते हैं परन्तु यह भी एक विरुद्धता ही है।

आठवीं बात यह है कि वे स्मरणको प्रमाणरूप नहीं मानते, क्योंकि उसमें कुछ नवीन मालूम नहीं होता, वह स्मरण मात्र उतना ही मालूम कराता है ऐसा मानकर धारावाही ज्ञान [राम, राम, राम, राम, राम, इस प्रकारका ज्ञान] को प्रमाणरूप कैसे माना जाय? क्योंकि कुछ नया तो उसमें भी मालूम नहीं होता। एक समान स्थिति होनेपर भी एकको प्रमाण और एकको अप्रमाण माना जाय तो परस्पर विरोधताके सिवाय और क्या हाथ लग सकता है? कदाचित् यों मान लिया जाय कि स्मरण ज्ञानमें किसी भी पदार्थकी साक्षात् कारणता नहीं है अतः वह अप्रमाण रूप है और धारावाही ज्ञानमें पदार्थकी साक्षात् कारणता विद्यमान है अतएव उसे प्रमाणरूप माना जाता है। इस बातका उत्तर इस प्रकार है—कितनेएक अनुमानोंमें भी अतीत और पदार्थ अनागत कारणरूप होनेसे साक्षात् रीतिसे पदार्थ कारणरूप नहीं होते तथापि जैसे उन्हें प्रमाणरूप माना जाता है-वैसे ही स्मरण ज्ञानको भी प्रमाण मानना चाहिये। ऐसा होनेपर भी यदि इस बातको टाल दिया जाय तो वह विरोध ही गिना जा सकता है। देखिये! इस निम्न

अनुमानमें पदार्थकी [हेतुकी] साक्षात् कारणता कहाँ मालूम होती है, आकाशमें काले वादल होनेसे वृष्टि होगी ऐसा अनुमान हो सकता है और नदीमें वाढ़ आई देखकर वृष्टि हुई होगी ऐसा अनुमान हो सकता है। इन दोनों अनुमानोंमें वृष्टिकी साक्षात् विद्यमानता कारणरूपमें नहीं है तथापि इन दोनोंको प्रमाणरूप माना जाता है वस वैसे ही स्मरणको भी प्रमाणरूप गिनना चाहिये। जहाँपर धूआ देखकर अग्निका अनुमान किया जाता है उस अनुमानमें पदार्थकी साक्षात् कारणता विद्यमान है, अर्थात् अनुमानमें तीनों कालके पदार्थोंका भास हो सकता है। यदि अनुमानके समान स्मरणको भी प्रमाणरूप नहीं माना जाय तो स्पष्ट तौरपर विरोध ही गिना जायगा।

नवमी वात यह है कि ईश्वरका ज्ञान कि जिसके द्वारा वह पदार्थमात्रको जान सकता है, क्या वह इन्द्रिय और पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है ? या इसके विना ही होता है ? यदि ऐसा माना जाय कि वह इन्द्रिय और पदार्थोंके सम्बन्ध विना ही होता है तो फिर आप जो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाले एवं व्यपदेश रहित ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं उसमेंसे इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाले कितने एक भागको निकाल देना चाहिये क्योंकि ईश्वरके प्रत्यक्ष वह उतना विभाव घट नहीं सकता। यदि कदाचित् यों कहा जाय कि ईश्वरके ज्ञानमें—भी वह सम्बन्ध होता है, तो यह वात भी उचित नहीं है। क्योंकि ईश्वरका मन सर्वथा छोटा होनेके कारण एक ही समयमें वह समस्त पदार्थोंके साथ जुड़ नहीं सकता, इससे जव वह एक पदार्थको जानता है उसवक्त दूसरोंको नहीं जान सकता अतः हमारे समान उसका सर्वज्ञत्व कदापि नहीं घट सकता। क्योंकि वह ईश्वर मनके द्वारा एक ही समयमें समस्त पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न रख सकनेके कारण एक ही समयमें समस्त पदार्थोंको जान भी नहीं सकता। जो एकके वाद एक, ऐसे क्रमवार सव जानता है अतः यदि वह सर्वज्ञ कहलाता हो तो हम भी सव सर्वज्ञ कहलाने चाहियें। क्योंकि इसप्रकार क्रमशः हम भी सव

जान सकते हैं। तथा जो पदार्थ अतीतरूप हैं एवं भाविष्यरूप हैं उन्होंके साथ ईश्वरके मनका संयोग न होनेसे वह उन्हें किसतरह जान सकेगा ? अतः ईश्वरका ज्ञान विषयमात्रको जानता है यह कथन भी सरासर विरोधवाला है, और यह विरोध स्पष्ट तौरसे समझा जा सकता है। इसी प्रकार योगियोंके ज्ञानके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये ।

नैयायिक लोग यह मानते हैं कि पहले पदार्थ उत्पन्न होता है और फिर उसका रूप उत्पन्न होता है, यदि रूप पहले उत्पन्न हो तो वह आधारके विना कहाँ रह सके ? अतः उपरोक्त मन्तव्य स्वीकार किया जाता है। इस वातमें विरोध इस प्रकार आता है–

जव पदार्थका नाश माना जाता है तव यह कहा जाता है कि, पदार्थका नाश हुये वाद उसके रूपका भी नाश हो जाता है। परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं। वास्तविक रीतिसे (आपके कथन करनेकी रीतसे) पदार्थका नाश होनेपर उसका रूप आधार रहित होकर फिर नाशको प्राप्त होना चाहिये, परन्तु आप कहते हैं वैसे नाश नहीं होना चाहिए, इस प्रकार उपरोक्त कथनमें विरोध मालूम होता है। इस तरह नैय्यायिक और वैशेषिकोंके दर्शनोंमें भी परस्पर विरोध रहा हुआ है—

सांख्यमतमें जो परस्पर विरोध रहा हुआ है वह इस प्रकार है–

वे कहते हैं कि प्रकृति नित्य, एक, अवयवरहित, क्रिया रहित एवं अव्यक्तरूप है, और ऐसी प्रकृति अनित्य महत् वगैरह अनेक विकारोंको प्राप्त करती है, यह तो स्पष्ट ही विरोध है। एक यह वात है कि चेतना पदार्थके ज्ञानसे रहित है क्योंकि पदार्थका ज्ञान वुद्धिका व्यापार है। यह भी अनुभवसे सर्वथा विरूद्ध है। वुद्धि महदरूप है और जड़ है अतः वह कुछ चेतती ही नहीं यह भी विरूद्ध वाणी है।

आकाश वगैरह पांच भूत शब्दतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, वगैरह तन्मात्रा परमाणुओंसे पैदा होते हैं, यह भी यथार्थ रीतिसे नहीं घटता। क्योंकि एकान्त नित्यपक्षमें कभी कार्यकारण भाव घटही नहीं सकता। अंतमें यह कि जैसे पुरुष एकान्त नित्यरूप होनेसे

कदापि विकारको प्राप्त नहीं होता वैसे ही उसका बन्ध और मोक्ष भी नहीं होता, इसी प्रकार प्रकृतिमें भी किसी तरहका विकार न होना चाहिये। क्योंकि प्रकृतिपुरुषके समान सर्वथा नित्यरूप है इस प्रकार सांख्यदर्शनमें भी परस्पर विरोध आता है।

मीमांसक मतमें जो परस्पर विरोध है सो इस प्रकार है—वे कहते हैं कि "किसी जीवको नहीं मारना, किसीको भी हिंसक नहीं बनना" अन्यत्र कहते हैं कि "श्रोत्रियको बड़े बैल या बड़े बकरेको प्रकल्पित करना" अर्थात् देना। एक जगह कहते हैं कि "किसी जीवको नहीं मारना और दूसरी जगह कहते हैं कि अश्वमेधके मध्यम दिनमें तीन कम छहसो पशुओंका नियोग करना" तथा "अग्नि और सोमके लिये पशुका बलिदान करना, प्रजापतिके लिये सत्तर ७० पशुओंका भोग देना" यह सब ही मात्र परस्पर विरोधवाला ही कथन है एक जगह कुछ और दूसरी जगह कुछ और ऐसा कहनेसे परस्पर विरोधके सिवाय अन्य कुछ भी पल्ले नहीं पड़ सकता। वे एक जगह कथन करते हैं कि "असत्य नहीं बोलना[1]" ऐसा कहकर अन्यत्र लिखते हैं कि ब्राह्मणके लिये असत्य बोलना" अन्यत्र कहते हैं "हे राजन्! ठट्ठा मस्करी करते हुए, स्त्रियोंके प्रसंगमें, विवाहके समय, प्राण जाते हों ऐसी आफतमें और सब लुट जाता हो ऐसे समय इन पांचों जगह झूठ बोलनेमें पाप नहीं है,"। तथा अनेक प्रकारसे चोरीका निषेध करके फिर ऐसा कहा गया है कि "यदि ब्राह्मण हटसे, कपटसे किसीका—धन लेले तथापि वह चोरी नहीं कहलाती। क्योंकि वह सब ब्राह्मणोंका ही है और उनकी कमज़ोरीके लिये ही वृष लोग [हलके लोग] उसका उपभोग कर रहे हैं। ब्राह्मण जो कुछ लेता है [अपह-

---

१ सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयात्, न ब्रुयात् सत्यमप्रियम्, प्रियंच नानृतं ब्रुयात्, एष:धर्म: सनातन:। मनुस्मृती अध्याय ४ श्लोक १३८

२ "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किंचित् जगति गतं, श्रेष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ स्वयमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्व ददातिच, आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुंजतहीतरे जना:" ॥ देखिये मनुस्मृती अध्याय १ श्लोक १००—१०१

रण करता है] जो कुछ खाता है, जो कुछ ओढता है, और जो कुछ देता है, वह सब कुछ उसीका है "। तथा एक जगह यह भी कथन किया है कि " पुत्ररहित पुरुषकी गति नहीं होती। " तथा अन्यत्र ऐसा कहा गया है कि " सन्तान रहित हजारों ब्रह्मचारी विप्रकुमार स्वर्ग गये हैं।" तथा " मांस भक्षणमें४, मद्य पीनेमें और मैथून सेवनमें दोष नहीं है क्योंकि वह भूतोंकी प्रवृत्ति है, जो उस कामसे निवृत्ति हो तो बहुत फल है " यह उल्लेख तो परस्पर सर्वथा विरुद्ध है। यदि प्रवृत्तिमें दोष न लगता हो तो निवृत्तिमें बहुत फल कैसे हो सकता है ? तथा यह भी कहा जाता है कि " वेदमें विधान की हुई हिंसा धर्मका कारण है " इस वाक्यमें सरासर विरोध भरा है। क्योंकि जब वह हिंसा है तब धर्मका कारण कैसे हो सकती है ? और यदि धर्मका कारण है तो फिर हिंसा किस तरह हो सकती है ? यह तो माता है ' और वंध्या है ' इस प्रकारकी विरोधी हकीकत है। उन्हींके शास्त्रमें धर्मका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

" धर्मका सार सुनो ! और सुनकर उसे धारण करो ! अन्य किसीको प्रतिकूल हो वैसा आचरण मत करो " इत्यादि। अर्चिमार्गको माननेवाले वेदान्तियोंने इस प्रकारकी कदर्थना की है। " हम जो पशुओं द्वारा पूजा करते हैं सो घोर अंधाकारमें डूबते हैं। हिंसा धर्मरूप हो ऐसा कदापि न हुआ है और न होगा। " तथा मृत्युके बाद दूसरे जन्मको प्राप्त हुये जीवोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध वगैरह करना यह सर्वथा अविचारी कार्य है। उनके ही साथी कहते हैं कि—" यदि मृतक जीवोंको भी श्राद्ध द्वारा तृप्ति होती हो तो बुझे हुये दीपककी लोको तेल क्यों न बढ़ा सके ?" इस प्रकार मीमांसक मतमें परस्पर विरोधवाली पौराणिक बातें

---

३ मनुस्मृती अध्याय ५--श्लोक १५९—अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणां। दिवं गतानि विप्राणामकृता कुलसंततिम् ॥

४ मनुस्मृती अध्याय ५ वां श्लोक ५६—न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये नच मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

बहुत हैं। विशेष जिज्ञासुको इस प्रकारकी बहुतसी बातें 'संदेह समुच्चय' नामक ग्रन्थसे जानलेनी चाहियें।

तथा भट्टके मतवाले जो ज्ञानको परोक्ष ही मानते हैं और ऐसा माननेका कारण क्रियाका विरोध बतलाते हैं सो भी यथार्थ नहीं। यदि वे यों कहते हों कि ज्ञान पदार्थोंको बतलाता है अतः वह अपना प्रकाश नहीं कर सकता, क्योंकि एक ही साथ दो क्रियायें नहीं हो सकती, तब तो दीपक पदार्थका प्रकाश करता है अतः वह भी ज्ञानके समान ही अपना प्रकाश न कर सकेगा, इससे उसे प्रकाशित करनेके लिये दूसरे दीपककी आवश्यकता माननी चाहिये। जो इस तरह और इसी युक्तिसे दूसरा दीपक न माना जाय तो ज्ञानको भी स्वप्रकाशी मानना चाहिये। यदि ऐसा होनेपर भी पक्षपात किया जाय तो इसमें विरोधके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं तथा ब्रह्माद्वैतको माननेवाले अविद्याके विवेकपूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिर्फ सद्‌मात्रको मानते हैं और कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण निषेधक नहीं परन्तु विधान करनेवाला है। यह भी परस्पर विरूद्धतावाला ही कथन है। क्योंकि यदि प्रत्यक्षप्रमाण विधान करनेवाला ही हो और वह निषेधक प्रमाण न हो तो उसके द्वारा अविद्याका निरास किस तरह हो सके? तथा पूर्वोक्त मीमांसा मतवाले किसी प्रकार देवको नहीं मानते तथापि वे ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर आदि देवोंको पूजते हैं और उनका ध्यान करते हैं यह भी सर्वथा विरूद्ध ही है इत्यादि। इस तरह बौद्ध वगैरह अन्य दर्शनोंमें पूर्वापर विरोध आता है वह पूर्वोक्त प्रकारसे बतलाया गया है।

अथवा बौद्ध वगैरह दर्शनोंमें जो जो स्याद्वादका स्वीकार करनेके प्रसंग प्राचीन श्लोककी व्याख्यामें बतलाये हैं वे सब ही पूर्वापर विरूद्धतया यहाँ भी सब दर्शनोंमें उचितताके अनुसार दिखला देना चाहिये। वे बौद्ध वगैरह दर्शनवाले पूर्वोक्त प्रकारसे स्याद्वादका स्वीकार करते हैं तथापि उसका खण्डन करनेके लिये युक्तियाँ चलाते हैं, यह परस्पर विरोध नहीं तो और क्या कहा जाय? अथवा इस विषयमें और कितना कहना चाहिये? मिलें

हुये दही और उड़दके दोनोंमेंसे कितने उड़द निकालें ? अतः यहाँ पर इस विपयमें इतना ही कह कर विराम लेते हैं।

जो चार्वाक याने नास्तिक है वह तो विचारा रंक है, वह आत्मा, धर्म अधर्म, स्वर्ग, और मोक्ष इनमेंसे कुछ भी नहीं मानता अतः उसके साथ चर्चा ही क्या की जाय ? उसका किया हुआ कथन लोगोंके अनुभवसे और शास्त्रोंसे सर्वथा विरुद्ध है । वह विचारा दयाका पात्र है अतः उसे छोड़ देना ही ठीक है । ऐसी स्थिति होनेसे ही उसके सामने अनेकान्त वादका स्थापन करना और उसका (नास्तिकका) परस्पर विरोध बतलाना यह सब कुछ छोड़ देते हैं। आकारवाले भूतोंमेंसे आकार रहित चैतन्यकी उत्पत्तिका होना यह विरुद्ध बात है । क्योंकि भूतोंमेंसे उत्पन्न होनेवाला या दूसरी जगहसे आता हुआ चैतन्य नजरसे मालूम नहीं होता। जैसे आत्माके पास इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं वैसे ही चैतन्यके पास भी इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं इत्यादि ।

इस प्रकार बौद्ध वगैरह अन्य सबके शास्त्र अपने २ बनाने वालोंका असर्वज्ञत्व साबित करते हैं, सर्वज्ञत्व तो साबित कर ही नहीं सकते, क्योंकि उनमें परस्पर विरोधवाले अनेक उल्लेख भरे हुए हैं। जैनमतमें कहींपर जरा भी परस्पर विरोध नहीं आता अतएव उसका मूल पुरुष सर्वज्ञ होना चाहिये, यह बात जैन मत ही साबित करता है।

जो बातें मूल ग्रंथकारने नहीं बतलाई वे भी कितनीएक यहाँपर बतलाई जाती हैं—कणाद, अक्षपाद, मीमांसक और सांख्य मतवाले यों कहते हैं कि समस्त इन्द्रियाँ प्राप्य[१]कारी ही हैं। बौद्ध कहते हैं कि कान और आँखोंके सिवाय अन्य सब इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं और जैन आंखों सिवाय अन्य सब इन्द्रियोंको प्राप्यकारी मानते हैं।

श्वेताम्बरोंके मुख्य २ तर्कग्रंथ निम्न लिखित हैं—सम्मतितर्क, नयचक्रवाल, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, तत्त्वार्थप्रमाण

वार्तिक, प्रमाणमिमांसा, न्यायावतार, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तप्रवेश, धर्मसंग्रहणी और प्रमेयरत्नकोष वगैरह २

दिगम्बरोंके मुख्य २ तर्कग्रंथ निम्न लिखित हैं—प्रमेयकमल-मार्तंड, न्यायकुमुदचन्द्र, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री, सिद्धान्त सार, और न्यायविनिश्चयटीका, वगैरह २

वेडारूपः समुद्रेऽखिल जल चरिते क्षारभारे भवेऽस्मिन्, दायी यः सद्गुणानां परकृतिकरणाद्वैतजीवी तपस्वी। अस्माकं वीर वीरोऽनुगत नरवरो वाहको दान्तिशान्त्योः—दद्यात् श्रीवीरदेवः सकल शिवसुखं मारहा चाप्तमुख्यः ॥

।समाप्तोयं ग्रन्थः।

---

1 प्राप्यकारी याने पदार्थको स्पर्श करके ज्ञान करनेवाली (प्राप्य-प्राप्त करके-कारि-करनेवाली) अर्थात् पदार्थके स्पर्शको प्राप्तकरके ज्ञानकरानेवाली।

ओसवालवंशोत्पत्तिपत्रम्.

सम्वत् १९४६ की सालमें कृष्णगढ नगरमें श्रीमान् महाराजाधिराज श्री शार्दूलसिंहजी वालीय रियासत की राजसभामें ओसवालोंकी उत्पत्ति पर कई तरहके विचार चलने पर श्रीमानके हुक्मसे पूज्यश्री १०८ युत न्यायांभोनिधि तपगच्छाचार्य श्रीमद्विजयानंदजी (आत्मारामजी) महाराजसे कि जो उस वक्त जोधपुर चातुर्मास रहे हुए थे, विनयपूर्वक दरयाफ्त किया गया तो आषाढ सुदि ९ सम्वत् १९४६ के पत्रके साथ आचार्य महाराजने कृपाकरके ओसवालोंकी उत्पत्तिका हाल लिखा जिससे उस वक्त श्रीदरबार कृष्णगढमें मालूम करके जो जो शकूक ओसवालोंकी उत्पत्तिके पैदा होते थे उनको निवारण किये उसीको इस ग्रन्थके साथ इस वास्ते लगाया जाता है कि उसकी उत्पत्तिका वृत्तांत भी इसके साथ हमेशाके वास्ते लगा रहे तो पाठक गणोंको उपयोगी हो—

गुरुमहाराजके पत्रमें इस मुवाफिक लेख है:—

ओसवाल लोगोंकी उत्पत्ति नीचे मुजब संक्षेपसे लिखते हैं सो समझलेना—

१. श्री भिन्नमाल नगरका राजा श्रीपुंज था उसके दो मंत्री हुए:—(१) सा. उहड. (२) सा. उधरन. इन दोनों मंत्रियोंको श्रीविक्रमादित्यसे ४०० (चारसो) वर्ष पहले श्रीरत्नप्रभसूरिजीने प्रतिबोध करके इनके वंशमें से अठारह (१८) गोत्र ओसवालोंके स्थापन किये उनका नाम नीचे मुजब है—

(१) तातहड गोत्र
(२) बाफणा गोत्र
(३) कर्णाट गोत्र
(४) वलहरा गोत्र
(५) मोराक्ष गोत्र
(६) कुलहट गोत्र
(७) बिरहट गोत्र
(८) श्रीश्रीमाल गोत्र
(९) श्रेष्ठि गोत्र
(१०) सुचेंती गोत्र
(११) आइचणांग गोत्र
(१२) भूरि गोत्र (भटेवरा)
(१३) भाद्र गोत्र
(१४) चींवट गोत्र
(१५) कुंभट गोत्र
(१६) डिंडू गोत्र
(१७) कनोज गोत्र
(१८) लघुश्रेष्ठि गोत्र

२. लखीजंगल नगरमें रत्नप्रभसूरीजीने दस हजार (१०,०००) घर रजपूतोंके प्रतिबोध करके जैनी किए और उनको ओसवाल पदपर स्थापन किए उनके सुघयादि अनेक गोत्र स्थापन किए—

३. श्रीविक्रमादित्य सम्वत् ५७८ (पांचसो अठहतर) में श्रीरत्नपुर नगरका वासी जातिका चोहान रजपूत तिसकी २४ (चोवीस) खांपें नीचे मुजब हैं—

(१) हाडा	(२) देवडा	(३) सोनगरा
(४) मालमींचा	(५) कूदणेचा	(६) वेमा
(७) वालोत	(८) चींवा	(९) काच
(१०) खींचीं	(११) विहल	(१२) सेंभटा
(१३) मेलवाल	(१४) वालींचा	(१५) माल्हण
(१६) पावेचा	(१७) कांवलेचा	(१८) रापडीया
(१९) पुदणेच	(२०) नाहरा	(२१) ईश्वरा
(२२) राकसीया	(२३) वाघेटा	(२४) साचोरा

इन चोवीस खांपोंको प्रतिवोध करके ओसवाल स्थापन किये उनकी ९ (नव) शाखा हुई वह नीचे मुजब हैं—

(१) रत्नपुरा	(२) वालाही	(३) कटारिया
(४) कोरेचा	(५) सापडद्दा	(६) सामरिया
(७) नराणगोत्रा	(८) भलाणीया	(९) रामसेण्या

४. विक्रम सम्वत् ७०१ (सातसो एक) में श्रीरविप्रभसूरीजीने लखोटीया महेश्वरी लाखणसीको प्रतिवोध करके तिसके पुत्रके नामसे ओसवाल वंश और लोटा गोत्र स्थापन किया—

५. विक्रम सम्वत् ७३२ (सातसो वत्तीस) में जैनाचार्यने अजमेरके राजा चावा नामक, चोहानगोत्रका को प्रतिवोध करके तिसके पुत्रके नामसे ओसवाल वंश और लोढा गोत्र स्थापन किया—

६. विक्रम सम्वत् ७-२ (सातसोवत्तीस) में जैनाचार्यने जातिके चोहान रजपूतोंको प्रतिवोध करके ओसवाल वंश और वाफणा गोत्र स्थापन किया तिसकी तेवीस शाखा नीचे मुजब हैं:—

(१) जोटा	(२) पोरवाल	(३) भाभू
(४) सोनी	(५) मरोटी	(६) समूलीया
(७) धांधल	(८) दसोरा	(९) भूआता
(१०) नाहटा	(११) कलसेहीया.	(१२) वसाह
(१३) धतूरीया	(१४) साहलीया	(१५) सुंगरवाल

(१६) मकलवाल (१७) संभूआता (१८) नाहटसरा
(१९) कटेचा (२०) महाजनीया (२१) डुंगरेचा
(२२) हूडीया—

और तेवीसवीं एक शाखा पुस्तकमें नहीं होनेसे नहीं लिखी और. इन तेवीस में से चार (४) शाखा फिर निकली तिनके नाम.

(१) जांगडा (२) मगदीया. (३) कुटेवा. (४) कुचेलीया—

७. विक्रम सम्वत् १०२६ (एक हजार छवीस) में श्रीवर्धमान सूरीजीने सोनीगरा चोहानको प्रतिबोध करके तिसका संचेती गोत्र स्थापन किया—

८. विक्रम सम्वत् १०९१ (एक हजार इकाणवें) में श्रीलोद्रवापुर पट्टण में यादवकुलके भाटी गोत्रका सागर नामा रावल राज करताथा. उसके दो पुत्र-एक श्रीधर, और दूसरे राजधरथे इन दोनोंको प्रतिबोध करके श्री जिनेश्वर सूरीजीने ओसवाल वंश और भणशाली गोत्र स्थापन किया—

९. विक्रम सम्वत् १११२ (एक हजार एकसो बारा) में मंडोके राजा धवलचन्दको श्री जिनवल्लभसूरीजीने प्रतिबोध करके ओसवाल वंश और कुकुड-चोपडा गोत्र स्थापन किया.

१०. विक्रम सम्वत् १११७ (एक हजार एकसो सतरा) में सोनीगरा नगरका राजा जातिकां चोहान सगर नामा था तिसके बेटे बोहिछकुमारको जिनदत्तसूरीजीने प्रतिबोध करके ओसवाल वंश और बोहिछरा गोत्र स्थापन किया

११. विक्रम सम्वत् १११७ (एक हजार एकसो सतरा) में जातिके राठोड रजपूत तिनको श्री जिनदत्तसूरीजीने प्रतिबोध करके ओसवाल वंश और अठारह गोत्र स्थापन किये तिनके नाम यह हैं.

१	सांनुसुखा.	२	पेतिसा.	३	पारख
४	चोरवेडीया.	५	बुचाँ	६	चम्म
७	नावरीया	८	गद्दहीया	९	फाकरीया
१०	कुंभटीया	११	सीयाल	१२	सचोवा
१३	सांहिल	१४	घंटेलीया	१५	काकडा
१६	सींघडा	१७	संखवालेचा	१८	कुरकुचीया.

नोट. इन ऊपर के लिखे हुए गोत्रोंको गोलवछ गोत्रके भेद समझना—

१२. विक्रम सम्वत् ११९२ (एक हजार एकसो बाणवें) में मुलतान नगरके वासी धींगडमल्ल महेश्वरी बाणियांके पुत्र लुनाको श्री जिनदत्तसूरीजीने प्रतिबोध करके ओसवाल वंश और लुनीया गोत्र स्थापन किया

१३. विक्रम सम्वत् १३१४ (एक हजार तीनसो चवदह) में श्रीसिंधका राजा गोसलनामा जातिका भाटी तिसके परिवारके १५०० (पंदरहसो) घरोंको श्रीजिनचंद्रसूरीजीने प्रतिबोध करके ओसवाल वंश और आघरिया गोत्र स्थापन किया.

१४. जातिका देवडा चोहान जालोरका राजा सामंतसिंहके १२ (बारह) बेटोंमेंसे छोटे पुत्र बछाके नामसे ओसवाल वंश और बछावत गोत्र स्थापन किया

१५. सपादलक्षदेश और कुंभारीनगरीका यादववंशी उरधर नाम राजाको श्रीपद्मप्रभसूरीजीने प्रतिबोध करके ओसवालवंश और जमिया गोत्र स्थापन किया.

१६. पीपाट नगरका गहलोधवंशी कर्मसिंहराजाको श्रीजयशेखर सूरीजीने प्रतिबोध करके ओसवालवंश और पीपामा गोत्र स्थापन किया—

इत्यादिक अनेक गोत्रके भेदसे ओसवालोंकी उत्पत्ति समझनी और विशेष- लिखनेका यह है कि फक्त रजपूत और महेश्वरी वाणिया और ब्राह्मणसे अर्थात् इन तीन ही जातिसे ओसवाल बने हैं और लोक नीच जातिसे ओसवाल बने ऐसा कहते हैं सो झूंट है—

और इसमें बलाई गोत्र और चंडालिया गोत्र और बंभी गोत्र इत्यादिक गोत्रके भेद हैं सो कोई नीच जातिसे इनका नाम नहीं पडा है केवल इन लोकों का इन नीच जातियों के साथ बेपार (रोजगार) करने करके लोगोंने वैसा वैसा नाम देदिया है.

और इन तीनों ही वर्णमेंसे एक श्रीजिनदत्तसूरीजीने ही सवालक्ष घर ओसवाल पदमें स्थापन किये हैं—

और आचार्य महाराजका सामान्य विचार ऊपर लिखकर जनाया है—

नकल चिठ्ठीकी—

श्रीकिशनगढ महाशुभस्थाने श्रावक पुण्यप्रभावक सागरचंद लखमीचंद तथा गुलाबचंद लाभचंद योग्य जोधपुरसे बडे. महाराज श्रीपुज्याचार्य श्रीमदानंद सूरिजी महाराज की तरफसे धर्मलाभ वांचसो और यहां सब मुनि महाराज सुख सातामें वर्ते हैं. आपका पत्र आया बांचके बहोत ही आनंद हुआ है. विशेष लखवानुं आपने मंगाया प्रश्न शास्त्रको तपास कर तिसका थोडासा तरजुमा अर्थात् नकल दाखल भेजा है शुभ मिती सम्वत् १९४५ आषाढ सुदि ९—लि. मुनि अमरविजयका धर्मलाभ वांचसो—

जेसलमेरके वाफणाओंके संघका वर्णन

तीर्थयात्राके निमित्त निकलनेवाले संघोंमेंसे एक बडा भारी अन्तिम संघ सम्वत् १८९१ में मारवाडके जेसलमेर नगरमें रहनेवाले पटवा नामसे प्रसिद्ध–बाफणा–कुटुंबवाले ओसवालोंने निकाला था । इस संघका वर्णन, उसी कुटुंबका बनाया हुआ, जेसलमेरके पास अमरसागर नामक स्थानमें जो जैन मंदिर है उसमें एक शिला पर उसी समयका लिखा हुआ है । यह शिलालेख मारवाडी भाषामें और देवनागरी लिपिमें लिखा गया है। नीचे इस लेखकी ज्यों कि त्यों नकल दी जाती है । इस लेख की एक कापी प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी महाराजके शास्त्रसंग्रहमेंसे मिली है; जो उन्होंने किसी मारवाडी लहियेके पास लिखवाई है और दूसरी नकल, वडौदाके राजकीय पुस्तकालयके संस्कृत विभागके सद्गत अध्यक्ष श्रीयुत चिमनलाल डाह्याभाई दलाल एम्. ए. ने जेसलमेरके किसी यतिके पाससे लिख मंगवाई थी । वह मुनिराज श्री जिनविजयजीने जैन साहित्य संशोधक के भाग १ अंक २ मेंप्रगट की है.

॥ ओं नमः ॥

। दूहा ।

रिषभादिक चउवीस जिन पुण्डरीक गणधार ।
मन वच काया एक कर प्रणमु वारंवार ॥ १
विघन हरण संपतिकरण श्रीजिनदत्तसुरिंद ।
कुशल करण कुशलेश गुरु वन्दु खरतर इंद ॥ २
जाके नाम प्रभावतै प्रगटे जंय २ कार ।
सानिधकारी परम गुरु सदा रहो निराधार ॥ ३

संम्वत् १८९१ रा. मिति आषाढ सुदि ५ दिने श्रीजेसलमेरु नगरे महाराजाधिराज महारावलजी श्री १०८ श्रीगजसिंघजी राणावत श्रीरूपजी वापजी विजयराज्ये बृहत्खरतर भट्टारकगच्छे जंगमयुगप्रधान भट्टारक श्रीजिनहर्षसूरिभिः पट्टप्रभाकर जं । यु । भ । श्री १०८ श्री जिनमहेन्द्रसूरि उपदेशात् श्रीवाफणागोत्रे देवराजजी तत्पुत्र गुमानचंदजी—भार्या जेतां । तत्पुत्र ५—(१) बहादरमल्लजी—भार्या चतुरां । (२) सवाईरामजी–भार्या जीवां । (३) मगनीरामजी—भार्या परतापां । (४) जोरावरमल्लजी—भार्या चोथां । (५) प्रतापचंदजी—भार्या मानां । एवं बहादरमल्लजी तत्पुत्र (१) दानमल्लजी (२)

सवाईरामजी तत्पुत्र सामसिंघ. माणकचंद । सामसिंहपुत्र रतनलाल । (३) मगनीरामजी तत्पुत्र बभूतसिंघजी । तत्पुत्र २ पूनमचंद दीपचंद । (४) जोरावरमलजी तत्पुत्र २ सुरतानमल चंनणमल । सुरतानमल त्र २ गंभीरचंद्र । इंद्रचंद्र । (५) प्रतापचंदजी पुत्र ३ हिमतराम--जेठमल--नथमल । हिमतरामपुत्र जीवण । जेठमल पूत्र मूलो । गुमानचंदजी पुत्र्यां २ छबू-बीजू सवाई रामजी पुत्र्यां ३ सिरदारी--सिणगारी--नांनुडी । मगनीरामजी तत्पुत्र्यां २ हरकवर— हस्तू । सपरिवार सहितेन सिद्धाचलजीरो संघ काढ्यो । जिणरी विगत—

जेशलमेर उदेपुर कोटेसुं कुंकुमपत्र्यां सर्व देसावरांमे दीनी । च्यार २ जमण कीया नालेर दीयां पछे संघ पाली भेलो हुवो । उठे जीमण ४ कीया । संघतिलक करायो । मिति महासुदि १३ दिने भ । श्रीजिनमहेन्द्रसूरिजी श्रीचतुर्विघसंघसमक्षे दीयो । पछे संघ प्रयाण कीयो । मार्गमें देशना सुणतां पूजा पडिकमणादि करतां साते क्षेत्रांमें द्रव्य लगावतां जायगा २ सामेला होतां रथजात्रा प्रमुख महोच्छव करतां । श्रीपंचतीर्थीजी बांभणवाडजी आबूजी जीरावलेजी तारंगेजी संखेश्वरजी पंचासरजी गिरनारजी तथा मारगमाहे सहरांरा गामांरा सर्व देहरा जुहारया । इणभांत सर्व ठिकाणे मंदिर २ दीठ चढापो कीयो । मुगट कुंडल हार कंठी भुजबंध कडा श्रीफल नगदी चंद्रवा पुठीया इत्यादिक मोटा तीर्थमाथे चढापो घणो हुवो । गहणो सर्व जडाउ हो सर्व ठिकांणे लांहण जीमण कीया सहसावनरा पगथीया० कराया । उठेसु सात कोप ठेरे—गामसुं श्रीसिद्धगिरिजी मोत्यांसुं वधायनें पालीताणें बडा हगामसुं गाजावाजतां तलेटीरो मंदिर जुहार डेरां दाखल हुवा । दुजे दिन मिति वेशाख सुदी १४ दिने शांतिकपुष्टिक हुतां श्रीसिद्धागिरीजी पर्वतपर चढया, श्रीमुलनायक चोमुखोजी खरतरवशीरा त्था दुजी वश्यां सर्व जुहारी मास सवा रया । उठे चढापो घणो हुवो । अढाइ लाख जात्री भेला हुवा । पुरब,मारवाड,मेवाड गुजरात, ढुंढाड, हाडोती, कछभुज, मालवो, दक्षण, सिंध, पंजाब प्रमुख देशांरा । उठे लांण रू० १ सेर १ मिश्री घर दीठ दीवी जीमण ५ संघव्यां मोटा कीया जीमण १ बाई बीजु कीयो और जीमण पण घणा हुआ । श्रीचोमुखाजीरे बारणें आलामे गोमुख यक्ष चक्रेश्वरीरी प्रतिष्ठा करायनें पधराइ चोमुखाजरो सिखर सुधरायो एक नवो मंदिर करावण वास्ते नींव भराई । जुना मंदिरांरा जीर्णोद्धार कराया जन्म सफल कीयो । गुरुभक्ति इंण मुजब कीवी । इग्यारे श्रीपूज्यजी था २१०० साधु साध्वी प्रमुख चौरासी गछांरा । तिहां, प्रथम स्वगछरा श्रीपूज्यजरी भक्ति साचवी ।

हजार ५ रो नगद माल दीयो दूजो खरच भर दीयो पछे अनुक्रमें सारा दुजा श्रीपुजांरी साधु सांध्वीयांरी भक्ति साचवी । आहार पाणी गाडीयांरो भाडो तंवु चीवरो ठांणें दीठ रू ४१ दीया 'नगद । दुशाला वालांनें दुशाला दीया । सेवग ५०० हा । जिणोंनं जणें दीठ रू० २१ दीया । रोटी खरच अलग । पहेरणारा मोजा ओपध खरची सारूं रूपीया चाहीज्या जिणोंनें दीया । पछे । भ । श्रीजिनमहेन्द्रसूरिजी पासे सिंघव्यां ३१ संघमाला पहरी जिणमें माला २ गुमास्ते सालगराम महेश्वरीनें पहराइ । पछे वडा आडंवरसुं तलेटीरो मंदिर जुहार डेरां दाखिल हुवा । जाचकाने दान दींनो । पछे जीमण १ कीयो । साध-र्म्यानें सिरपाव दीया । राजा डेरे आयो । जिणनें हाथी सिरपावमें दीयो दुजा मार्गमें राजवी नवाव प्रमुख आया डेरे, जिणांनें, राजमुजव सिरपाव दीया । श्रीमुलनायकजीरे भंडाररे ताला ३ गुजरातीयांरा था सो चौथो तालो संघव्यां आपरो दीयो । सदावर्त सरू हेईज । ईसा २ मोटा काम कर्‍या पछे संघ कुशल क्षेमसुं अनुक्रमें राधणपुर आयो । जठे अंगरेज श्रीगोडीजीरा दर्शण करणनें आयो-उठे पाणीं नहीं थो सो गेबाउ नदी नींसरी । श्रीगोडीजीनें हाथीरे होदे विराज-मान कर संघनें दरशण दिन ७ इकलग करायो चढापेरा साढा तीन लाख रूपीया आया संवा महीनो रया, जीमण घणा हुवा । श्रीगोडीजीरे विराजणने वडो चोतडो पक्को करोयो ऊपर छतरी वणाई । घणो द्रव्य खर्च्यो बडो जश आयो अक्षत नाम कीयो । साथे गुमास्तो महेश्वरी शालगरांम हो जिणनें जैनरा शिवरा सर्व तीर्थ कराया । पछे अनुंक्रमें संघ पाली आयो । जीमण १ करनें दानमलजी कोटे गया पछे भाइ ४ जेसलमेर आया । डेरा दरवाजे वाहर कीया पछे सामेला बडा ठाठसुं हुवो । श्रीरावलजी सांमा पधार्‍या । हाथीरे होदे, संघव्यानें श्री-रावलजी आपरे पुठे बेषाणनें सारा शहिरमें हुय· देहरा जुहार ऊपाश्रये आय हवेल्यां दाखल हुवा । पछे सर्व महेश्वरी वगैरे छत्तीस पांनने लुगायां समेत पांच पकवानसुं जीमाया । ब्राह्मणाने जणे दीठ रू० १ दक्षणारो दीयो पछे श्रीराउ-लजी जनांनें सहित संघव्यांरे हवेली पधार्‍या । रूपीयांसं चोतरो कीयो । सिर-पेच कंठी मोत्यांकी कडा जडाउ दुशालां नगदी हाथी घोडा पालखी निजर कीया । पाछा श्रीरावलजी इण मुजब हीज शिरपाव दीयो । एक **लोद्रओजी** गाम तांवापत्रा पट्टे दीयो इतो इजारो कीयो । आगे पिण इणांरी हवेली—उदे-पूर रांणाजी, कोटेरा महारावजी, बीकानेरेरा किपनगढरा बुंदीरा राजाजी, इन्दो-ररा हुलकरजी प्रमुख सर्व देशांरा राजवी जनांनें समेत इणारे घरे पधार्‍या देणो

लेणो हजारांरो कीयो । दिल्लिरे पातसाहरी अंगरेजारे पातसाहरी दीयोडी सेठ पदवी हे सो विक्षातही ज हे । पछे संघरी लाहण न्यातमें दीवी पुतली १ सोनेकी वाली १ मीश्री सेर १ घर दीठ दवीं । जीमण कीया पछे सेरमें ठावा-ठावांनें सीरपाव दीया । गढमांहेलां मंदिरां लोद्रवे ऊपाश्रये वडो चढापो कीया इण मुजवही ज उदयपूर कोटे देणो लेणो कीयो । संघमें देहरासररो रथ हो जणरा इक्कावन सो लागा । ऩगडा सोनें रूपेरा २ जिणारा दश हजार लागो मंदिरा सोने रूपेरी वासणांरा १५ हजार लागा । दुजा फुटकर सराजांमरा लाख १ रू० लागा ।

हवे संघमें जावतो हो जिनरी वीगत—तोफां ४, पलटनरा लोग ४०००, अशवार १५००, नगारे नीसाण समेत । उदेपूर राणाजीरा असवारा ५०० नगारे निसाणे समेत कोटेरा महारावजीरा अशवार २०० नगारे नासाणि समेत । जोधपूररे राजाजीरा, असवार ५० नगारे नीसाण समेत । पायदल १०० जेसलमेररा रावलजीरा, असवार २०० टुंकरे नवावरा, असवार ४०० फुटकर असवार २०० घरू ओर अंगरेजी जावतो, चपडासी तिलंगा सोनेरी रूपेरी घोटेवाला जायगा २ परवानां वोलावा एवं पालख्या ७ हाथी ४ म्याना ५१ रथ १०० गाडयां ४००, उंठ १५००, इतराती संघव्यांरा घरु । संघरी, गाडयां उंठ प्रमुख न्यारा, सर्व खरचरा, २३०००००; तेवीसलाख रू० लागा ॥

इति संघरी संक्षेप प्रशस्ती लिखी ।

ओर—पण ठकाणे २ धर्मरा काम कऱ्या सो संक्षेप लिखीये छे—श्री धुलेवेजीरे वारणें नोवत खांनो करायो गहणो चढायो, लाख १ लागा । मक्षीजीरे मंदिररो जीर्णोद्धार करायो । उदेपुरमें मंदिर, दादासाहिवरी छतरी, धर्मशाला कराइ । कोटेमें मंदिर धर्मशाला दादासाहिवरी छतरी कराइ । जेसलमेरमें अमर-सागरमें वाग करायो जिणमें मंदिर करायो जयवंतोरो उपाश्रय करायो लोद्रवेमें धर्मशाला कराइ, गढमाथे जमी मंदिरके लिये लीवी वीकानेरमें दादासाहिवरी छतरी कराइ इत्यादिक ठीकाणें २ धर्मरा आहीठाण कराया श्रीपुज्यजीरा चोमासा जायगा २ कराया पुस्तकांरा भंडार कराया भगवतिजी प्रमुख सुण्या प्रश्न दीठ २ मोती धऱ्या । कोटामें दोय लाख रूप्यादेकर वंदीखानो छोडायो वीज पांचम आठम इग्यारस चउदशरा उजमणा कीना इत्यादिक काम धरमरा कीया ओर कर रयाहे । इत्यलम् ॥

सवइयो ३१ सो—

ओसवंश जे साखमें बाफणा गुमानचंद ताके सुत पांच पांडव समान है।
संपदामें अचल बुद्धिमें प्रबल रावराणाही मानें जाकी कान है।
देवगुरु धर्मरागी पुन्यवंत बडभागी जगत सहु बात मानें प्रमान है।
देशहु विदेशमांह कीरत प्रकाश कीयो सेठ सठ हेठ कवि कर्त बखानहै ॥ १ ॥

दुहा—

अठारसे छन्नुंवे जेठमास सुदि दोय।
लेख लिख्यो अति चंपसुं भविषण वांचो जोय ॥ १ ॥
सकल सुरि शिर मुगटमणि श्रीजिनमहेंद्रसुरिंद।
चरणकमल तिनके सदा सेवे निदिदण वृंद ॥ २ ॥
कीनो आग्रहपकी जेसलमेरु चोमास।
संघ सहु भक्ति करे चडते चित्त उल्लास ॥ ३ ॥
ताकी आज्ञा पाय करि धरि दिलमें आणंद।
ज्युं थी त्युं रचना रची मुनि केसरीचंद ॥ ४ ॥
भुलो जो परमादमें अक्षर घटही भाव।
लिखत खोट आइ हुवे, सो खमीयो अपराध ॥ ५ ॥

॥ इति प्रशस्ति सम्पूर्णम् ॥

इस संघके निकालनेवालेके वंशज आज भी मौजूद हैं और मालवाके रतलाम वगैरह शहरोंमें उनकी बडी बडी दुकानें चलती हैं। इस संघके जैसा बडा संघ, इसके बाद जैन समाजमेंसे फिर कोई नहीं निकला और शायद अब कोई निकाले वैसी आशा भी नहीं है।

इस कुटुंबने संवत् १९२८ में, जेसलमेरमें जो एक बडा भारी प्रतिष्ठामहोत्सव किया था उसका लेख भी उपर्युक्त लेखवाले मंदीरमें लगा हुआ है। यह लेख कुछ संस्कृत और कुछ मारवाडी भाषामें हैं। संग्रहकी दृष्टिसे इस लेखको भी यहांपर प्रकट कर दिया जाता है।

"स्वस्ति श्रीविक्रमादित्यराज्यात् सम्वत् १९२८ शालीवाहनकृत शके १७९३ प्रवर्तमाने मासोत्तममासे धवलपक्षे त्रयोदश्यां तिथौ गुरुवासरे महाराजाधिराज महारावलजी श्री श्री १००८ श्री वैरीशालजी विजयराज्ये श्रीजेसलमेरुवास्तव्य ओसवंशे बाफना गोत्रीय संघवी सेठ गुमानचंदजी तत्पुत्र प्रतापचंदजी तत्पुत्र हिंमतरामजी जेठमलजी नथमलजी सागरमलजी उमेद-

सलजी तत्परिवार मूलचंद सगतमल केसरीमल रिषभदास मांगीदास भगवानदास भीखचंद चिंतामणदास लुणकिरण मनालाल कनैयालाल सपरिवारयुतेन आत्मपरकल्याणार्थे श्रीसम्यक्त्वोद्दीपनार्थे च श्री जेसलमेरुनगरसत्क अमरसागरसमीपवर्तिनि समीचिनाऽऽरामस्थाने श्रीरिषिभदेवजिनमंदिरं नवीनं कारापितं तत्र श्रीआदिनाथबिंबं प्राचीन बृहत्खरतरगणनाथेन प्रतिष्ठितं तत् श्रीजिनमहेन्द्रसुरि पदपंकजसेविना बृहत्खरतरगणाधीश्वरेण चतुर्विधसंघसहितेन श्रीजिनमुक्तसुरिणां विधिपूर्वमहता महोत्सवेन शोभनलग्ने श्रीमूलनायकचैत्ये स्थापितं । पुनः अनेक बिंबानामंजनशिलाका कारिता । पुनर्द्वितीयभुमिप्रासादे स्वप्रतिष्ठित श्री पार्श्वनाथबिंब मुलनायकस्थापितं पुनर्वीश विरहमान प्रतिष्ठा कृतं मंदिरस्य दक्षिणपार्श्वे दादासाहिब कुशलसूरि गुरुमूर्ति स्थापनकृता । तथाच जिनदत्तसूरि कुशलसूरि चरणपादुका पुनरपि श्रीजिनहर्षसूरि महेन्द्रसूरि चरणपादुका स्थापिता ।

भाई सवाईरामजीके वरका आया । रतलामसुं चि० सोभागमल चांदमल सौभाग्यमलकी माजी वगेरे आया । उदेपुरसुं चि० सिरदारमल तथा इणांरी माजी वगेरे आया । ओर पण घणे देशावरांसु संघ आयो । स्वामीवच्छल प्रमुखकरी ३ श्रीसंघकी भक्ति करी । त्या पांच शिष्याने श्रीपूज्यजी महाराजके हांथसें दीक्षा देराइ । दिन १५ तक वडो ठाठ उछव नित्य नवीन पूजा प्रभावना हुइ । श्रीदरबार साहिब पधान्या तोफांका फेर हुवा । सेठांके पगसें सोनो वगसीयो । फेर श्रीसंघसमेंत जेसलमेर आया उजमणा प्रमुख कीना । श्रीपूज्यजी महाराजकी पधरावणी २ कीनी जिणमें हजारा रुपीयांको माल असबाब भेट कीनो । उपाध्याय वगेरे ठावा ठावा ठाणानें रोकडा शालजोडी इत्यादि यथायोग्य दीना । उपाध्याय साहिबचंदजी गणि । पं. । प्र. । भेरजी गणि पं. प्र. अमरचंदजी गणि प्रमुख ठाणा ४१ था । ठाणें दीठ रू. १० दश रोकडा थांन प्रत्येके दीना । परगच्छीय यतियांको सतकार अछीतरे कीनो । श्रीसरकारकी पधरामणी कीनी । घोडा लवाजमो नजर कीनो । मुत्सद्दी वगेरे सर्वनें यथायोग्य शिरोपाव दीना ॥

श्रीजिनभद्रसूरि शाखायां पं. प्र. श्रीसयाचंदजी गणि तत्शिष्य पं. सरूपचंदजी मुनि जेसलमेरु आदेशिना इयं प्रशस्ति रचिता ।

शिलावट विरामके हाथसुं श्रीमंदिरजी वणिया जिणके परिवारने सोनेकी कंठियां तथा कडीकी जोडियां मंदील डुपटा थांन वगेरे शिरपाव दीना ॥

श्रीमंदिरके मूल गुंभारेमें असिपासे दक्षणकी तर्फ परतापचंदजीकी खडी मूर्ति छे। उत्तरकी परतापचंदजीकी भार्याकी खडी मूरती छे। निजमंदिरके सामनें पूर्वकी तर्फ पश्चिममुखी चोतरो कराय जिण ऊपर परताचन्दजीकी त्या भार्या-सहित सपरिवार सहीतकी मुरतीयां स्थापित किनी।

सम्वत् १९४५ मिति मार्गसिर सुदी २ वार बुध। दशकत सगतमल जेठ-मलांणी वाफनाका। शुभं।

अष्टकर्म वन दाहके भये सिद्धजिनचंद।
ता सम जो अप्पा गिणे ताकुं वंदे चंद॥
कर्मरोग ओषधसमी ग्यानसुधारस वृष्टि।
शिवसुख अमृत वेलडी जय जय सम्यक्दृष्टि॥
एहीज सद्गुरु सीख छे एहीज शिवपुर माग।
लेजो निज ग्यानादि गुण करजो परगुण भाग॥
भेद ग्यान श्रवण भयो समरस निरमलनीर।
अन्तर धोवी आतमा धोवे निजगुण चीर॥
कर दुःख अंगुरी नेनदुःख तन दुःख सहज समान।
लिख्यो जात है कठणतुं शठ मानत आशान॥

॥ इत्यलम्॥

ऐतिहासिक दृष्टि.

१ श्री तीर्थ केशरियाजी जब ध्वजादण्ड जीर्ण हो जाता है तब श्वेताम्बर जैनिओं की तरफसे ही श्वेताम्बर विधिके अनुसार नया दण्ड चढाया जाता हैं। इस तरह सं. १६१५ में फिर सम्वत् १७४१ में और उसके बाद सं. १८८९ में श्वेताम्बरिओं की ओरसे नया ध्वजादण्ड चढाया गया था। इस प्रकारके प्रमाण मिलते हैं। अन्तिम ध्वजादण्ड सं. १८८९ में इन्दौरदीवानके पूर्वज वाफणासाहेब जोरावर मलजीके पूत्र सुलतानचन्दजीने मार्गशीर्ष शु. १० के रोज चढाया था। इस प्रकार का उल्लेख इस वख्त भी जीर्ण होनेसे निकाल डाले हुए ध्वजदण्ड पर मौजूद है॥